जैन दर्शन और संस्कृति

[अजमेर विश्वविद्यालय द्वारा बी॰ ए॰ के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत
जीवन विज्ञान और जैन विद्या विषय के लिए स्वीकृत]

निदेशन
आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती संस्थान
(डीम्ड यूनिवर्सिटी)
तुलसीग्राम, लाडनूं-३४१३०६ (राजस्थान)

सम्बोध

"जैन विद्या" भारत की प्राचीनतम विद्या-शाखाओ मे से एक प्रतिष्ठित विद्या-शाखा है। किसी भी विद्या-शाखा का सबध सप्रदाय से नही होता। विद्या सदा सप्रदायातीत होती है। पूजा-पाठ का सबध सम्प्रदाय विशेष से होता है। विद्या कोई पूजा-पाठ नही है। वह चिन्तन, मनन और अनुभव से निष्पन्न एक बोध-धारा है।

जैन विद्या ने नयवाद और अनेकातवाद का समन्वयकारी सूत्र दिया है। उससे दार्शनिक धाराओ के बीच दूरिया कम की जा सकती हैं, खाइया पाटी जा सकती है, तटस्थ दृष्टि से विचार-प्रवाह के आकलन का अवसर मिल सकता है। अजमेर विश्वविद्यालय के कुलपति तथा कुल-समिति ने जैन विद्या के विषय को विद्यार्थी के लिए सुलभ बनाकर एक आवश्यकता की सम्पूर्ति की है।

प्रस्तुत पुस्तक के सकलन और सम्पादन मे मुनि महेन्द्रकुमार और डॉ० भवरलाल जोशी ने काफी श्रम किया है, विद्यार्थी के लिए इसे सहज सुगम बनाने का यत्न किया है। मुझे विश्वास है इससे वि र्थ गत् लाभान्वित होगा। जीवन-विज्ञान और जैन विद्या इन दोनो का योग अ-यात्म और दर्शन का योग है। यह योग भौतिकता-प्रधान वातावरण मे एक नए प्राण के सचार जैसा होगा। भौतिकता और अध्यात्म तथा अध्यात्म और विज्ञान के प्रति एक सामजस्यपूर्ण दर्शन की आवश्यकता है। प्रस्तुत प्रयत्न से उसकी सम्पूर्ति हो सकेगी।

आचार्य तुलसी

दि० ११-७-६०
पाली (राजस्थान)

प्राक् कथन

सम्प्रदाय-निरपेक्षता (secularism) को सुरक्षित रखते हुए धर्म, दर्शन संस्कृति आदि की विभिन्न परम्पराओ का विशुद्ध शैक्षणिक पठन-पाठन purely academic studies) विश्वविद्यालोय पाठ्य-क्रम (syllabus) का अग बने, यह बहुत अपेक्षित है। यदि भारतीय विद्यार्थी भारतीय संस्कृति, भारतीय दर्शन, भारतीय धर्म-परम्परा, भारतीय साहित्य, भारतीय कला आदि के सैद्धातिक एव यथासभव प्रायोगिक बोध से वचित रहेगा, तो यह कैसे माना जा सकता है कि भावी पीढी भारत के गौरवशाली अतीत पर नाज करेगी या उसकी सामयिक प्रासगिकता या सगति (relevence) की मीमासा कर सकेगी ? सचमुच, शिक्षा के क्षेत्र मे उक्त विषय की सुविधा देना भारत के इतिहास को जानने के लिए ही नही अपितु नया इतिहास गढने के लिए एक साहसिक कदम है। इसके लिए अजमेर विश्वविद्यालय की शैक्षणिक परिषद् तथा उसके कुलपति डा० उपाध्याय शत-शत साधुवाद के पात्र हैं। विश्वविद्यालय के बी ए के पाठ्यक्रम मे "जैन-विद्या" और "जीवन-विज्ञान" के सक्षिप्त विषयो का समावेश कर विद्यार्थियो को जीवन-निर्माण के लिए एक अमूल्य अवसर प्रदान किया है।

प्रस्तुत पुस्तक उसी पाठ्यक्रम मे प्रथम वर्ष के द्वितीय पत्र के पाठ्य-क्रम के लिए निर्मित पाठ्यपुस्तक है। जैन दर्शन और संस्कृति के विशाल विषय को सक्षिप्त, सरल और रोचक रूप मे प्रस्तुत करने का एक विनम्र प्रयत्न इसमे किया गया है।

"जैन-दर्शन" भारतीय दर्शनो की विभिन्न धाराओ मे से एक महत्त्व-पूर्ण धारा है, जिसने प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान युग तक अपना अस्तित्व बनाये रखा है। यह उसकी प्राचीनता एव दीर्घजीविता का साक्ष्य है।

जैन-दर्शन के तत्त्व जहा आध्यात्मिक अनुभूति के आधार पर स्थित है, वहा उन्हें बुद्धिगम्य बनाने के लिए हेतुवाद तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को काम मे लिया गया है।

जैन-दर्शन के इतिहास को जानने के लिए भगवान ऋषभ से लेकर वर्तमान युग तक की लम्बी यात्रा तय करनी आवश्यक है। साथ ही विशाल जैन वाङ्मय का सिंहावलोकन अपेक्षित है, जो प्राकृत और संस्कृत भाषा मे तथा अनेक प्रादेशिक भाषाओ मे भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

जैन संस्कृति श्रमण-संस्कृति की सशक्त धारा है जिसने संयम, अहिंसा,

व्रत आदि से जन-जीवन को आप्लावित किया है, चित्रकला, शिल्पकला, स्थापत्यकला आदि से कला-जगत् को महिमा-मंडित किया है और व्यापक भौगोलिक प्रसार-क्षेत्र से जुड़कर विश्व के विस्तृत भूभाग को प्रभावित किया है।

प्रस्तुत पुस्तक युवाचार्य महाप्रज्ञ जैसे महान् दार्शनिक, जैन दर्शन एव सस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान् तथा जैन दर्शन के प्रायोगिक क्षेत्र के प्रथम पुरस्कर्ता के निदेशन मे उनकी महत्त्वपूर्ण कृति "जैन दर्शन मनन और मीमासा" के आधार पर तैयार की गई है। यह ध्यान रखा गया है कि पुस्तक मे प्रचुर रूप मे तुलनात्मक अध्ययन के लिए सामग्री दी जाये। वैदिक, बौद्ध, साख्य आदि अन्य भारतीय दर्शन और आधुनिक भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, जीव-विज्ञान आदि के परिप्रेक्ष्य मे प्रत्येक विषय की प्रस्तुति की गई है।

पुस्तक का समाकलन युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के मगल आशीर्वाद एव प्रेरक सम्बोध से ही सफलतापूर्वक हो सका है। इसके लिए हम उनके पावनचरणो मे श्रद्धावनत हैं। युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ का सशक्त निदेशन स्वय पुस्तक के कण-कण मे मुखर हो रहा है। उनके प्रति भावपूर्ण समर्पण अभिव्यक्त करते हुए हमे अन्तस्तोष उपलब्ध हो रहा है।

जैन दर्शन मनन और मीमासा के सम्पादक विद्वद्वर मुनिश्री दुलहराजजी के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं, जिनकी बदौलत हमारा श्रम काफी सरल हो गया है।

पुस्तक के समाकलन मे जैन विश्व भारती के प्राध्यापक गण का प्रेम-पूर्ण सहयोग मिला है जिनमे प० विश्वनाथ मिश्र, डॉ० परमेश्वर सोलकी, श्री रामस्वरूप सोनी, श्री बच्छराज दूगड आदि के प्रति धन्यवाद-ज्ञापन करते हुए हमे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

अजमेर के श्री मागीलाल जैन की सामयिक सलाहें पुस्तक को विद्यार्थी के लिए उपयुक्त बनाने मे कार्यकारी रही है। उनके प्रति हार्दिक आभार। हमे आशा है कि जैन दर्शन और सस्कृति के अध्ययन के लिए विद्यार्थी-वर्ग को यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

दिनाक ३० जुलाई, १९९०
लाडनू (राजस्थान)

मुनि महेन्द्र कुमार
भवरलाल जोशी

प्रकाशकीय

विश्वविद्यालयो मे स्नातकोत्तर (M A) कक्षाओ में "जैन दर्शन" का विषय अनेक वर्षों से मान्य रहा है, पर स्नातक (B A) कक्षाओ में इस विषय का पठन-पाठन दुर्लभ है। अजमेर विश्वविद्यालय द्वारा यह नया कदम जैन दर्शन अध्ययन के क्षेत्र को एक नया विस्तार देगा। जैन विश्व भारती और ब्राह्मी विद्यापीठ, लाडनू मे जैन विद्या के अध्ययन एव अनुसन्धान का व्यवस्थित क्रम वर्षों से चल रहा है, उसे इससे बल मिलेगा। हमारे लिए यह परम प्रसन्नता का विषय है कि "जैन दर्शन और सस्कृति" बी ए के छात्रो के हाथो तक पहुचा सके हैं।

प्रस्तुत पुस्तक मे तीन खण्ड हैं—

१ दर्शन

२ इतिहास

३ सस्कृति

प्रथम खण्ड की सामग्री मे जैन दर्शन के मौलिक एव तात्त्विक सिद्धातो का समावेश किया गया है, जो जैन दशन के प्राथमिक ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

द्वितीय खण्ड मे जैन इतिहास के प्रमुख घटना-प्रसग, चरित्र एव साहित्य की सक्षिप्त रूपरेखा कलात्मक रूप मे प्रस्तुत है।

तृतीय खण्ड मे जैन सस्कृति, जैन कला और जैन धर्म के प्रसार-क्षेत्र का सक्षिप्त विवरण की प्रस्तुति है।

प्रस्तुत कृति के प्रेरणा-स्रोत हैं—युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी, जिनके आशीर्वाद ने हमारे प्रति चरण के लिए पथ प्रशस्त किया है। श्रद्धेय युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ के निदेशन मे उनकी अनेक कृतियो के सदोहन से इस पुस्तक का निर्माण सभव हुआ है। इन महान् पथ-दर्शको के प्रति अनन्त श्रद्धाए समर्पित करते हैं।

समाकलको के रूप मे मुनि श्री महेन्द्र कुमार एव डॉ० भवरलाल जोशी का प्रखर परिश्रम इस पाठ्य-पुस्तक के प्रत्येक पाठ मे स्वय मुखर है। पारिभाषिक शब्द-कोष विद्यार्थी के लिए एक मार्गदर्शिका (guide) का कार्य करेगा। हम इनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता के भाव अभिव्यक्त कर रहे हैं।

पाण्डुलिपि-निर्माण से लेकर मुद्रित होने तक एक-एक अक्षर की छान-बीन का परिश्रम-साध्य कार्य मुनि श्री महेन्द्र कुमार ने किया है, जिसके लिए

उनके प्रति विशेष कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं ।

प्रूफ सशोधन के कार्य मे हमारे शोध विभाग के श्री रामस्वरूप सोनी, डॉ परमेश्वर सोलकी आदि का सक्रिय सहयोग रहा, इसके लिए हम उनके प्रति हार्दिक आभार अभिव्यक्त करते हैं ।

हम आशा करते हैं विश्वविद्यालय के छात्रो को प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक से नया आलोक और नई प्रेरणाए मिलेगी जो उनके जीवन-पथ को उजागर करने मे प्रमुख भूमिका निभाएगी ।

श्रीचन्द बैंगानी
कुलपति
जैन विश्व भारती,

लाडनू (राजस्थान)
अगस्त, १९९०

अनुक्रम

खण्ड

दर्शन

· १

दर्शन है सत्यं शिवं सुन्दरं की त्रिवेणी

यह ससार अनादि अनन्त है। इसमे सयोग-वियोगजन्य सुख-दुःख की अविरल धारा बह रही है। उसमे गोता मारते-मारते जब प्राणी थक जाता है, तब वह शाश्वत आनन्द की शोध मे निकलता है। वहा जो हेय और उपादेय की मीमासा होती है, वही दर्शन बन जाता है।

दर्शन की परिभाषा

दर्शन का अर्थ है—तत्त्व का साक्षात्कार या उपलब्धि। दर्शन की तीन विधिया सम्मत हैं—

(१) आलोचनात्मक ज्ञान के द्वारा प्रत्यय का अवधारण

(२) कार्य-कारण की मीमासा के द्वारा प्रत्यय का अवधारण

(३) अनुभव के आधार पर प्रत्यय का समाकलन और अन्तर्दृष्टि के द्वारा निष्कर्ष पर पहुचना।

वैदिक ऋषियो ने नदी, पर्वत, आकाश, वृक्ष आदि प्राकृतिक पदार्थों को देखा, एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, दर्शन की एक धारा विकसित हो गई।

"घट" एक कार्य है। व्यवहार नय (स्थूल सत्य) की दृष्टि से वह मिट्टी से बना है और निश्चय नय (सूक्ष्म सत्य या वास्तविक सत्य) की दृष्टि से वह परमाणु-समुदय से बना है। भगवान् महावीर ने वस्तु-जगत् को समझने के लिए कार्य-कारणात्मक दृष्टिकोण दिया, दर्शन की दूसरी धारा विकसित हो गई।

भगवान् बुद्ध ने मृत, रोगी और वृद्ध व्यक्ति को देखा, मन व्याकुल हो उठा, अनुभव की भूमिका पर गए और उन्होने दुःख का साक्षात्कार कर लिया। दर्शन की अनुभव-परक तीसरी धारा विकसित हुई।

दर्शन मे बुद्धिवाद और तर्कवाद का स्थान है, पर उसमे बुद्धि और तर्क का एकाधिपत्य नही है। उसमे अन्तर्दृष्टि और अनुभव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय दर्शन मूलत अध्यात्म-विद्या अथवा योगविद्या से जुडा हुआ है। पाश्चात्य दर्शन के साथ अध्यात्म-विद्या अथवा योग-विद्या की अनिवार्यता नही रही। चार्वाक दर्शन का उसमे विश्वास ही नही है। नैयायिक और वैशेषिक दर्शन मुख्यतया बुद्धि अथवा तर्क-विद्या-प्रधान है।

सब तत्त्वों मे सबसे प्रमुख तत्त्व आत्मा है। जो "आत्मा को जान लेता है, वह सबको जान लेता है।"

अस्तित्व की दृष्टि से सब तत्त्व समान हैं, किंतु मूल्य की दृष्टि से आत्मा सबसे अधिक मूल्यवान् तत्त्व है। मूल्य का निर्णय आत्मा पर ही निर्भर है। वस्तु का अस्तित्व स्वयजात होता है, किंतु उसका मूल्य चेतना से सम्बद्ध हुए बिना नही होता। 'गुलाब का फूल लाल है'—कोई जाने या न जाने, किन्तु 'गुलाब का फूल मन हरने वाला है'—यह बिना जाने नही होता। वह तब तक मनोहर नही, जब तक किसी आत्मा को वैसा न लगे। 'दूध सफेद है'—इसके लिए चेतना से सम्बन्ध होना आवश्यक नही, किंतु 'वह उपयोगी है'—यह मूल्य-विषयक निर्णय चेतना से सम्बन्ध स्थापित हुए बिना नही होता। तात्पर्य यह है कि मनोहारी, उपयोगी, प्रिय-अप्रिय आदि 'मूल्याकन' पर निर्भर है। आत्मा द्वारा अज्ञात वस्तु-वृत्त अस्तित्व के जगत् मे रहते हैं। उनका अस्तित्व-निर्णय और मूल्य-निर्णय—ये दोनो आत्मा द्वारा ज्ञात होने पर होते हैं। 'वस्तु का अस्तित्व है'—इसमे चेतना की कोई अपेक्षा नही, किंतु वस्तु जब ज्ञेय बनती है तब चेतना द्वारा उसके अस्तित्व का निर्णय होता है। यह चेतना के साथ वस्तु के सम्बन्ध की पहली कोटि है। दूसरी कोटि मे उसका मूल्याकन होता है तब वह हेय या उपादेय बनती है। उक्त विवेचन के अनुसार दर्शन के दो कार्य हैं

१ वस्तुवृत्त-विषयक निर्णय।

२ मूल्य-विषयक निर्णय।

ज्ञेय, हेय और उपादेय—इस त्रिपुटी से इसी तत्त्व का निर्देशन मिलता है। जैन दर्शन मे यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण माना जाता है। कारण यही है कि वस्तुवृत्त के निर्णय (प्रिय वस्तु के स्वीकार और अप्रिय वस्तु के अस्वीकार) मे वही क्षम है।

एक विचार आ रहा है—दर्शन को यदि उपयोगी बनना हो तो उसे वस्तु-वृत्तो को खोजने की अपेक्षा उनके प्रयोजन अथवा मूल्य को खोजना चाहिए।

भारतीय दर्शन इन दोनो शाखाओ को छूता रहा है। उसने जैसे अस्तित्व-विषयक समस्या पर विचार किया है, वैसे ही अस्तित्व से सबंध रखने वाली मूल्यो की समस्या पर भी विचार किया है। ज्ञेय, हेय और उपादेय का ज्ञान उसी का फल है।

मूल्य-निर्णय की दृष्टिया

मूल्य-निर्णय की तीन दृष्टिया हैं—

१ सैद्धांतिक (theoretical) या बौद्धिक (intellectual)

२ व्यावहारिक (pragmatic) या नैतिक (moral)

३ आध्यात्मिक (spiritual), धार्मिक (religious) या पारमार्थिक (transcendental)

इन तीन दृष्टियो से 'सत्य', 'शिव' और 'सुन्दर' का मूल्याकन किया जा सकता है।

वस्तुमात्र ज्ञेय है और अस्तित्व की दृष्टि से ज्ञेयमात्र सत्य है। पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा की अनुभूति ही सत्य है। शिव का अर्थ है—कल्याण। पारमार्थिक दृष्टि से आत्म-विकास शिव है।

व्यावहारिक दृष्टि से भौतिक (पौद्गलिक) साज-सज्जा सौन्दर्य है। सौन्दर्य की कल्पना दृश्य वस्तु मे होती है। दृश्य वस्तु रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन चार गुणो से युक्त होती है। ये वर्ण आदि चार गुण किसी वस्तु मे मनोज्ञ (मनपसद) रूप मे होते हैं, तो किसी मे अमनोज्ञ। इनके आधार पर वस्तु सुन्दर या असुन्दर मानी जाती है।

पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा ही सुन्दर है।

पारमार्थिक दृष्टि से सत्य, शिव और सुन्दर आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नही है। व्यावहारिक दृष्टि से एक व्यक्ति सुन्दर नही होता, किंतु आत्म विकास-प्राप्त होने के कारण यह शिव होता है। इसके विपरीत जो शिव नहीं होता, वह कदाचित् व्यावहारिक दृष्टि से सुन्दर हो सकता है।

मूल्य-निर्णय की उपर्युक्त तीनो दृष्टिया स्थूल नियम हैं। व्यापक दृष्टि से व्यक्तियो की जितनी अपेक्षाए होती हैं, उतनी ही मूल्याकन की दृष्टिया हैं। कहा भी है—

"न रम्य नाऽरम्य प्रकृतिगुणतो वस्तु किमपि,
प्रियत्वं वस्तूनां भवति च खलु ग्राहकवशात्।"

प्रियत्व और अप्रियत्व ग्राहक की इच्छा के अधीन हैं, वस्तु मे नही। निश्चय-दृष्टि से न कोई वस्तु इष्ट है और न कोई अनिष्ट।

"तानेवार्थान् द्विषत, तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य।
निश्चयतोऽस्यानिष्टं, न विद्यते किंचिदिष्टं वा।"

—एक व्यक्ति एक समय जिस वस्तु से द्वेष करता है, वही दूसरे समय उसी मे लीन हो जाता है, इसलिए इष्ट-अनिष्ट किसे माना जाए?

व्यवहार की दृष्टि मे भोग-विलास जीवन का मूल्य है। अध्यात्म की दृष्टि मे काम-भोग दु ख है।

सौन्दर्य-असौन्दर्य, अच्छाई-बुराई, प्रियता-अप्रियता, उपादेयता-हेयता आदि के निर्णय मे वस्तु की योग्यता निमित्त बनती है। वस्तु के शुभ-अशुभ परमाणु मन के परमाणुओ को प्रभावित करते हैं। जिस व्यक्ति के शारीरिक

व्यक्ति उस वस्तु के प्रति आकृष्ट हो जाता है। दोनो का वैषम्य हो तो आकर्षण नही बनता। यह साम्य और वैषम्य देश, काल और परिस्थिति आदि पर निर्भर है। एक देश, काल और परिस्थिति मे जिस व्यक्ति के लिए जो वस्तु हेय होती है, वही दूसरे देश, काल और परिस्थिति मे उपादेय बन जाती है। यह व्यावहारिक दृष्टि है।

मूल्य के प्रत्यक निर्णय म आत्मा की सतुष्टि या असतुष्टि अन्तर्निहित होती है। अशुद्ध दशा मे आत्मा का सतोष या असतोष भी अशुद्ध है। इसलिए इस दशा मे होने वाला मूल्याकन नितात बौद्धिक या नितात व्यावहारिक होता है। वह शिवत्व के अनुकूल नही होता। शिवत्व के साधन तीन हैं—सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र। यह श्रद्धा, ज्ञान और आचार की त्रिवेणी ही शिवत्व के अनुकूल है। यह आत्मा की परिक्रमा किये चलती है—

दर्शन आत्मा का निश्चय है।
ज्ञान आत्मा का बोध है।
चारित्र आत्मा मे स्थिति या रमण है।

यह आध्यात्मिक रत्नत्रयी है। इसी के आधार पर जैन दर्शन कहता है—आस्रव हेय है और सवर उपादेय।

यही तत्त्व आद्य शकराचाय (ब्रह्मसूत्र, शाकरभाष्य) मे मिलता है—"ब्रह्म की अवगति ही परमपुरुषार्थ है, क्योकि ब्रह्म-ज्ञान स सम्पूर्ण ससार के कारणभूत अविद्या आदि अनथ का नाश होता है। इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए।"

बौद्ध दर्शन के अनुसार दुःख हेय है और मार्ग उपादेय।

वेदात के अनुसार अविद्या हेय है और विद्या उपादेय। इसी प्रकार सभी दर्शन हेय और उपादेय की सूची लिये हुए चलते है।

हेय और उपादेय की जो अनुभूति है, वह दर्शन है। अगम्य को गम्य बनाने वाली विचार-पद्धति भी दर्शन है। इस परिभाषा के अनुसार महापुरुषो (आप्तजनो) की विचार-पद्धति भी दर्शन है। तत्त्व-उपलब्धि की दृष्टि से दर्शन एक है। विचार पद्धतियो की दृष्टि से वे (दर्शन) अनेक हैं।

इस विषय मे ऋग्वेद का यह सूक्त मननीय है—"एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।"

शिवत्व के साधन की अवधारणा मे कुछ दर्शनो के विचार निम्न प्रकार हैं—

साख्य दर्शन—प्रकृति और पुरुष का विवेक
वेदान्त दर्शन—विद्या
बौद्ध दर्शन—अष्टाग मार्ग

अष्टाग हैं—

(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् सकल्प (३) सम्यक् वचन (४) सम्यक् कर्म (५) सम्यक् आजीव (६) सम्यक् प्रधान (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि।

दर्शन की प्रणाली

दर्शन की प्रणाली युक्ति पर आधारित होती है। दर्शन तत्त्व (अस्तित्व अथवा द्रव्य और पर्याय) से सबध रखता है, इसीलिए उसे तत्त्व का विज्ञान (Metaphysics) कहना चाहिए। तत्त्व पर विचार करने के लिए युक्ति या तर्क का सहारा अपेक्षित होता है। दर्शन के क्षेत्र मे तार्किक प्रणाली के द्वारा पदार्थ, आत्मा, अनात्मा, गति, स्थिति, समय, अवकाश, पुद्गल, जीवन, मस्तिष्क, जगत्, ईश्वर आदि तथ्यो की व्याख्या, आलोचना, स्पष्टीकरण या परीक्षा की जाती है। इसीलिए एकागी दृष्टि से दर्शन की अनेक परिभाषाएं मिलती हैं

१ जीवन की बौद्धिक मीमासा दर्शन है।

२ जीवन की आलोचना दर्शन है।

इनमे पूर्णता नहीं, किन्तु अपूर्णता मे भी सत्याश अवश्य है।

आस्तिक दर्शन की भित्ति -आत्मवाद

अनेक व्यक्ति यह नही जानते कि 'मैं कहा से आया हू ? मेरा पुनर्जन्म होगा या नही ? मैं कौन हू ? यहा से फिर कहा जाऊगा ?"

इस जिज्ञासा मे दर्शन का जन्म होता है। धर्म-दर्शन की मूल भित्ति आत्मा है। यदि आत्मा है तो वह है, नही तो नही। यही से आत्म-तत्त्व आस्तिको का आत्मवाद बन जाता है। वाद की स्थापना के लिए दर्शन और उसकी सचाई के लिए धर्म का विस्तार होता है।

"अज्ञानी क्या करेगा जबकि उसे श्रेय और पाप का ज्ञान भी नहीं होता। इसलिए पहले सत्य को जानो और बाद मे उसे जीवन मे उतारो।'

भारतीय दार्शनिक पाश्चात्य दार्शनिक की तरह केवल सत्य का ज्ञान ही नही चाहता, वह चाहता है—मोक्ष। उपनिषद् के एक प्रसग मे मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है—"जिससे मैं अमृत नही बनती, उसे लेकर क्या करू ? जो अमृतत्त्व का साधन हो, वही मुझे बताओ।" जैन आगम उत्तराध्ययन सूत्र के एक प्रसग मे कमलावती इषुकार को सावधान करती है—"हे नरदेव ! धर्म के सिवाय अन्य कोई भी वस्तु त्राण नही है।" मैत्रेयी अपने पति से मोक्ष के साधनभूत अध्यात्म-ज्ञान की याचना करती है और कमलावती अपने पति को धर्म का महत्त्व बताती है। इस प्रकार धर्म की आत्मा मे प्रविष्ट होकर वह आत्मवाद अध्यात्मवाद बन जाता है। यही स्वर उपनिषद् के ऋषियो की

वाणी मे से निकला—"आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किए जाने योग्य है।" तत्त्व यही है कि दर्शन का प्रारम्भ आत्मा से होता है और अन्त मोक्ष मे। सत्य का ज्ञान उसका शरीर है और सत्य का आचरण उसकी आत्मा।

धर्म-दर्शन

धर्म-दर्शन की चिंतन-धारा चार बिन्दुओ पर आधारित है

१ बध।

२ बध-हेतु (आश्रव)।

३ मोक्ष।

४ मोक्ष-हेतु (सवर-निर्जरा)।

सक्षेप मे तत्त्व दो है—आस्रव और सवर। इसलिए काल-क्रम के प्रवाह मे बार-बार यह वाणी मुखरित हुई है

"आस्रवो भवहेतु स्यात्, सवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्या प्रपचनम्॥"

"भव (ससार-दशा मे आत्मा की अवस्थिति) का हेतु है—आस्रव और मोक्ष का कारण है—सवर। सक्षेप मे यही है आर्हती दृष्टि (जैन दर्शन)। शेष सब इसी का विस्तार है।"

यही तत्त्व वेदात मे अविद्या और विद्या शब्द के द्वारा कहा गया है

"अविद्या बन्धहेतु स्यात्, विद्या स्यात् मोक्षकारणम्।
ममेति बध्यते जन्तु न ममेति विमुच्यते॥"

अविद्या बध का हेतु है, विद्या मोक्ष का कारण है। "मेरा है" ऐसा मानता है, वह प्राणी बधता है, "मेरा नही" ऐसा मानता है वह प्राणी मुक्त हो जाता है।

बौद्ध दर्शन के चार आर्य-सत्य और क्या हैं? यही तो हैं

१ दुख—हेय।

२ समुदय—हेय हेतु।

३ मार्ग—हानोपाय या मोक्ष-उपाय।

४ निरोध—हान या मोक्ष।

यही तत्त्व हमे पातजल-योगसूत्र और व्यास-भाष्य मे मिलता है। योगदर्शन भी यही कहता है—"विवेकी के लिए यह सयोग दुख है और दुख हेय है। त्रिविध दुख के थपेडो से थका हुआ मनुष्य उसके नाश के लिए जिज्ञासु बनता है।"

शिवमहिम्नस्तोत्र मे कहा गया है—

"रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥"

—जैसे सारे जल का गम्य है—समुद्र, वैसे सभी लोगो का गम्य (मंजिल) एक तू (शिव) ही है, रुचि-विचित्रता के कारण मार्ग अनेक हैं—कोई सीधा है, कोई वक्र।" सत्य एक है, शोध-पद्धतिया अनेक। सत्य की शोध और सत्य का आचरण धर्म है। सम्प्रदाय या समाज सत्य-शोध की सस्थाए हैं, वे धर्म नही हैं। सम्प्रदाय अनेक बन गए, पर सत्य अनेक नहीं बना। सत्य शुद्ध, नित्य और शाश्वत (सदा रहने वाला) होता है। साधन के रूप मे वह है अहिसा और साध्य के रूप मे वह है मोक्ष।

मोक्ष

मोक्ष और क्या है ? दु ख से सुख की ओर प्रस्थान और दु ख से मुक्ति। "निर्जरा—कर्मों के दूर होने से होने वाली जो आत्मा की विशुद्धि है, वह सुख है। पापकर्म दु ख है।" भगवान् महावीर की दृष्टि पाप के फल पर नही, पाप की जड पर प्रहार करती है। वे कहते हैं—"मूल का छेद करो।"

"काम-भोग क्षण मात्र के लिए सुख हैं, बहुत काल तक दु ख देने वाले हैं। ये ससार से मुक्त होने मे बाधक हैं, इसलिए ये सुख नही हैं।"

"दु ख सबको अप्रिय है। ससार दु खमय है।"

"जन्म दु ख है, बुढापा दु ख है और मृत्यु दु ख है।" आत्म-विकास की जो पूर्ण दशा—मोक्ष है, वहा न जन्म है, न मृत्यु है, न रोग है और न जरा।

आत्मा का अपना रूप सत्, चित् और आनदघन है। आत्मा के साथ जो विजातीय सम्बन्ध है, वह हेय है। हेय नही छूटता, तब तक आत्मा छोडने-लेने की उलझन मे फसा रहता है। हेय छूटते ही वह अपने रूप मे आ जाता है। फिर बाहर से न कुछ लेता है और न कुछ लेने की उसे अपेक्षा होती है, शरीर छूट जाता है, शरीर के धर्म छूट जाते हैं।

शरीर के मुख्य धर्म चार हैं

१ आहार।
२ श्वास-उच्छ्वास।
३ वाणी।
४ चिंतन।

ये रहते हैं, तब तक संसार चलता है।

साख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति का वियोग होना ही मोक्ष है।

नैयायिक दर्शन के अनुसार जीवात्मा के दु ख और उसके कारणो से आत्यन्तिकी निवृत्ति मोक्ष है।

शैवदर्शन (परमार्थसार) मे कहा गया है—

"मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति, न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रंथिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्ष ॥"

—"मोक्ष न कोई धाम है और न कही गमन है। जिसने अज्ञान-ग्रथि को तोड डाला है उसके लिए अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति ही मोक्ष है।"

अद्वैत दर्शन मे आत्मा की अविद्या से निवृत्ति, अनवच्छिन्न आनन्द की प्राप्ति एव अशरीरी अवस्था को मोक्ष कहा गया है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार दुख-निरोध ही निर्वाण (मोक्ष) है।

सत्य की परिभाषा

प्रश्न है कि सत्य क्या है। जैन आगम कहते हैं—"वही सत्य है जो जिन (आप्त और वीतराग) ने कहा है।" वैदिक सिद्धान्त मे भी यही लिखा है—"आत्मा जैसे गूढ तत्त्व का क्षीणदोषयति (वीतराग) ही साक्षात्कार करते हैं।" उनकी वाणी अध्यात्मवादी के लिए प्रमाण है। क्योकि वीतराग अन्यथा-भाषी नही होते। जैसे कहा है—"असत्य बोलने के मूल कारण तीन हैं—राग, द्वेष और मोह।" जो व्यक्ति क्षीणदोष है—दोषत्रयी से मुक्त हो चुका, वह फिर कभी असत्य नही बोलता।

वीतराग अन्यथाभाषी नही होते—यह हमारे प्रतिपाद्य का दूसरा पहलू है। इससे पहले उन्हे पदार्थ-समूह का यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। यथार्थ ज्ञान उसी को होता है जो निरावरण (ज्ञान का आवरण करने वाले कर्मो स मुक्त) हो। निरावरण यानी यथार्थद्रष्टा। वीतराग-वाक्य यानी यथार्थ-वक्तृत्व। ये दो मूल अवधारणाए हमारी सत्यमूलक धारणा की समानान्तर रेखाए हैं। इन्ही के आधार पर हमने आप्त के उपदेश को आगम—सिद्धात माना है। फलितार्थ यह हुआ कि यथार्थज्ञाता एव यथार्थवक्ता से हमे जो कुछ मिला, वही सत्य है।

स्वतत्र विचारको का ख्याल है कि दार्शनिक परम्परा के आधार पर भारत मे अधविश्वास जन्मा। प्रत्येक मनुष्य के पास बुद्धि है, तर्क है, अनुभव है, फिर वह क्यो ऐसा स्वीकार करे कि यह अमुक व्यक्ति या अमुक शास्त्र की वाणी है, इसलिए सत्य ही है। वह क्यो न अपनी ज्ञान-शक्ति का लाभ उठाए?

महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यो से कहा—'किसी ग्रथ को स्वत प्रमाण मत मानना, अन्यथा बुद्धि और अनुभव की प्रामाणिकता समाप्त हो जाएगी।" इस उलझन को पार करने क लिए हमे दर्शन-विकास के इतिहास पर विहगम दृष्टि डालनी होगी।

दर्शन की उत्पत्ति

वैदिको का दार्शनिक युग उपनिषद्काल से शुरू होता है। आधुनिक अन्वेषको के मतानुसार लगभग चार हजार वर्ष पर्व उपनिषदो का निर्माण होने लग गया था। लोकमान्य तिलक ने मैत्र्युपनिषद् का रचनाकाल ईसा से पूर्व १८८० से १६८० के बीच माना है।[1]

बौद्धो का दार्शनिक युग ईसा से पूर्व पाचवी शताब्दी मे शुरू होता है।

जैनो के उपलब्ध दर्शन का युग भी यही है, यदि हम भगवान् पार्श्व-नाथ की परम्परा को इससे न जोडें।

यहा हमने जिस दार्शनिक युग का उल्लेख किया है, उसका दर्शन की उत्पत्ति से सम्बन्ध है। वस्तुवृत्या वह निर्दिष्ट काल आगम-प्रणयनकाल है, किन्तु दर्शन की उत्पत्ति आगमो से हुई है, इस पर थोडा आगे चलकर कुछ विशद रूप मे बताया जाएगा। इसलिए प्रस्तुत विषय मे उस युग को दार्शनिक युग की सज्ञा दी गई है।

दार्शनिक ग्रथो की रचना तथा पुष्ट प्रामाणिक परम्पराओ के अनुसार तो वैदिक, जैन और बौद्ध प्राय सभी का दर्शन-युग लगभग विक्रम की पहली शताब्दी या उससे एक शती पूर्व प्रारम्भ होता है। उसमे पहले का युग आगम-युग ठहरता है। उसमे ऋषि उपदेश देते गए और उनके वे उपदेश 'आगम' बनते गये। अपने मत के प्रवर्तक ऋषि को सत्य-द्रष्टा कहकर उनके अनुयायियो द्वारा उनका समर्थन किया जाता रहा। ऋषि अपनी स्वतन्त्र वाणी मे बोलते है—"मैं यो कहता हू।" दार्शनिक युग मे यह बदल गया। दार्शनिक बोलता है—"इसलिए यह यो है।" आगम-युग श्रद्धा प्रधान था और दर्शन-युग परीक्षा-प्रधान। आगम-युग मे परीक्षा की और दर्शन-युग में श्रद्धा की अत्यत उपेक्षा नही हुई। हो भी नही सकती। इस बात की सूचना के लिए ही यहा श्रद्धा और परीक्षा के आगे 'प्रधान' शब्द का प्रयोग किया गया है। आगम मे प्रमाण के लिए पर्याप्त स्थान सुरक्षित है। इसलिए यह व्याप्ति बन सकती है कि आगम मे दर्शन है और दर्शन मे आगम। तात्पर्य की दृष्टि से देखें तो अल्पबुद्धि व्यक्ति के लिए आज भी आगम-युग है और विशदबुद्धि व्यक्ति के लिए पहले भी दर्शन-युग था। किन्तु एकान्तत यो मान लेना भी सगत नही होता। चाहे कितना ही अल्पबुद्धि व्यक्ति हो, कुछ-कुछ तो परीक्षा का भाव उसमे होगा ही। दूसरी ओर विशुद्ध-बुद्धि के लिए भी श्रद्धा आवश्यक होगी ही। इसीलिए आचार्यों ने बताया है कि आगम और प्रमाण, दूसरे शब्दो मे श्रद्धा और युक्ति—इन दोनो के समन्वय से ही दृष्टि मे पूर्णता आती है, अन्यथा सत्य-दर्शन की दृष्टि अधूरी ही रहेगी।

विश्व मे दो प्रकार के पदार्थ हैं—इन्द्रिय-गम्य पदार्थ यानी इन्द्रियो के द्वारा जिन्हे जाना जा सकता है, अतीन्द्रिय गम्य पदार्थ—इन्द्रियो से परे किसी विशिष्ट ज्ञान से जिन्हे जाना जा सकता है। इन्द्रिय-गम्य पदार्थों को जानने के लिए युक्ति और अतीन्द्रिय-गम्य पदार्थों को जानने के लिए आगम—ये दोनो मिलकर हमारी सत्योन्मुख-दृष्टि को पूर्ण बनाते हैं। यहा हमे अतीन्द्रिय को अहेतुगम्य पदार्थ के अर्थ मे लेना होगा, अन्यथा विषय की सगति नही होती, क्योकि युक्ति के द्वारा भी बहुत सारे अतीन्द्रिय पदार्थ जाने जाते हैं। सिर्फ अहेतुगम्य पदार्थ ही ऐसे हैं, जहा कि युक्ति कोई काम नही करती। ज्ञेयत्व की अपेक्षा से पदार्थ दो भागो मे विभक्त होते हैं—हेतुगम्य और अहेतुगम्य। जीव का अस्तित्व हेतुगम्य है—स्वसवेदन-प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणो से उसकी सिद्धि होती है। रूप को देखकर रस का अनुमान, सघन बादलो को देखकर वर्षा का अनुमान होता है, यह हेतुगम्य है। पृथ्वीकायिक जीव श्वास लेते हैं, यह अहेतुगम्य है। अभव्य जीव मोक्ष नही जाते किन्तु क्यो नही जाते, इसका युक्ति मे भी कहा जाता है—"**स्वभावे तार्किका भग्ना**"—स्वभाव के सामने कोई प्रश्न नही होता। अग्नि जलती है, आकाश नही—यहा तर्क के लिए स्थान नही है।

आगम और तर्क का जो पृथक् पृथक् क्षेत्र बतलाया है, उसको मानकर चले बिना हमे सत्य का दर्शन नही हो सकता। वैदिक साहित्य ने भी सम्पूर्ण दृष्टि के लिए उपदेश और तर्क-पूर्ण मनन तथा निदिध्यासन (गहन ध्यान या चिंतन) की आवश्यकता बतलाई है। जहा तर्क का अतिरजन होता है, वहा ऐकातकता (एकपक्षीय आग्रह) आ जाती है। उससे अभिनिवेश, आग्रह या मिथ्यात्व पनपता है।

आगम तर्क की कसौटी पर

यदि कोई एक ही द्रष्टा ऋषि होता या सारे आगम एक ही प्रकार के होते तो आगमो को तर्क की कसौटी पर चढने की घडी न आती। किन्तु अनेक मतवाद हैं, अनेक ऋषि, किसकी बाते मानें, किसकी नही, यह प्रश्न लोगो के सामने आया। धार्मिक मतवादो के इस पारस्परिक सघर्ष से दर्शन का विकास हुआ।

भगवान् महावीर के समय मे ३६३ मतवादो का उल्लेख मिलता है। बाद मे उनकी शाखा-प्रशाखाओ का विस्तार होता गया। स्थिति ऐसी बनी कि आगम की साक्षी से अपने सिद्धान्तो की सचाई बनाये रखना कठिन हो गया। तब प्राय सभी प्रमुख मतवादो ने अपने तत्त्वो को व्यवस्थित करने के लिये युक्ति का सहारा लिया। आगमो की सत्यता का भाग्य तर्क के हाथ में आ गया। चारो ओर '**वादे वादे जायते तत्त्वबोध**'—यह उक्ति गूजने लगी।

वही धर्म सत्य माना जाने लगा जो कष, छेद और ताप सह सके । परीक्षा के सामने अमुक व्यक्ति की वाणी का आधार नही रहा, वहा व्यक्ति के आगे युक्ति की उपाधि लगानी पडी—

"युक्तिमद् वचन यस्य तस्य कार्य परिग्रह"

—"जिसका वचन युक्तियुक्त हो, उसे ही ग्रहण करना चाहिये।"

भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध या महर्षि व्यास की वाणी है, इसलिए सत्य है या इसलिए मानो, यह बात गौण हो गई । 'हमारा सिद्धात युक्तियुक्त है, इसलिये सत्य है'—इसका प्राधान्य हो गया ।

तर्क का दुरुपयोग

ज्यो-ज्यो धार्मिको मे मत-विस्तार की भावना बढती गई, त्यो-त्यो तर्क का क्षेत्र व्यापक बनता चला गया । न्यायसूत्रकार ने वाद, जल्प और वितण्डा को तत्त्व बताया । वाद को तो प्राय सभी दर्शनो मे स्थान मिला । जय-पराजय की व्यवस्था भी मान्य हुई, भले ही उसके उद्देश्य मे कुछ अतर रहा हो । आचार्य और शिष्य के बीच होने वाली तत्त्वचर्चा के क्षेत्र मे वाद फिर भी विशुद्ध रहा । किन्तु दो विरोधी मतानुयायियो मे चर्चा होती, वहा वाद अधर्मवाद से भी अधिक विकृत बन जाता । मण्डनमिश्र और शकराचार्य के बीच हुए वाद का वर्णन इसका ज्वलत प्रमाण है । आचार्य सिद्धसेन 'दिवाकर' ने महान् तार्किक होते हुए भी शुष्क वाद के विषय मे विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "श्रेयस् और वाद की दिशाए भिन्न है ।"

भारत मे पारस्परिक विरोध बढ़ने मे शुष्क तर्कवाद का प्रमुख हाथ है—

"तर्कोऽप्रतिष्ठ श्रुतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम् ।"

—अर्थात् "तर्क पुष्ट आधार वाला नही है और श्रुतिया (वेद आदि ग्रथ) भिन्न भिन्न (प्रतिपादन कर रहे) हैं। ऐसा एक भी मुनि (ज्ञानी) नही है जिसका वचन प्रमाण माना जाए।"—युधिष्ठिर के ये उद्‌गार तर्क की अस्थिरता और मतवादो की बहुलता से उत्पन्न हुई जटिलता के सूचक है । मध्यस्थवृत्ति वाले आचार्य जहा तर्क की उपयोगिता मानते थे, वहा शुष्क तर्कवाद के विरोधी भी थे ।

प्रस्तुत विषय का उपसहार करने से पूर्व हमे उन पर दृष्टि डालनी होगी जो सत्य के दो रूप हमे इस विवरण मे मिलते है—

१ आगम को प्रमाण मानने वालो के मतानुसार जो सर्वज्ञ ने कहा है वह तथा जो सर्वज्ञ कथित और युक्ति द्वारा समर्थित है वह सत्य है ।

२ आगम को प्रमाण न मानने वालो के मतानुसार जो तर्कसिद्ध है, वही सत्य है ।

किन्तु सूक्ष्म, व्यवहित, अतीन्द्रिय तथा स्वभाव-सिद्ध पदार्थों की जानकारी के लिए युक्ति कहा तक कार्य कर सकती है, यह श्रद्धा को सर्वथा अस्वीकार करने वालो के लिए चिंतनीय है। हम तर्क की ऐकातिकता को दूर कर दें तो वह सत्य-सधानात्मक प्रवृत्ति के लिए दिव्य-चक्षु है। धर्म-दर्शन आत्म-शुद्धि और तत्त्व-व्यवस्था के लिए है, आत्मवचना या दूसरो को जाल मे फसाने के लिए नही, इसलिए दर्शन के क्षेत्र मे सत्य का अन्वेषण होना चाहिए। भगवान् महावीर के शब्दो मे "सत्य ही लोक मे सारभूत है।"

उपनिषद्कार के शब्दो मे "सत्य ही ब्रह्मविद्या का अधिष्ठान और परम लक्ष्य है।"

"आत्म-हितेच्छु पुरुष असत्य, चाहे वह कही हो, को छोड, सत्य को ग्रहण करे।"—कवि भोज यति की यह माध्यस्थ्यपूर्ण उक्ति प्रत्येक तार्किक के लिए मननीय है।

दर्शन का मूल

तार्किक विचार-पद्धति, तत्त्वज्ञान, विचारप्रयोजक ज्ञान अथवा परीक्षा विधि का नाम दर्शन है। उसका मूल उद्गम कोई एक वस्तु या सिद्धान्त होता है। जिस वस्तु या सिद्धात को लेकर यौक्तिक विचार किया जाये, वह (विचार) दर्शन बन जाता है, जैसे—राजनीति-दर्शन, समाज-दर्शन, आत्म-दर्शन, धर्म-दर्शन आदि-आदि।

यह सामान्य स्थिति या आधुनिक स्थिति है। पुरानी परिभाषा इतनी व्यापक नही है। ऐतिहासिक दृष्टि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दर्शन शब्द का प्रयोग सबसे पहले 'आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले विचार" के अर्थ मे हुआ है। दर्शन यानी वह तत्त्व-ज्ञान जो आत्मा, कर्म, धर्म, स्वर्ग, नरक आदि का विचार करे।

आगे चलकर बृहस्पति के लोकायत मत और अजित केशकम्बली के उच्छेदवाद तथा तज्जीव-तच्छरीरवाद जैसी नास्तिक विचारधाराए सामने आयी। तब दर्शन का अर्थ कुछ व्यापक हो गया। वह सिर्फ आत्मा से ही सम्बद्ध नही रहा। व्यापक सदर्भ मे दर्शन की परिभाषा हुई—

दर्शन-अर्थात् विश्व की मीमासा, अस्तित्व या नास्तित्व का विचार अथवा सत्य-शोध का साधन।

पाश्चात्य दार्शनिको की, विशेषत कार्ल मार्क्स की विचारधारा के आविर्भाव ने दर्शन का क्षेत्र और अधिक व्यापक बना दिया। जैसा कि मार्क्स ने कहा है—"दार्शनिक ने जगत् को समझने की चेष्टा की है। प्रश्न यह है कि उसका परिवर्तन कैसे किया जाए।" मार्क्स दर्शन विश्व और समाज दोनो तत्त्वो का विचार करता है। वह विश्व को समझने की अपेक्षा समाज को

बदलने मे दर्शन की अधिक सफलता मानता है। आस्तिको ने समाज पर कुछ भी विचार नही किया ऐसा तो नही, फिर भी उनका अन्तिम लक्ष्य नि श्रेयस् (मोक्ष) रहा। किन्तु नि श्रेयस् के साथ अभ्युदय (इह-लौकिक लाभ) सर्वथा उपेक्षित नही हुआ। कहा भी है—

"यदाभ्युदयिकञ्चैव, नैश्रेयसिकमेव च।
सुख साधयितु मार्ग, दर्शयेत् तद् हि दर्शनम् ॥"

जो अभ्युदय और नि श्रेयस् –दोनो से सम्बन्धित सुख को साधने का मार्ग दिखाए, वही दर्शन है।

नास्तिक धर्म-कर्म पर तो नही रुके, किंतु फिर भी उन्हे समाज-परिवर्तन की बात नही सूझी। उनका पक्ष प्राय खण्डनात्मक ही रहा। मार्क्स ने समाज को बदलने के लिए ही समाज को देखा। आस्तिको का दर्शन समाज से आगे चलता है। उनका लक्ष्य है शरीर-मुक्ति—पूर्ण स्वतन्त्रता—मोक्ष।

नास्तिको का दर्शन ऐहिक सुख-सुविधाओ के उपयोग मे कोई खामी न रहे, इसलिए आत्मा का उच्छेद साधकर रुक जाता है। मार्क्स के द्वद्वात्मक भौतिकवाद का लक्ष्य है—समाज की वर्तमान अवस्था का सुधार। अब हम देखते है कि दर्शन शब्द जिस अर्थ मे चला, अब वह अर्थ उसमे नही रहा।

हरिभद्र सूरि ने वैकल्पिक दशा मे चार्वाक मत को छह दर्शनो मे स्थान दिया है। मार्क्स-दर्शन भी आज लब्धप्रतिष्ठ है, इसलिए इसको दर्शन न मानने का आग्रह करना सत्य से आखे मूदने जैसा है।

दर्शन की धाराए

दर्शनो की विविधता या विविध-विषयता के कारण 'दर्शन' का प्रयोग एक-मात्र आत्मविचार-सम्बन्धी नही रहा। इसलिये अच्छा है कि विषय की सूचना के लिये उसके साथ मुख्यतया स्वविषयक विशेषण रहे। आत्मा को मूल मानकर चलने वाले दर्शन का मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय धर्म है। इसलिए आत्ममूलक दर्शन की 'धर्म-दर्शन' सज्ञा रखकर चले तो विषय के प्रतिपादन मे बहुत सुविधा होगी।

धर्म दर्शन का उत्स (मूल स्रोत) आप्तवाणी (आगम) है। ठीक भी है। आधारशून्य विचार-पद्धति किसका विचार करे ? सामने कोई तत्त्व नही तब किसकी परीक्षा करे ? प्रत्येक दर्शन अपने मान्य तत्त्वो की व्याख्या से शुरू होता है। साख्य या जैन दर्शन, नैयायिक या वैशेषिक दर्शन, किसी को भी लें, सब मे स्वाभिमत तत्त्वो की ही परीक्षा है। उन्होने अमुक-अमुक सख्याबद्ध तत्त्व क्यो माने, इसका उत्तर देना दर्शन का विषय नही, क्योकि वह सत्यद्रष्टा तपस्वियो के साक्षात्-दर्शन का परिणाम है। माने हुए तत्त्व सत्य

हैं या नही, उनकी सख्या सगत है या नही, यह बताना दर्शन का काम है। दार्शनिको ने ठीक यही किया है। इसलिये यह नि सकोच कहा जा सकता है कि दर्शन का मूल आधार आगम है।

वैदिक निरुक्तकार इस तथ्य को एक घटना के रूप मे व्यक्त करते हैं। ऋषियो के उत्क्रमण करने पर मनुष्यो ने देवताओ से पूछा—"अब हमारा ऋषि कौन होगा ?" तब देवताओ ने उन्हे 'तर्क' नामक ऋषि प्रदान किया।

सक्षेप मे सार इतना ही है कि ऋषियो के समय मे आगम का प्राधान्य रहा। उनके अभाव मे उन्ही की वाणी के आधार पर दर्शनशास्त्र का विकास हुआ।

जैन दर्शन की आस्तिकता

जैन दर्शन परम अस्तिवादी है। इसका प्रमाण है—अस्तिवाद के चार अगो की स्वीकृति। उसके चार विश्वास हैं—आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। भगवान् महावीर ने कहा—"लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, क्रिया-अक्रिया नही हैं, ऐसी सज्ञा मत रखो। किन्तु ये सब हैं, ऐसी सज्ञा रखो।"

श्रद्धा और युक्ति का समन्वय

यह निर्ग्रंथ-प्रवचन (जैन धर्म या भगवान् महावीर के सिद्धात) श्रद्धालु के लिए जितना आप्तवचन है, उतना ही एक बुद्धिवादी के लिए युक्तिवचन। इसीलिए आगम-साहित्य मे अनेक स्थानो पर प्रमाण की चर्चा की गई है। भगवान् महावीर ने जहा श्रद्धावान् को 'मेधावी' कहा है, वहा "मतिमन् ! देख, विचार"—इस प्रकार स्वतत्रतापूर्वक सोचने-समझने का अवसर भी दिया है। यह सकेत उत्तरवर्ती आचार्यों की वाणी मे यो पुनरावर्तित हुआ—

"परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो, न तु गौरवात्।"

मोक्ष-दर्शन

"एय पासगस्स दसण"—"यह द्रष्टा का दर्शन है।"

सही अर्थ मे जैन दर्शन कोई वादविवाद लेकर नहीं चलता। वह आत्म-मुक्ति का मार्ग है, अपने आपकी खोज और अपने-आपको पाने का रास्ता है। इसका मूल मत्र है—'सत्य की एषणा करो,' 'सत्य को ग्रहण करो', 'सत्य में धैर्य रखो,' 'सत्य ही लोक मे सारभूत है।'

जैन दर्शन का आरम्भ

यूनानी दर्शन का आरम्भ आश्चर्य से हुआ माना जाता है। यूनानी दार्शनिक अफलातून (प्लेटो) का प्रसिद्ध वाक्य है—"दर्शन का उद्भव आश्चर्य से होता है।"

पश्चिमी दर्शन का उद्गम सशय(doubt) से हुआ—ऐसी मान्यता है।

भारतीय दर्शन का स्रोत है—दु ख निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा।

जैन दर्शन इसका अपवाद नही है। यह ससार अध्रुव (अनित्य) और दु खबहुल है। वह कौन सा कर्म है, जिसे स्वीकार कर मैं दुर्गति से बचू, दु'ख—परम्परा से मुक्ति पा सकू '—इस चिंतन का फल है—आत्मवाद।

"सुचीर्ण कर्म का फल सत् (अच्छा) होता है और दुश्चीर्ण कर्म का फल असत् (बुरा)।"--यह कर्मवाद है।

"आत्मा पर नियत्रण कर, यह दु ख-मुक्ति का उपाय है।"--इस दु ख निवृत्ति के उपाय ने क्रियावाद को जन्म दिया। इसकी शोध के साथ-साथ दूसरे अनेक तत्त्वो का विकास हुआ।

आश्चर्य और सशय भी दर्शन-विकास के निमित्त बनते हैं। जैन-सूत्रो मे भगवान् महावीर और उनके ज्येष्ठ शिष्य गौतम के प्रश्नोत्तर प्रचुर मात्रा मे हैं। गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछे, उनके कई कारण बताए हैं। उनमे दो कारण ये है—सशय और कुतूहल (यानी जिज्ञासा)। गौतम को जब सशय और कुतूहल हुआ तब वे भगवान् महावीर के पास आए और उनसे समाधान मागा। भगवान् महावीर ने उनके प्रश्नो को समाहित किया। ये प्रश्नोत्तर जैन तत्त्वज्ञान की अमूल्य निधि है।

जैन दर्शन का ध्येय

जैन दर्शन का ध्येय है—आध्यात्मिक अनुभव। आध्यात्मिक अनुभव का अर्थ स्वतत्र आत्मा का एकत्व मे मिल जाना नही, किन्तु अपने स्वतत्र अस्तित्व का अनुभव करना है। जैन दर्शन को वेदान्त का यह मतव्य स्वीकार्य नहीं है कि मुक्त-दशा प्राप्त आत्मा किसी परम अस्तित्व या सत्ता मे विलीन हो जाती है। जैन दर्शन को बौद्ध दर्शन का यह मत भी मान्य नहीं है कि निर्वाण प्राप्त होने का अर्थ है—शून्य मे विलीन हो जाना या ज्योति का सदा-सदा के लिए बुझ जाना।

प्रत्येक आत्मा की स्वतत्र सत्ता है और प्रत्येक आत्मा अनत शक्ति-सम्पन्न है। आत्मा और परमात्मा, ये सर्वथा भिन्न सत्तात्मक तत्त्व नही हैं। अशुद्ध दशा मे जो आत्मा होती है, वही शुद्ध दशा मे परमात्मा बन जाती है। अशुद्ध दशा मे आत्मा के ज्ञान और शक्ति जो आवृत होते हैं, वे शुद्ध दशा में पूर्ण विकसित हो जाते हैं। शुद्ध आत्माओ की सख्यात्मक भिन्नता बनी रहती है।

'सत्य की शोध' यह भी जैन दर्शन का ध्येय है। किन्तु केवल सत्य की शोध ही नही, उसकी प्राप्ति ध्येय के साथ जुडी हुई है। आध्यात्मिक

दृष्टि से वही सत्य सत्य है, जो आत्मा को अशुद्ध या अनुन्नत दशा से शुद्ध या उन्नत दशा मे परिवर्तित करने के लिए उपयुक्त होता है। मार्क्स ने जो कहा "दार्शनिको ने जगत् को विविध प्रकार से समझने का प्रयत्न किया है, किन्तु उसे बदलने का नही", यह सर्वांग सुन्दर नही है। परिवर्तन के प्रति दृष्टि-बिन्दु है—बाह्य और आतरिक।

भारतीय दर्शन आतरिक परिवर्तन को मुख्य मानकर चले है। उनका अभिमत यह रहा है कि आध्यात्मिक परिवर्तन होने पर बाहरी परिवर्तन अपने आप हो जाता है। अभ्युदय उनका साध्य नही, केवल जीवन-निर्वाह का साधन मात्र रहा है। मार्क्स जैसे व्यक्ति, जो केवल बाहरी परिवर्तन को ही साध्य मानकर चले, उनका परिवर्तन-सम्बन्धी दृष्टिकोण भिन्न है। जैन दृष्टि के अनुसार बाहरी परिवर्तन से क्वचित् आतरिक परिवर्तन सुलभ हो सकता है, किन्तु उससे आत्म-मुक्ति का द्वार नही खुलता, इसलिए वह मोक्ष के लिए मूल्यवान् नही है।

पलायनवाद

कुछ पश्चिमी विचारको ने भारतीय दर्शन पर यह आरोप लगाया है कि वह पलायनवादी है। कुछ वैदिक विद्वानो ने श्रमण दर्शन (जैन और बौद्ध) को इस आरोप से समारोपित किया है कि वह पलायनवादी है। इस आरोप को अस्वीकार करे या स्वीकार ? आरोप लगानेवालो का अपना दृष्टिकोण है और वह निराधार नही है। जीवन की तुला के दो पलडे है। पश्चिमी विचारको ने वर्तमान के पलडे को अधिक मूल्य दिया है, इसलिए भविष्य के पलडे को अधिक मूल्य देनेवाले भारतीय दर्शन उनकी दृष्टि मे पलायनवादी है। वैदिक विद्वानो ने गृहस्थाश्रम को अधिक मूल्य दिया है, इसलिए सन्यास को अधिक महत्त्व देने वाले श्रमण दर्शन उनकी दृष्टि मे पलायनवादी है।

पलायन के दो कोण है—एक निराशा और दूसरा उत्कर्ष की उपलब्धि का प्रयत्न। भारतीय दर्शन निराशावादी नही है। वर्तमान जीवन के प्रति उनमे उत्कट आस्था है। इसके साक्ष्य हैं वे वैदिक सूक्त, जिनमे कामना की वेदी पर बैठा हुआ वर्तमान दसो अगुलियो से समृद्धि को बटोर रहा है। वैदिक ऋषि के लिए ससार असार नही है। उसके मन मे चिरायु होने की कामना है। वह गाता है—"जीवेम शरद शतम्"—हम सौ वर्ष तक जिए। वह जीवन को मगलमय जीना चाहता है, इसलिए उसकी कामना है—

"शृणुयाम शरद शत, प्रब्रवाम शरद शत, अदीना स्याम शरद शतम्।"

—"हम जीवन के अन्तिम क्षण तक सुनते रहे, बोलते रहे और पराक्रम की शिखा को प्रदीप्त करते रहे।" उसकी सफलता की प्रार्थना का

स्वर बहुत विराट् है। वह कहता है—"मह्य नमतां प्रदिशा चतस्र"—"मेरे लिए सभी दिशाए झुक जाए।" उसकी भाषा असीम है। वह अल्प से तोष का अनुभव नही करता। उसका स्वर आशातीत है—

"सत्यञ्च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनञ्च मे, विश्वञ्च मे महश्च मे क्रीडा च मे जातञ्च मे जनिष्यमाणञ्च मे सूक्तञ्च मे सुकृतञ्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।"

—"सत्य, श्रद्धा, जगत्, धन, विश्व, दीप्ति, क्रीडा, मोद, पुत्र, होनेवाला अपत्य, सूक्त, पुण्य, ये सब मेरे लिये हो।"

वैदिक दर्शन के आशावादी मच पर श्रमण-दर्शन को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, क्योकि उसमे कामना का स्वर मुखर नही है। उसका स्वर देशातीत और कालातीत अस्तित्व को अनावृत करने की दिशा मे मुखर है। वह जीवन के प्रति निराश नही है, किन्तु जीवन-विकास की अन्तिम रेखा तक पहुचने के लिए समर्पित है। उसका अन्तिम लक्ष्य है—मोक्ष। उसका अतिम लक्ष्य है—निर्वाण।[1]

---

१ उपनिषदो का मतव्य वैदिक ऋषियो की उपर्युक्त मान्यताओ से भिन्न, पर श्रमण-दर्शन के सदृश रूप मे उपलब्ध होता है। "भारतीय सभ्यता एव सस्कृति के इतिहास" मे बताया गया है—"उपनिषदो मे आत्मा एव ब्रह्म अभिन्न है जबकि ब्राह्मण एव आरण्यक मे दोनो को पूर्णत भिन्न बताया गया है। उपनिषदो मे आत्मा अथवा ब्रह्म को विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है जबकि ब्राह्मण और आरण्यक ग्रथो मे देवताओ को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इस प्रकार इन ग्रन्थो मे भिन्न-भिन्न विषयो का प्रतिपादन है।

उपनिषदो मे अनेक स्थलो पर हमे वैदिक कर्मकाड के विरुद्ध विद्रोह की भावना दिखाई देती है। जगह-जगह पर ब्राह्मणो के कर्मकाण्ड की कटु आलोचना की गई है। यज्ञो और कर्मकाडो को **"मुण्डक उपनिषद्"** मे सारहीन और हास्यास्पद बताया गया है, पुरोहितो के व्यक्तित्व को ठुकराया गया है, उनके अस्तित्व को चुनौती दी गई है। इस तरह उपनिषदो मे कर्म के स्थान पर ज्ञान को विशेष महत्त्व दिया गया है। यज्ञ, उपासना और बाह्य प्रकृति के प्रति अनुराग प्रकट करने के स्थान पर आत्मा के ज्ञान की ओर अधिक ध्यान दिया है। सरल शब्दो मे हम कह सकते हैं कि उपनिषद् यज्ञ और उपासना पर बल न देकर आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करते हैं।

उपनिषदो के अनुसार मनुष्य का सच्चा ध्येय मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष का अभिप्राय है जन्म तथा मृत्यु के बन्धनो से मुक्ति। मनुष्य को

मोक्ष जीवन की वह अवस्था है जहा सब बन्धन निर्बंध हो जाते हैं। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, भौतिक और धार्मिक—इन सब बधनो से मुक्ति, पूर्ण स्वतत्रता का अर्थ है मोक्ष।

निर्माण जीवन की वह अवस्था है जहा दैहिक, वाचिक और मानसिक सब दोष नि शेष हो जाते हैं। जहा समग्र वासनाओ और क्लेशो की शाति से निरपेक्ष शान्ति प्राप्त होती है। अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाने के लिए उठा हुआ पग निराशावादी नही हो सकता।

द्वितीय महायुद्ध के मध्य मित्रराष्ट्रो की सेना पीछे हटती जा रही थी।

ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसे फिर से जन्म न लेना पडे क्योकि जन्म लेने से ही जीव को अनेक क्लेश भोगने पडते हैं। श्री दिनकर के अनुसार—"उपनिषदो ने सच्चे सुख की जो कल्पना की, वह मोक्ष का सुख था, वह जीवन और मृत्यु से छुटकारा पाने का सुख था। इस सुख के सामने स्वर्ग-सुख को उपनिषदो ने हीन बताया और इसी प्रकार लोग स्वर्ग के सामने लौकिक जीवन को हीन मानने लगे हैं। अतएव भारतीय दर्शन मे निराशावाद की एक हलकी परम्परा का आरम्भ उपनिषदो से ही हुआ और यही परम्परा उपनिषदो के पूर्ण विकास के युग मे आकर पुष्ट और जैन तथा बौद्ध दर्शन मे जाकर प्रचण्ड हो उठी।"

उपनिषदो मे स्पष्ट किया गया है कि आत्म-तत्व को पहचाने बिना मोक्ष सभव नही है, इसलिए अहकार को एकदम हटा देना परम आवश्यक है। अहकार के कारण ही मनुष्य समार रूपी गर्त मे गिरता है। उपनिषदो का सदेश है कि मनुष्य को पाशविक मनोवृत्ति से पृथक् रहना चाहिए। पाशविक मनोवृत्ति के निरोध से सब कुछ साधा जा सकता है। इसलिए आत्म-निग्रह आवश्यक है। कुत्सित इच्छाओ का अन्त करने से सब प्रकार की साधना सरल हो जाती है। इन सब तैयारियो से मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग सरल हो जाता है। मोक्ष एक आनन्द-मय अवस्था है। जो जीव इस अवस्था को प्राप्त नही कर सकते, उनके लिए कर्म-सिद्धात के अनुसार पुनर्जन्म का बन्ध होता है। जो जीव अपने पुण्यकृत्यो द्वारा आत्म-तत्त्व पहचान लेता है वह उस ब्रह्मलोक या सत्य लोक को प्राप्त कर लेता है, जहा से वापस नही आना पडता। उपनिषदो मे उल्लेख है कि अपने पुण्यो द्वारा आत्म-तत्व को पहचान लेने वाले जीव देवयान या अर्चि-मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक को जाते हैं। इसके विपरीत साधारण पुण्य वाले जीव पितृयान या धूप-मार्ग द्वारा चद्रलोक जाते हैं, वहा से पुण्य फल के क्षीण होने पर उन्हे वापस आना पडता है। मोक्ष प्राप्त कर लेने वाले जीवो को किसी भी मार्ग का अनुसरण नही करना पडता।"

दर्शक उसे निराश और पराजित मान रहे थे। रणविशेषज्ञ उसे अपनी रणनीति (strategy) बता रहे थे। विजय के क्षणो ने इसी बात की पुष्टि की कि वह उनकी रणनीति थी।

हमारा समूचा जीवन समरागण है। हम जीवन-समर में आगे भी बढते है, पीछे भी हटते हैं। पीछे हटना निराशा नही है, पलायन नही है, वह हमारी समर-नीति है। 'ससार असार है'—श्रमण दर्शन ने यह उद्घोषणा की है। यह निराशा का स्वर नही है किन्तु भौतिकता के निर्बाध आक्रमण के सामने उनकी सामरिक व्यूह-रचना है। यह उनका पलायन नही है, किन्तु इन्द्रियो के उच्छृखल निमत्रण के सामने उन्मुक्त विद्रोह है।

श्रमण दार्शनिक गाता है—"जीवन की आशसा (आकाक्षा) मत करो, मृत्यु की आशसा मत करो। वह जीवन आशसनीय नही है, जो भौतिकता से आक्रात और ऐन्द्रियक उच्छृखलता से सत्रस्त है।"

"वह मृत्यु अभिलषणीय नही है, जो निराशा से अभिभूत (पराजित) और जीवन-निर्वाह की अक्षमता से सकुल है।"

"तुम वैसा जीवन जियो, जिसमे चेतना का प्रतिबिम्ब और स्वतत्रता की प्रतिध्वनि हो। तुम वैसी मृत्यु से मरो, जिसकी खिडकी से जीवन की सफलता झाक रही हो और जिसे चैतसिक प्रसन्नता आप्लावित कर रही हो।"

अभ्यास

१ दर्शन की परिभाषा के सबध मे मुख्य मतभेद क्या है ?

२ विभिन्न भारतीय दर्शनो मे बन्ध और मोक्ष के सम्बन्ध में मुख्य धारणाओ मे क्या समानता है ?

३ क्या श्रद्धा और तर्क का समन्वय किया जा सकता है ? कैसे ?

४ क्या जैन दर्शन पलायनवादी है ?

२ :

आओ चलें अमूर्त विश्व की यात्रा पर

प्रत्येक क्रिया के पीछे कर्त्ता का कर्तृत्व होता है। यह तर्कशास्त्र का सामान्य नियम है कि कर्त्ता के बिना क्रिया नहीं हो सकती। व्याकरण-शास्त्र के अनुसार सब कारकों में पहला कारक कर्त्ता होता है। कर्म, साधन आदि के कारक उसके होने पर ही होते हैं, उसके अभाव में नहीं होते। व्याकरणाचार्यों ने इसी प्रधानता के आधार पर इस सिद्धांत की स्थापना की—कर्त्ता स्वतंत्र होता है और कर्म आदि कारक उसके अधीन होते हैं।

कर्त्ता, क्रिया और उसका परिणाम यह एक घटनाक्रम है। कुछ घटनाओं में ये तीनों हमारे सामने होते हैं। इसलिए वहां कर्तृत्व का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। वे घटनाएं हमारे सामने कर्तृत्व का प्रश्न उपस्थित करती हैं, जहां परिणाम हमारे सामने होता है, किन्तु उसका कर्ता हमारे सामने नहीं होता। उसका उदाहरण हमारा विश्व है जिसमें हम रहते हैं और जिसे निरंतर अपनी आंखों में तैरता-डूबता देखते हैं। यह विशाल भूखंड किसके कुशल और सशक्त हाथों की कृति है? ये उत्तुंग शिखर वाले पर्वत किसके हाथों द्वारा निष्पन्न हुए हैं? यह आकाश किसके कौशल का परिचय दे रहा है? ये असंख्य नौहारिकाएं किसके कर्तृत्व का गीत गा रही हैं? यह चमकते हुए सूर्य और शांति बरसाते हुए चांद का आदि कर्ता कौन है? ये भूखण्ड को आवेष्टित किए हुए समुद्र किसकी सृष्टि हैं? प्रकृति के कण-कण का भाग्यविधाता एवं इस मनुष्य का भाग्यविधाता कौन है? ये प्रश्न शाश्वत प्रश्न हैं। ये आदिकाल से ही मनुष्य के मन में कुतूहल उत्पन्न किए हुए हैं। उन्हीं का समाधान पाने के लिए मनुष्य ने दर्शन की रेखाएं खींची हैं।

क्या हमने इन प्रश्नों का समाधान पा लिया? क्या हमारे दर्शन उन प्रश्नों का उत्तर देने में सक्षम हैं? इस प्रश्न का उत्तर हां में नहीं मिल रहा है। इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि हमने आलोच्य प्रश्नों का उत्तर पाने का प्रयत्न किया है। हमारे दर्शन इस दिशा में आगे बढ़े हैं। किन्तु वह समाधान अन्तिम है, यह समाधान सार्वजनीन (universal) है यह कहना कठिन है।

विश्व का वर्गीकरण

जैन दर्शन में विश्व या ब्रह्माण्ड के लिए 'लोक' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

लोक का व्युत्पत्तिजनक अर्थ है "यो लोक्यते स लोक ।"—जो देखा जाता है, वह लोक है। लोक की व्याख्यात्मक परिभाषा करते हुए कहा गया है—"षड्द्रव्यात्मको लोक ।"—जो षड्-द्रव्यात्मक है, वह लोक है। ये छह द्रव्य (substances) हैं—

१ धर्मास्तिकाय गति-सहायक द्रव्य
२ अधर्मास्तिकाय स्थिति-सहायक द्रव्य
३ आकाशास्तिकाय आश्रय देने वाला द्रव्य
४ काल समय
५ पुद्गलास्तिकाय भौतिक द्रव्य (Physical substance)—जड पदार्थ (matter) और ऊर्जा (energy)
६ जीवास्तिकाय आत्मा—चैतन्यशील द्रव्य (Psychical substance)

इन छह द्रव्यो मे से काल को छोडकर शेष पाच द्रव्य अस्तिकाय कहे गए हैं। अस्तिकाय का तात्पर्य है कि ये द्रव्य सप्रदेशी यानी सावयवी हैं। (किसी भी द्रव्य का निरश ,अश या अविभाज्य विभाग 'प्रदेश' कहलाता है।)काल द्रव्य अप्रदेशी है, अत उसे अस्तिकाय नही कहा गया है। इस कारण से लोक की चर्चा के प्रसग मे कही-कही इसे 'पचास्तिकायरूप' भी बताया गया है। सक्षेप मे कहा जाय तो जिसे हम विश्व (ब्रह्माण्ड या universe) की सज्ञा देते हैं, वह लोक है।

अस्तिकाय

अस्तिकाय का शाब्दिक अर्थ है—प्रदेश समूह या अवयव समुदाय। (अस्तिकाय प्रदेशप्रचय.)। प्रत्येक द्रव्य का सबसे छोटा परमाणु जितना भाग जो स्वय अविभाज्य होता है और जो द्रव्य से सलग्न है, वह 'प्रदेश' कहलाता है। 'अस्ति' शब्द 'प्रदेश' का वाचक और 'काय' शब्द 'समूह' का वाचक है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय—ये चारो द्रव्य अखण्ड और अविभागी हैं, इनका विघटन नही हो सकता। ये अवयवी इस दृष्टि से कहलाते है कि इनके परमाणु-तुल्य खण्डो की कल्पना की जाए तो वे असख्यात होते हैं। अर्थात् ये असख्यातप्रदेशी द्रव्य है। इसलिए अस्तिकाय हैं।

पुद्गलास्तिकाय विभागी द्रव्य है। उसका विभाजन या खण्डन किया जा सकता है। इसलिए यह स्पष्ट रूप से सावयवी है। पुद्गल का अविभाज्य खण्ड परमाणु है, जो स्वय यद्यपि निरश (निरवयवी) होता है, अर्थात् अप्रदेशी होता है, फिर भी उनमे सयोजन-वियोजन स्वभाव होता है, अत. इनके स्कन्ध (परमाणुओ के एकीभूत होने से बनने वाले पिण्ड) बनते हैं,

जिनका पुन विघटन होता है। कोई भी स्कन्ध शाश्वत नही होता। इसी दृष्टि से पुद्गल द्रव्य विभागी है।

द्रव्य

भूत और भविष्य का सकलन करने वाला (जोडने वाला) वर्तमान है। वर्तमान के बिना भूत और भविष्य का कोई मूल्य नही रहता। इसका अर्थ यह है कि हम जिस वस्तु का जब कभी एक बार अस्तित्व स्वीकार करते हैं तब हमे यह मानना पडता है कि उससे वस्तु पहले भी थी और बाद मे भी रहेगी। वह एक ही अवस्था मे रहती आयी है या रहेगी—ऐसा नही होता, किन्तु उसका अस्तित्व कभी नही मिटता, यह निश्चित है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे परिवर्तित होते हुए भी उसके मौलिक रूप और शक्ति का नाश नही होता।

दार्शनिक परिभाषा मे द्रव्य वही है जिसमे गुण और पर्याय होते हैं। प्रत्येक द्रव्य मे दो प्रकार के धर्म रहते हैं—एक तो सहभावी धर्म (गुण), जो द्रव्य मे नित्य रूप से रहता है, दूसरा क्रमभावी धर्म (पर्याय), जो परिवर्तनशील होता है। गुण भी दो प्रकार के हैं—सामान्य गुण और विशेष गुण। सामान्य गुण वे हैं, जो किसी भी द्रव्य मे निश्चित रूप से होते हैं। जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्त्व और अगुरुलघुत्व। ये छह गुण सामान्य गुण हैं, अत प्रत्येक द्रव्य में ये गुण होते ही हैं। अस्तित्व गुण उसे कहते हैं, जिस गुण के कारण द्रव्य का कभी विनाश न हो अर्थात् द्रव्य सदा विद्यमान रहे—कभी नष्ट न हो। वस्तुत्व का अर्थ होता है—द्रव्य का सदा किसी-न-किसी प्रकार की अर्थक्रिया करते रहना। प्रत्येक द्रव्य अन्य पदार्थ के साथ अनेक प्रकार के सबधो से जुडता है और अन्य पदार्थो के द्वारा प्रभावित भी होता रहता है। किन्तु इन क्रिया-प्रतिक्रियाओ मे भी द्रव्य "वस्तुत्व" गुण के कारण अपनेपन को नही छोडता। "द्रव्यत्व" गुण वह है, जिसके कारण द्रव्य गुण और पर्यायो को धारण करता है। प्रतिक्षण प्रत्येक द्रव्य की अवस्था बदलती रहती है। इन अवस्थाओ के परिवर्तन से द्रव्य मे "उत्पत्ति और विनाश" का क्रम चलता रहता है। "प्रमेयत्व" गुण के कारण द्रव्य ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। जो प्रमाण (यथार्थ ज्ञान) का विषय बन सकता है, वह "प्रमेय" है। प्रदेशवत्त्व गुण के कारण द्रव्य के प्रदेशो का माप होता है। प्रत्येक द्रव्य का विस्तार उसके प्रदेशवान् होने के कारण होता है। अगुरुलघुत्व गुण के कारण द्रव्य मे अनन्त धर्म एकीभूत होकर रहते हैं—बिखर कर अलग-अलग नही हो जाते। इसी गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य के "स्वरूप" की अविचलता होती है।

इस प्रकार से छह "सामान्य गुण" प्रत्येक द्रव्य मे होते हैं। विशेष

गुण प्रत्येक द्रव्य मे अपने-अपने होते है, जिनकी चर्चा स्वतन्त्र रूप से न करते हुए द्रव्यो के वर्णनान्तर्गत करना उपयुक्त होगा।

द्रव्य शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—

अद्रुवत्, द्रवति, द्रोष्यति, तास्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम्'

जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओ को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा, वह द्रव्य है। इसका फलित अर्थ यह है--अवस्थाओ का उत्पाद (उत्पत्ति) और व्यय (विनाश) होते रहने पर भी जो ध्रुव (स्थायी) रहता है, वही द्रव्य है। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि अवस्थाए उसी मे उत्पन्न एव नष्ट होती हैं जो ध्रुव रहता है। क्योंकि ध्रौव्य (स्थायित्व) के बिना पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओ का सम्बन्ध नही रह सकता। द्रव्य की ये दो परिभाषाए की जा सकती हैं—

१ पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओ मे जो व्याप्त रहता है, वह द्रव्य है।

२ जो सत् (real) है, वह द्रव्य है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य —इस त्रयात्मक स्थिति का नाम सत् है। द्रव्य मे परिणमन होता है—उत्पाद और व्यय होता है, फिर भी उसकी स्वरूप-हानि नही होती। द्रव्य के प्रत्येक अश मे प्रतिसमय जो परिवर्तन होता है, वह सर्वथा विलक्षण नही होता। परिवर्तन मे कुछ समानता मिलती है और कुछ असमानता। पूर्व-परिणाम और उत्तर-परिणाम मे समानता है, वही द्रव्य है। उस रूप मे द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट। जैसे माला के प्रत्येक मोती मे धागा अनुस्यूत रहता है, वैसे ही द्रव्य वस्तु की प्रत्येक अवस्था में प्रभावित रहता है। पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती परिणमन मे जो असमानता होती है, वह पर्याय है। उस रूप मे द्रव्य उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। इस प्रकार द्रव्य प्रतिसमय उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थिर भी रहता है। द्रव्य रूप से वस्तु स्थिर रहती है और पर्याय रूप से उत्पन्न और नष्ट होती है। इससे यह फलित होता है कि कोई भी वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य किन्तु परिणामी नित्य है।

बौद्ध दर्शन सत् (द्रव्य) को एकान्त अनित्य (निरन्वय क्षणिक—केवल उत्पाद-विनाश-स्वभाव) मानता है, जबकि वेदान्त दर्शन सत्पदार्थ—ब्रह्म को एकांत नित्य। पहला परिवर्तनवाद है तो दूसरा नित्यसत्तावाद। जैन-दर्शन इन दोनो का समन्वय कर परिणामी नित्यवाद' स्थापित करता है, जिसका आशय यह है कि सत्ता भी है और परिवर्तन भी—द्रव्य उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी। इस परिवर्तन मे भी उसका अस्तित्व नही मिटता। उत्पाद और विनाश के बीच यदि कोई स्थिर आधार न हो तो हमे सजातीयता—'यह वही है' का अनुभव नही हो सकता। यदि द्रव्य निर्विकार

ही हो, तो विश्व की विविधता सगत नही हो सकती। इसलिए 'परिणामी नित्यत्ववाद' जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धात है।

इसकी तुलना रासायनिक विज्ञान के 'द्रव्याक्षरत्ववाद' से की जा सकती है। द्रव्याक्षरत्ववाद का स्थापना सन् १७८९ मे लेवायजर नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने किया था। सक्षेप मे इस सिद्धात का आशय यह है, कि इस अनत विश्व मे द्रव्य का परिमाण सदा समान रहता है, उसमे कोई न्यूनाधिकता नहीं होती। न किसी वर्तमान द्रव्य का सर्वथा नाश होता है और न किसी सर्वथा नये द्रव्य की उत्पत्ति होती है। साधारण दृष्टि से जिसे द्रव्य का नाश होना समझा जाता है, वह उसका रूपान्तरणमात्र है। उदाहरण के लिए कोयला जलकर राख हो जाता है, उसे साधारणत नष्ट हो गया कहा जाता है। परन्तु वस्तुत वह नष्ट नही होता, वायुमण्डल के ऑक्सीजन अश के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस के रूप मे परिवर्तित होता है। यू ही शक्कर या नमक पानी मे घुलकर नष्ट नही होते, किन्तु ठोस से वे सिर्फ द्रव रूप मे परिणत होते हैं। इसी प्रकार जहा कही कोई नवीन वस्तु उत्पन्न होती प्रतीत होती है, वह भी वस्तुत किसी पूर्ववर्ती वस्तु का रूपान्तरण-मात्र है। घर मे अव्यवस्थित रूप से पडी रहने वाली कडाही मे जग लग जाता है, यह क्या है? यहा भी जग नामक कोई नया द्रव्य उत्पन्न नही हुआ, अपितु धातु की ऊपरी सतह जल और वायुमण्डल के ऑक्सीजन के सयोग से लोहे के ऑक्सी-हाइड्रेट के रूप मे परिणत हो गयी।

भौतिक विज्ञान मे जब तक जड पदार्थ और ऊर्जा को नितान्त भिन्न समझा जाता था, तब तक दो अलग-अलग 'सरक्षण-नियम" (conservation laws) थे—'पदार्थ या सहति (mass) के सरक्षण का नियम' और 'ऊर्जा के सरक्षण का नियम' (ये क्रमश principle of Conservation of Mass और principle of Conservation of Energy कहलाते हैं)। आइन्स्टीन के द्वारा प्रतिपादित सहति-ऊर्जा समानता के सिद्धान्त के पश्चात् अब दोनो का एकीकरण होकर सयुक्त नियम बन गया जिसे 'सहति और ऊर्जा के सरक्षण-नियम' की सज्ञा दी गई है। इसके अनुसार विश्व मे स्थित सहति-ऊर्जा की कुल राशि सदा अचल रहती है। प्रकाश, ऊष्मा, चुम्बकीय ऊर्जा, विद्युत् ऊर्जा, यात्रिक ऊर्जा, ध्वनि-ऊर्जा आदि ऊर्जा के विभिन्न रूप माने जाते हैं। ये एक-दूसरे मे परिवर्तित होते हैं। इतना ही नही, ऊर्जा का परिवर्तन पदार्थ मे और पदार्थ का परिवर्तन ऊर्जा मे हो सकता है, जिसे आइन्स्टीन के प्रसिद्ध एकीकरण $E = mc^2$ (यहा E--ऊर्जा, m=सहति और c -प्रकाश का वेग है) द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

जैन-दर्शन मे मातृपदिका' का सिद्धात भी यही है—

उत्पादध्रुवविनाशं परिणाम क्षणे क्षणे।
द्रव्ययाणामविरोधश्च, प्रत्यक्षाविह दृश्यते ॥

—"उत्पाद, ध्रुव और विनाश—द्रव्यो का यह त्रिविध-लक्षण परिणमन प्रतिक्षण बिना विरोध प्रत्यक्ष होता रहता है।" इस श्लोक मे प्रयुक्त—"उत्पाद, ध्रुव और व्यय—द्रव्यो का यह त्रिविध लक्षण परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है"—इन शब्दो मे और "जिसे द्रव्य का नाश हो जाना समझा जाता है, वह उसका रूपान्तरण-मात्र है"—इन दोनो मे कोई अन्तर नही है। वस्तुदृष्ट्या ससार मे जितने द्रव्य हैं, उतने ही थे और उतने ही रहेगे। उनमे से न कोई घटता है और न कोई बढता है। अपनी-अपनी सत्ता की परिधि मे सब द्रव्य जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश पाते रहते हैं। आत्मा की भी सापेक्ष मृत्यु होती है। तन्तुओ से पट या दूध से दही—ये सापेक्ष उत्पन्न होते हैं। जन्म और मृत्यु दोनो सापेक्ष हैं—ध्रुव द्रव्य की पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओ के सूचक हैं। सूक्ष्मदृष्ट्या पहला क्षण सापेक्ष-उत्पाद और दूसरा क्षण सापेक्ष-नाश का हेतु है। स्थूलदृष्ट्या स्थूल पर्याय का पहला क्षण जन्म और अन्तिम क्षण मृत्यु के व्यपदेश (सज्ञा या नामकरण) का हेतु है।

"पुरुष (आत्मा) नित्य है और प्रकृति (जड) परिणामी नित्य है"—इस प्रकार साख्य भी नित्यानित्यत्ववाद स्वीकार करता है। नैयायिक और वैशेषिक परमाणु, आत्मा आदि को नित्य मानते हैं तथा घट, पट आदि को अनित्य। समूहापेक्षा से ये भी परिणामी नित्यत्ववाद को स्वीकार करते हैं, किन्तु जैन दर्शन की तरह द्रव्य-मात्र को परिणामी नित्य नही मानते। महर्षि पतजलि, कुमारिल भट्ट, पार्थसार मिश्र आदि ने 'परिणामी नित्यत्ववाद'

१ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को मातृपदिका कहते हैं।

को एक स्पष्ट सिद्धात के रूप में स्वीकार नही किया, फिर भी उन्होने इसका प्रकारान्तर से पूर्ण समर्थन किया।

आकाश और दिक्

ऊपर बताए गए छह द्रव्यो मे तीसरा द्रव्य आकाशास्तिकाय है। समझने मे सुविधा हो, इस दृष्टि से हम पहले आकाश की चर्चा करते हैं, बाद मे धर्म-द्रव्य अधर्म-द्रव्य की चर्चा करेंगे।

आकाशास्तिकाय 'आकाश' (space) का सूचक है। सक्षेप मे इसे 'आकाश' कह सकते हैं। इसकी परिभाषा है—वह द्रव्य जो अन्य सभी द्रव्यो को अवगाह/आश्रय देता है, उसको 'आकाश' कहते हैं।

आकाश का गुण अवगाहन है। वह स्वय अनालम्ब है, शेष सब द्रव्यो का आलम्बन है। स्वरूप की दृष्टि से सभी द्रव्य स्व-प्रतिष्ठ हैं, किन्तु क्षेत्र

या आयतन की दृष्टि से वे आकाश-प्रतिष्ठ होते हैं। इसीलिए आकाश को सब द्रव्यों का भाजन कहते हैं।

गौतम ने पूछा—भगवान् ! आकाश तत्त्व से जीवो और अजीवो को क्या लाभ होता है ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! आकाश नही होता तो ये जीव कहां होते ? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहा व्याप्त होते ? काल कहा बरतता ? पुद्गल का रगमच कहा बनता ? यह विश्व निराधार ही होता।

जैन दर्शन मे आकाश के समग्र स्वरूप को बहुत विस्तार के साथ निरूपित किया गया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव (स्वरूप) और गुण—इन पांच सन्दर्भ-बिन्दुओ के परिप्रेक्ष्य मे जैन दर्शन प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप पर विचार करता है। आकाश पर भी इन पाच सन्दर्भ-बिन्दुओ की दृष्टि से प्रकाश डाला गया है—

१ **द्रव्य की दृष्टि से**—आकाशास्तिकाय एक, अखण्ड, स्वतत्र, वस्तु-निष्ठ (objective) वास्तविकता (सत्) (reality) है।

२ **क्षेत्र की दृष्टि से**—आकाश अनन्त और असीम है। उसकी रचना समरूप सातत्यक (homogeneous continuum) के रूप मे है। उसके प्रदेशो की सख्या अनन्त है। आकाश सर्वव्यापी है, इसलिए लोक से परे (अलोक मे) भी उसका अस्तित्व है। लोक-आकाश के प्रदेश असख्यात और अलोक-आकाश के प्रदेश अनन्त हैं।

३ **काल की दृष्टि से**—इसका अस्तित्व अनादि (beginningless) और अनन्त (endless) है अर्थात् शाश्वत है।

४ **भाव (स्वरूप) की दृष्टि से**—आकाश अमूर्त है अर्थात् वर्ण, गध, रस, स्पर्श आदि गुण-रहित है, अभौतिक है—भौतिक द्रव्य या जड़ द्रव्य (पुद्गल) से भिन्न है, चैतन्य-रहित होने से अजीव है, गति-रहित होने से अगतिशील है।

५ **गुण की दृष्टि से**—भाजन-गुण अर्थात् अन्य द्रव्यो को अवगाहन के लिए स्थान प्रदान करता है।

समस्त आकाश-द्रव्य अन्य द्रव्यो के द्वारा अवगाहित नही है, अत एक होने पर भी, अन्य द्रव्यो के अस्तित्व के कारण वह दो भागो मे विभाजित हो जाता है

१ लोकाकाश।

२ आलोकाकाश।

आकाश का भाग, जो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पुद्गला-स्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन पाच द्रव्यो द्वारा अवगाहित है, वह लोका-काश है। शेष भाग, जहा आकाश के अतिरिक्त और कोई द्रव्य नही होता,

वह अलोकाकाश है। लोकाकाश के प्रदेशो की सख्या असख्यात है, अलोकाकाश के प्रदेशो की सख्या अनन्त है। लोकाकाश एक, अखण्ड, शान्त और ससीम है। उसकी सीमा से परे अलोकाकाश एक और अखण्ड है तथा असीम-अनन्त तक फैला हुआ है। ससीम लोक चारो ओर से अनन्त अलोक से घिरा हुआ है।

जब महावीर से उनके प्रमुख शिष्य गौतम द्वारा पूछा गया कि "भगवान् ! अलोक का सस्थान (आकार) कैसा है ?", भगवान् महावीर ने उत्तर दिया, "हे गौतम ! शुषिर (खाली) गोले मे रही हुई पोलाई (रिक्तता) जैसा उसका आकार है।" अर्थात् अलोक एक विशाल गोले के समान है, जिसकी त्रिज्या अनन्त है। इस कथन से यही अर्थ निकलता है कि धर्म, अधर्म आदि पाच द्रव्यो को धारण करने वाला यह विश्व (लोकाकाश) अनन्त आकाश-समुद्र मे एक द्वीप के समान है। यहा पर यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि आकाश—लोक और अलोक—एक और अखण्ड द्रव्य है। अन्य द्रव्यो के अस्तित्व के कारण ही हम आकाश के दो विभाग करते हैं। अलोकाकाश का अस्तित्व तर्क के आधार पर निम्न प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है—लोकाकाश अथवा सक्रिय विश्व के अस्तित्व के विषय मे कोई सन्देह नही करता, क्योकि वह इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्षतया जाना जाता है और सबके द्वारा ग्राह्य है। किन्तु यदि लोकाकाश का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, तो अलोकाकाश का अस्तित्व स्वत प्रमाणित हो जाता है, क्योकि तर्कशास्त्र के अनुसार जिसका वाचक पद व्युत्पत्तिमान और शुद्ध होता है, वह पदार्थ सत् प्रतिपक्ष होता है। उदाहरणार्थ—जैसे अघट घट का प्रतिपक्ष है। "घट" शब्द विधि-वाचक है, अघट निषेधवाचक है। इसी तरह अलोकाकाश लोकाकाश का निषेध-वाचक है, अत अलोकाकाश का अस्तित्व लोकाकाश के साथ स्वीकृत हो ही जाता है।

दिक्

जैन दर्शन के अनुसार दिक् कोई स्वतन्त्र द्रव्य नही है, अपितु आकाश का ही एक भाग है। आकाश के जिस भाग से वस्तु का व्यपदेश या निरूपण किया जाता है, वह दिक् कहलाता है।

दिशा और अनुदिशा की उत्पत्ति तिर्यग् लोक (लोक के मध्य भाग) से होती है।

दिशा का प्रारम्भ आकाश के दो प्रदेशो से शुरू होता है और उनमें दो-दो प्रदेशो की वृद्धि होते-होते वे असख्यात प्रदेशात्मक बन जाती हैं। अनुदिशा केवल एक-प्रदेशात्मक होती है। ऊर्ध्व और अधोदिशा का प्रारम्भ चार प्रदेशो से होता है, फिर उनमे वृद्धि नही होती। यह दिशा का आगमिक

स्वरूप है।

जिस व्यक्ति के जिस ओर सूर्योदय होता है, वह उसके लिए पूर्व और जिस ओर सूर्यास्त होता है, वह पश्चिम तथा दाहिने हाथ की ओर दक्षिण और बाए हाथ की ओर उत्तर दिशा होती है। उन्हे ताप-दिशा कहा जाता है।

निमित्त-कथन आदि प्रयोजन के लिए दिशा का एक प्रकार और होता है। प्रज्ञापक जिस ओर मुह किए होता है वह पूर्व, उसका पृष्ठ भाग पश्चिम, दोनो पार्श्व दक्षिण और उत्तर होते हैं। इन्हे प्रज्ञापक-दिशा कहा जाता है।

आकाश और दिक् के बारे मे अन्य दर्शनो मे अनेक विचार प्रचलित हैं। कुछ दार्शनिक आकाश और दिक् को पृथक द्रव्य मानते हैं। कुछ दिक् को आकाश से पृथक् नही मानते। कुछ दार्शनिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार शब्द आकाश का गुण नही है। शब्द पौद्गलिक है। वह पुद्गलो के सघात और भेद की निष्पत्ति है, कार्य है। विज्ञान ने भी शब्द को भौतिक ऊर्जा के रूप मे स्वीकार किया है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय

जैन दर्शन मे जहा धर्म, अधम शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक दृष्टि से क्रमश आत्मा को विशुद्ध और मलिन बनाने वाले तत्त्वो के रूप मे किया गया है, वहा तत्त्व-मीमासा (Metaphysics) मे इनका अर्थ बिलकुल भिन्न है। धर्मास्तिकाय या धर्म-द्रव्य की परिभाषा है—जो द्रव्य लोक मे गतिशील सभी द्रव्यो (जीव और पुद्गलो) की गति मे अनन्य सहायक होता है, वह धर्म-द्रव्य है। दूसरे शब्दो मे वह गति का अनिवार्य माध्यम (medium) है, जिसके बिना किसी भी प्रकार की गति (motion) सम्भव नही है। वैज्ञानिक शब्दावली मे इसे "गति-माध्यम" (medium of motion) कहा जा सकता है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय की परिभाषा है—जो द्रव्य लोक मे स्थितिशील सभी द्रव्यो (जीव और पुद्गलो) की स्थिति (स्थिर रहना या अ-गति) मे अनन्य सहायक होता है, वह अधर्म-द्रव्य है। इसके बिना किसी भी प्रकार की स्थिति (स्थिर रहना) सम्भव नही है। वैज्ञानिक शब्दावली मे इसे "स्थिति-माध्यम" (medium of rest) कहा जा सकता है।

यहा यह ध्यान रखना होगा कि धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य दोनो केवल उदासीन सहायक है। न धर्म-द्रव्य किसी द्रव्य को गति मे प्रवृत्त करता है और न अधम-द्रव्य किसी को स्थिति मे प्रवृत्त करता है। यदि कोई जीव या पुद्गल गति या स्थिति करता है, तो ये क्रमश उसमे सहायक बनते हैं। जैसे मछलियो की गति मे जल सहायक होता है या पथिको को विश्राम करने के लिए वृक्ष की छाया सहायक होती है, वैसे धर्म-अधर्म द्रव्य समस्त गति-

स्थिति मे अनन्य सहायक होते हैं। गति और स्थिति दोनो सापेक्ष हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सभव नहीं है।

धर्म-अधर्म की तार्किक मीमांसा करने से पूर्व इनका स्वरूप समझ लेना अनुपयुक्त नही होगा। वह इस प्रकार है—

द्रव्य की दृष्टि से—ये दोनो द्रव्य एक, अखण्ड, स्वतन्त्र, वस्तुनिष्ठ सत् (objective reality) है।

क्षेत्र की दृष्टि से—ये दोनो समस्त लोक मे व्याप्त समरूप सातत्यक (homogeneous continuum) के रूप मे हैं। इनका अस्तित्व केवल लोक-आकाश तक सीमित है, अलोक-आकाश मे इनका अभाव है। लोक-आकाश के जितने प्रदेश हैं, उतने ही प्रदेश इनके हैं। सख्या की दृष्टि से ये प्रदेश असख्यात है।

काल की दृष्टि से—इनका अस्तित्व अनादि (beginningless) और अनन्त (endless) है अर्थात् शाश्वत (eternal) हैं।

भाव अर्थात् स्वरूप की दृष्टि से—ये अमूर्त (वर्ण आदि गुणो से रहित), अभौतिक और चैतन्य-रहित (अजीव) तथा स्वय अगतिशील हैं।

गुण (या लक्षण) की दृष्टि से—धर्म-द्रव्य गति-सहायक तथा अधर्म-द्रव्य स्थिति-सहायक है।

इन द्रव्यो के विषय मे गौतम की जिज्ञासा का समाधान भगवान् महावीर ने इस प्रकार किया था—

गौतम ने पूछा—भगवन्! गति-सहायक तत्त्व (धर्मास्तिकाय) जीवो को क्या लाभ होता है?

भगवान् ने कहा—गौतम! गति का सहारा नही होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की तरगे कैसे फैलती? आखें कैसे खुलती? कौन मनन करता? कौन बोलता? कौन हिलता-डुलता? यह विश्व अचल ही होता। जो चल हैं, उन सबका आलम्बन गति-सहायक तत्त्व ही है।

गौतम—भगवन्! स्थिति-सहायक तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) से जीवो को क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम! स्थिति का सहारा नही होता तो खडा कौन रहता? कौन बैठता? सोना कैसे होता? कौन मन को एकाग्र करता? मौन कौन करता? कौन निस्पन्द बनता? निमेष कैसे होता? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर हैं, उन सबका आलम्बन स्थिति-सहायक तत्त्व ही है।

सिद्धसेन दिवाकर धर्म-अधर्म के स्वतन्त्र द्रव्यत्व को आवश्यक नहीं मानते। वे इन्हे द्रव्य के पर्याय-मात्र मानते हैं।

दार्शनिक जगत् मे जैन दर्शन के सिवाय किसी भी दर्शन ने इन दो द्रव्यो के अस्तित्व की कोई चर्चा नही की है। वैज्ञानिक जगत् में न्यूटन ने

ईथर नामक गति-माध्यम (medium of motion) को स्वीकार किया था, पर उसका स्वरूप अभौतिक नही था। न्यूटन-कालीन भौतिक विज्ञान, जिसे प्राचीन (classical) कहा जाता है, मे प्रकाश-तरगो के प्रसार के माध्यम के रूप मे ईथर का अस्तित्व माना गया था। ईथर एक ऐसा भौतिक तत्त्व माना गया जो समग्र आकाश मे व्याप्त है और जो प्रकाश-तरगो के प्रसार मे उसी तरह सहायक होता है, जिस तरह समुद्र की तरगो के प्रसार मे पानी अथवा ध्वनि-तरगो के प्रसार मे हवा होती है। बाद मे जब भ्रमणशील पृथ्वी के साथ गतिशील ईथर का प्रकाश के वेग पर क्या प्रभाव पडता है, इसे मापने के लिए माइकलशन और मोर्ले ने अतिसूक्ष्मग्राही यत्रो द्वारा प्रयोग किया, तो पता चला कि ईथर का कोई प्रभाव प्रकाश की गति पर नही पडता है। इस प्रयोग के परिणामो के आधार पर बाद मे आपेक्षिकता के सिद्धान्त मे आइन्स्टीन ने ईथर नामक भौतिक गति-माध्यम के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया। आधुनिक भौतिक विज्ञान मे अब इस 'ईथर' का अस्तित्व समाप्त हो गया है। पर इससे अभौतिक ईथर (गति-माध्यम) के अस्तित्व को अस्वीकार नही किया जा सकता। वैज्ञानिक सर आर्थर एडिंग्टन ने ईथर-सम्बन्धी एक नया सिद्धान्त उपस्थित किया है। उनके अभिमत मे आपेक्षिकता के सिद्धान्त ने भौतिक ईथर का अस्तित्व मिटा दिया है, किन्तु तब भी अभौतिक ईथर का अस्तित्व तो सम्भव हो सकता है। एडिंग्टन ने आकाश और ईथर मे अविच्छिन्न सम्बन्ध की कल्पना की है और माना है कि आकाश, ईथर और क्षेत्र (field) तीनो ही एक हैं।[1]

धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य का यौक्तिक आधार

धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य को मानने के लिए हमारे सामने मुख्यतया दो यौक्तिक दृष्टिया हैं—

१ गति-स्थिति-निमित्तक द्रव्य,

२ लोक-अलोक की विभाजक शक्ति।

कार्य-कारणवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य के लिए दो प्रकार के कारण आवश्यक हैं—उपादान और निमित्त। उपादान कारण वह है, जो स्वय कार्य रूप मे परिणत हो जाए। निमित्त कारण वह है, जो कार्य के निष्पन्न होने मे सहायक हो। यदि किसी पदार्थ की गति होती है, तो उसमे उपादान कारण तो वह पदार्थ स्वय है। किन्तु निमित्त कारण क्या है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए हमे कोई ऐसे पदार्थ की आवश्यकता हो जाती है, जिसकी सहायता पदाथ की गति मे अनिवार्य हो। यदि हवा आदि को निमित्त कारण माना जाये, तो यह एक नया प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि उनकी (हवा

---

[1] New Pathways in Science, pp 38-41

आदि की) गति मे कौन-सा निमित्त कारण है ? यदि इसी प्रकार किसी अन्य द्रव्य को निमित्त माना जाए, तो ऐसे कारणो की परम्परा चलती ही जाती है और "अनवस्था दोष" (regresus ad infinitum) की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिए ऐसे पदार्थ की आवश्यकता हो जाती है, जो स्वय गतिमान् न हो।

यदि पृथ्वी, जल आदि स्थिर द्रव्यो को निमित्त कारण के रूप मे माना जाता है, तो भी यह युक्त नही होता है, क्याकि ये पदार्थ समस्त लोक-व्यापी नही है। यह आवश्यक है कि गति-माध्यम के रूप मे जिस पदार्थ को माना जाता है, वह सर्वव्यापी हो। इस प्रकार किसी ऐसे द्रव्य की कल्पना करनी पडती है, जो—

१ स्वय गतिशून्य हो,
२ समस्त लोक मे व्याप्त हो,
३ दूसरे पदार्थों की गति मे सहायक हो सके।

ऐसा द्रव्य धर्मास्तिकाय ही है। यहा यदि धर्मास्तिकाय का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार न करके आकाश-द्रव्य को ही इन लक्षणो से युक्त माना जाए, तो भी एक बडी कठिनाई उपस्थित होती है। क्योकि यदि आकाश-द्रव्य ही पदार्थों की गति मे सहायक हो, तो आकाश असीम और अनन्त होने के कारण गतिमान् पदार्थों की गति भी अनन्त आकाश मे शक्य हो जाती है—उनकी गति अबाधित हो जाती है। परिणामस्वरूप अनन्त आत्माए और अनन्त जड पदार्थ अनन्त आकाश मे निरकुशतया गति करने लग जाते हैं और उनका परस्पर सयोग होना और व्यवस्थित, सान्त और निवासित विश्व के रूप मे लोकाकाश का होना, असम्भव हो जाता है। किन्तु इस विश्व का रूप व्यवस्थित है, विश्व एक क्रमबद्ध ससार (Cosmos) के रूप मे दिखाई देता है, न कि अव्यवस्थित ढेर (Chaos) की तरह। ये तथ्य हमे इस निर्णय पर ले जाते हैं कि विश्व की व्यवस्था का आधार किसी स्वतन्त्र नियम पर है। परिणामस्वरूप हमे यह निर्णय करना पडता है कि पदार्थों की गति-अगति मे सहायक आकाश नही, अपितु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक स्वतन्त्र द्रव्य हैं।

जिस प्रकार गति-स्थिति के निमित्त के रूप मे धर्म और अधर्म-द्रव्यो की उपधारणा (पोस्च्यूलेशन) आवश्यक है, उसी प्रकार लोक-अलोक के विभाजन मे भी इनको माने बिना तर्क-सम्मत समाधान नही मिलता। जैसे कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है "लोक सीमित है और उससे आगे अलोक-आकाश असीम है। इसलिए पदार्थों की और प्राणियो की व्यवस्थित रूपरेखा को बनाए रखने के लिए आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व होना चाहिए—यदि गति और अगति का माध्यम आकाश ही है, तो फिर अलोक-आकाश का

अस्तित्व ही नही रहेगा और लोक-व्यवस्था का भी लोप हो जाएगा।" लोक और अलोक का विभाजन एक शाश्वत तथ्य है, अत. इसके विभाजक तत्त्व भी शाश्वत होने चाहिए। कृत्रिम वस्तु से शाश्वत आकाश का विभाजन नही हो सकता, अत ऊपर बताये गए छह द्रव्यो मे से ही विभाजक तत्त्व हो सकते हैं। यदि हम आकाश को ही विभाजक मानें, तो यह उपयुक्त नही होगा, क्योकि आकाश स्वय विभज्यमान है, अत वह विभाजन का हेतु नही बन सकता। यदि काल को विभाजक तत्त्व माना जाए तो भी तर्क-सगत नही होता, क्योकि काल वस्तुत (निश्चय दृष्टि से) तो जीव और अजीव की पर्याय-मात्र है। यह केवल औपचारिक द्रव्य है। व्यावहारिक काल लोक के सीमित क्षेत्र मे ही विद्यमान है, जबकि नैश्चयिक काल लोक और अलोक दोनो मे है। जीव और पुद्गल गतिशील द्रव्य है, अत ये विभाजक तत्त्व के योग्य नही है। इस प्रकार छह द्रव्यो मे से केवल दो द्रव्य शेष रह जाते हैं, जो लोक-अलोक का विभाजन कर सके। अत धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय—ये दो द्रव्य ही आकाश का विभाजन करते है। जहा-जहा ये दो विद्यमान हैं, वहा-वहा जीव और पुद्गल गति करते हैं और स्थिर रहते हैं। जहा इनका अस्तित्व नही है, वहा किसी भी द्रव्य की गति और स्थिति सम्भव नही है। इस प्रकार लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाजन हो जाता है। इसलिए कहा गया है —"धर्म और अधर्म को लोक तथा अलोक का परिच्छेदक मानना युक्तियुक्त है। यदि ऐसा न हो, तो उनके विभाग का आधार ही क्या बने ?"

इस प्रकार धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय गति-स्थिति-निमित्तक और लोक-अलोक-विभाजक द्रव्यो के रूप मे स्वीकार किए गए हैं। उक्त समग्र विवेचन को सक्षिप्त मे इस प्रकार कहा जा सकता है धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन छह द्रव्यो से बना हुआ लोक परिमित है। इस लोक से परे आकाश-द्रव्य का अनन्त समुद्र है, जिसमे गति-स्थिति-माध्यमो के अभाव के कारण कोई भी जड पदार्थ या जीव गति करने मे या ठहरने मे समर्थ नही है।

काल

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है। वस्तुवृत्त्या वह जीव और अजीव की पर्याय है। जहा इसके जीव-अजीव की पर्याय होने का उल्लेख है, वहा इसे द्रव्य भी कहा गया है। ये दोनो कथन विरोधी नही किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय दृष्टि मे काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार दृष्टि मे यह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है— 'उपकारक द्रव्यम्'। वर्तना, परिणमन, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि काल

के उपकार हैं । इन्ही के कारण यह द्रव्य माना जाता है । पदार्थों की स्थिति आदि के लिए जिसका व्यवहार होता है, वह आवलिका आदिरूप काल जीव-अजीव से भिन्न नही है, उन्ही की पर्याय है ।

दिगम्बर आचार्य काल को अणुरूप मानते है। वैदिक दर्शनो मे भी काल के सम्बन्ध मे नैश्चयिक और व्यावहारिक दोनो पक्ष मिलते है । नैयायिक और वैशेषिक काल को सर्वव्यापी और स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं । योग, साख्य आदि दर्शन काल को स्वतन्त्र द्रव्य नही मानते ।

विज्ञान की दृष्टि मे आकाश और काल

आइन्स्टीन के अनुसार आकाश और काल कोई स्वतत्र तथ्य नही है। वे द्रव्य या पदार्थ के धर्म-मात्र है ।

किसी भी वस्तु का अस्तित्व पहले तीन आयामो (dimensions) लबाई, चौडाई और गहराई या ऊचाई मे माना जाता था । आइन्स्टीन ने वस्तु का अस्तित्व चार आयामो मे माना—तीन आयाम आकाश के और एक काल का ।

वस्तु का रेखागणित (ऊचाई, लबाई, चौडाई) मे प्रसार आकाश है और उसका क्रमानुगत प्रसार काल है । काल और आकाश दोनो परस्पर जुडे हुए है ।

आइन्स्टीन के "आपेक्षिकता के सिद्धात" के अनुसार निरपेक्ष आकाश और निरपेक्ष काल का कोई अस्तित्व नही है । उनके अभिमतानुसार जिस प्रकार रग, आकार अथवा परिमाण (size) हमारी चेतना से उत्पन्न विचार है, उसी प्रकार आकाश और काल भी हमारी आतरिक कल्पना के ही रूप हैं । जिन वस्तुओ का हम आकाश मे देखते है, उनके 'क्रम' (order) के अतिरिक्त आकाश की कोई वस्तुनिष्ठ वास्तविकता (objective reality) नही है । उसी प्रकार जिन घटनाओ के द्वारा हम काल को मापते है, उन घटनाओ के 'क्रम' (sequence) के अतिरिक्त काल का कोई स्वतत्र अस्तित्व नही है ।

अस्तिकाय और काल

धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव—ये पाच अस्तिकाय हैं । ये तिर्यक-प्रचय-स्कन्ध के रूप मे है, इसलिए उन्हे अस्तिकाय कहा जाता है । धर्म, अधर्म, आकाश और एक जीव एक स्कध है । इनके देश या प्रदेश ये विभाग काल्पनिक है । मूलत ये अविभागी है । पुद्गल विभागी है । उसके स्कध और परमाणु—ये दो मुख्य विभाग है । परमाणु उसका अविभाज्य भाग है । दो परमाणु मिलते है—द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है । जितने परमाणु मिलते है, उतने प्रदेशो का स्कन्ध बन जाता है । प्रदेश का अर्थ है—पदार्थ के परमाणु

जितना अवयव या भाग। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव के स्कधो के परमाणु जितने विभाग किये जाए तो आकाश के अनन्त और शेष तीनो के असख्यात होते हैं, इसलिए आकाश को अनन्त-प्रदेशी और शेष तीनो को असख्य-प्रदेशी कहा गया है। 'देश' बुद्धि-कल्पित होता है, उसका कोई निश्चित परिमाण नही बताया जा सकता।

अस्तिकाय के स्कन्ध, देश और प्रदेश इस प्रकार हैं

अस्तिकाय	स्कन्ध	देश	प्रदेश
धर्म	एक	अनियत	असख्यात
अधर्म	एक	अनियत	असख्यात
आकाश	एक	अनियत	अनन्त
पुद्गल (स्कन्ध)	अनन्त (द्विप्रदेशी यावत् अनन्त-प्रदेशी)	अनियत	दो यावत् अनन्त परमाणु
एक जीव	एक	अनियत	असख्यात

काल के अतीत समय नष्ट हो जाते हैं। अनागत समय अनुत्पन्न होते है। इसलिए उसका स्कन्ध नही बनता। वर्तमान समय एक होता है, इसलिए उसका तिर्यक्-प्रचय (तिरछा फैलाव) नही होता। काल का स्कध या तिर्यक्-प्रचय नही होता, इसलिए वह अस्तिकाय नही है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार कालाणुओ की सख्या लोकाकाश के तुल्य है। आकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु अवस्थित है। काल शक्ति और व्यक्ति की अपेक्षा एक प्रदेश वाला है। इसलिए इसके तिर्यक्-प्रचय नही होता। धर्म आदि पाचो द्रव्य के तिर्यक्-प्रचय क्षेत्र की अपेक्षा से होता है, इसलिए वे फैलते है और काल के निमित्त से उनमे पौर्वापर्य या क्रमानुगत प्रसार होता है। समयो का जो प्रचय है वही काल द्रव्य का ऊर्ध्व-प्रचय है। काल स्वय समय-रूप है। उसकी परिणति किसी दूसरे निमित्त की अपेक्षा से नही होती। केवल ऊर्ध्व-प्रचय वाला द्रव्य अस्तिकाय नही होता। काल को छोडकर अन्य पाचो द्रव्य सावयवी होने के कारण विस्तार (extension) वाले हैं। यह विस्तार क्षेत्र की दृष्टि से एक, दो या तीन आयामो मे सम्भव है। पर काल का प्रत्येक समय स्वतन्त्र है, इसलिए उसका विस्तार सम्भव नही है।

काल के विभाग

काल चार प्रकार का होता है—प्रमाण-काल, यथायुनिर्वृत्ति-काल, मरण काल और अद्धा-काल।

काल के द्वारा पदार्थ मापे जाते हैं, इसलिए उसे प्रमाण-काल कहा

जाता है।

जीवन और मृत्यु भी काल-सापेक्ष हैं, इसलिए जीवन के अवस्थान को यथायुनिर्वृत्ति-काल और उसके अन्त को मरण-काल कहा जाता है।

सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्ध रखने वाला अद्धा-काल कहलाता है। काल का प्रधान-रूप अद्धा काल ही है। शेष तीनो इसी के विशिष्ट रूप हैं। अद्धा-काल व्यावहारिक है। वह मनुष्य-लोक मे ही होता है, इसलिए मनुष्य-लोक को 'समय-क्षेत्र' कहा जाता है। निश्चय काल जीव-अजीव की पर्याय है, वह लोक-अलोक व्यापी है। उसके विभाग नही होते। समय से लेकर पुद्गल-परावर्त तक के जितने विभाग है वे सब अद्धा-काल के है। इसका सर्व-सूक्ष्म भाग 'समय' कहलाता है। यह अविभाज्य होता है। इसकी प्ररूपणा कमलपत्र-भेद और वस्त्र-विदारण के द्वारा की जाती है—

(क) एक-दूसरे से सटे हुए कमल के सौ पत्तो को कोई बलवान् व्यक्ति सूई से छेद देता है, तब ऐसा ही लगता है कि सब पत्ते एक साथ ही छिद गए, किन्तु यह होता नही। जिस समय पहला पत्ता छिदा, उस समय दूसरा नही। इसी प्रकार सब का छेदन क्रमश होता है।

(ख) एक कलाकुशल युवा और बलिष्ठ जुलाहा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र या साडी को इतनी शीघ्रता से फाड डालता है कि दर्शक को ऐसा लगता है मानो सारा वस्त्र एक साथ फाड डाला, किन्तु ऐसा होता नही। वस्त्र अनेक तन्तुओ से बनता है। जब तक ऊपर के तन्तु नही फटते तब तक नीचे के तन्तु नही फट सकते। अत यह निश्चित है कि वस्त्र फटने मे काल-भेद होता है।

तात्पर्य यह है कि वस्त्र अनेक तन्तुओ से बनता है। प्रत्येक तन्तु मे अनेक रूए होते हैं। उनमे भी ऊपर का रूआ पहले छिदता है, तब कही उसके नीचे का रूआ छिदता है। अनन्त परमाणुओ के मिलन का नाम सघात है। अनन्त सघातो का एक समुदय और अनन्त समुदयो की एक समिति होती है। ऐसी अनन्त समितियो के सगठन से तन्तु के ऊपर का एक रूआ बनता है। इन सबका छेदन क्रमश होता है। तन्तु के पहले रूए के छेदन मे जितना समय लगता है उसका अत्यन्त सूक्ष्म अश यानी असख्यातवा भाग समय कहलाता है।

अविभाज्य काल	= एक समय
असख्यात समय	एक आवलिका
२५६ आवलिका	= एक क्षुल्लक भव (सबसे छोटी आयु)
४४४६ २४५८/३७७३ आवलिका या साधिक १७ क्षुल्लक भव	= एक प्राण या एक श्वासोच्छ्वास

७ प्राण	=एक स्तोक
७ स्तोक	=एक लव
३८½ लव	=एक घडी (२४ मिनट)
७७ लव	=दो घडी अथवा १ मुहूर्त (४८ मिनट)
	=६५५३६ क्षुल्लक भव
	=१६७७७२१६ आवलिका
	३७७३ प्राण
३० मुहूर्त	एक दिन-रात (अहोरात्र)
१५ दिन	एक पक्ष
२ पक्ष	एक मास
२ मास	एक ऋतु
३ ऋतु	-एक अयन
२ अयन	एक वर्ष
५ वर्ष	एक युग
७० लाख करोड, ५६ हजार करोड वर्ष	एक पूर्व
असख्यात वर्ष	एक पल्योपम[1]
१० क्रोडाक्रोड (क्रोड × क्रोड) पल्योपम	एक सागरोपम
२० क्रोडाक्रोड सागरोपम	एक काल-चक्र
अनन्त काल-चक्र	-एक पुद्गल परावर्त

इन सारे विभागो को सक्षेप मे अतीत, प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) और अनागत कहा जाता है।

---

१ पल्योपम--सख्या से ऊपर का काल--असख्यात काल, उपमा काल--एक चार कोश का लम्बा-चौडा और गहरा कुआ है, उसमे नवजात यौगलिक शिशु के केशो को, जो मनुष्य के केश के २४०१ हिस्से जितने सूक्ष्म हैं, असख्य खड कर ठसाठस भरा जाए, प्रति सौ वर्ष के अन्तर से एक-एक केश-खण्ड निकालते-निकालते जितने काल मे वह कुआ खाली हो, उतने काल को एक पल्योपम कहते है।

अभ्यास .

१ द्रव्य किसे कहते हैं ?

२ "अस्तिकाय की अवधारणा जैन दर्शन की एक मौलिक देन है" इसे सिद्ध करें।

३ धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को मानने के लिए क्या युक्तियां दी जा सकती हैं ?

४ लोकाकाश किसे कहते हैं ?

५ जैन दर्शन मे आकाश और काल के स्वरूप को स्पष्ट करें।

: ३ :

अब निहारें परमाणु-जगत् का ताण्डव-नृत्य

पुद्गल

विज्ञान जिसको भौतिक अस्तित्व (Physical Oreder of Existence) और न्याय-वैशेषिक आदि जिसे भौतिक तत्त्व कहते है, उसे जैन-दर्शन मे पुद्गल सज्ञा दी गयी है। बौद्ध दर्शन मे पुद्गल शब्द आलय-विज्ञान —चेतना-सतति के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। जैन-शास्त्रो मे भी अभेदोपचार से पुद्गलयुक्त आत्मा को पुद्गल कहा है। किन्तु मुख्यतया पुद्गल का अर्थ है—मूर्त्त द्रव्य। छह द्रव्यो मे काल को छोडकर शेष पाच द्रव्य अस्तिकाय है, अवयवी हैं, फिर भी इन सबकी स्थिति एक-सी नही। पुद्गल अखड द्रव्य नही है। उसका सबसे छोटा रूप एक परमाणु है और सबसे बडा रूप है विश्वव्यापी अचित्त महास्कन्ध। इसीलिए उसको पूरण-गलन-धर्मा कहा है। स्निग्ध या रूक्ष कणो की सख्या-वृद्धि का नाम 'पूरण' और उनकी सख्या-हानि का नाम 'गलन' है। शब्द, सूक्ष्म-स्थूल, हलका-भारी, लम्बा-चौडा, बन्ध-भेद, आकार, प्रकाश-अन्धकार, ताप-छाया आदि पौद्गलिक पदार्थों के विषय मे जो विस्तृत विवेचन जैन दर्शन मे प्रस्तुत हुआ है, वह जैन तत्त्वज्ञान की सूक्ष्म-दृष्टि और वैज्ञानिकता का परिचायक है।

तत्त्व-सख्या मे परमाणु की स्वतत्र गणना नही है। वह पुद्गल का ही एक विभाग है। पुद्गल के दो प्रकार बतलाए है

१ परमाणु-पुद्गल।

२ नो परमाणु-पुद्गल—द्विप्रदेशी (द्व्यणुक) आदि स्कन्ध।

पुद्गल के विषय मे जैन तत्त्ववेत्ताओ ने जो विवेचना और विश्लेषण। दी है, उसमे उनकी मौलिकता सहज सिद्ध है।

यद्यपि कुछेक पश्चिमी विद्वानो का ख्याल है कि भारत मे परमाणु-वाद यूनान से आया, किन्तु यह सही नही है। यूनान मे परमाणुवाद का जन्मदाता डिमोक्रिट्स हुआ है। उसके परमाणुवाद से जैनो का परमाणुवाद बहुताश मे भिन्न है, मौलिकता की दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। जैन-दृष्टि के अनुसार परमाणु चेतना का प्रतिपक्षी है, जबकि डिमोक्रिट्स के मतानुसार आत्मा सूक्ष्म परमाणुओ का ही विकार है।

कई भारतीय विद्वान् परमाणुवाद को कणाद ऋषि (वैशेषिक दर्शन के

प्रणेता) की उपज मानते हैं। किन्तु तटस्थ दृष्टि से देखा जाए तो वैशेषिकों का परमाणुवाद जैन-परमाणुवाद से पहले का नही है और न जैनो की तरह वैशेषिको ने उसके विभिन्न पहलुओ पर वैज्ञानिक प्रकाश ही डाला है। विद्वानो ने माना है कि भारतवर्ष मे परमाणुवाद के सिद्धात को जन्म देने का श्रेय जैन-दर्शन को मिलना चाहिए। उपनिषद् मे अणु शब्द का प्रयोग हुआ है, जैसे—'अणोरणीयान् महतो महीयान्,' किन्तु परमाणुवाद नाम की कोई वस्तु उनमे नही पायी जाती। वैशेषिको का परमाणुवाद शायद इतना पुराना नही है।

ई० पू० के जैन सूत्रो एव उत्तरवर्ती साहित्य मे परमाणु के स्वरूप और कार्य का सूक्ष्मतम अन्वेषण परमाणुवाद के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी है। श्वेताम्बर साहित्य मे भगवती सूत्र, स्थानाग सूत्र, पण्णवणा सूत्र, तत्त्वार्थसूत्र (स्वोपज्ञ भाष्य) आदि तथा दिगम्बर साहित्य मे षट्खण्डागम (धवला टीका), गोम्मटसार, वृहद् द्रव्य-सग्रह, पचास्तिकायसार, तत्त्वार्थ-राजवार्तिक आदि मे परमाणुवाद का विस्तृत विवेचन है।

परमाणु का स्वरूप

जैन-परिभाषा के अनुसार अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभागी पुद्गल को परमाणु कहा जाता है। आधुनिक विज्ञान के विद्यार्थी को परमाणु के उपलक्षणो मे सदेह हो सकता है, कारण कि विज्ञान के सूक्ष्म यन्त्रो मे परमाणु की अविभाज्यता सुरक्षित नही है।

परमाणु अगर अविभाज्य न हो तो उसे परम + अणु नही कहा जा सकता। विज्ञान सम्मत परमाणु टूटता है, उसे भी हम अस्वीकार नही करते। इस समस्या के बीच हमे जैन आगम अनुयोगद्वार मे वर्णित परमाणु-द्विविधता का सहज स्मरण हो आता है—

१ नैश्चयिक (या सूक्ष्मतम) परमाणु।

२ व्यावहारिक परमाणु।

सूक्ष्मतम परमाणु का स्वरूप वही है, जो कुछ ऊपर की पक्तियो मे बताया गया है। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्मतम परमाणुओ के समुदय से बनता है। वस्तुवृत्या वह स्वय परमाणु-पिंड है, फिर भी साधारण दृष्टि से ग्राह्य नही होता और साधारण अस्त्र-शस्त्र से तोडा नही जा सकता। उसकी परिणति सूक्ष्म होती है, इसलिए व्यवहारत उसे परमाणु कहा गया है। विज्ञान के परमाणु की तुलना इस व्यावहारिक परमाणु से होती है। इसलिए परमाणु के टूटने की बात एक सीमा तक जैन-दृष्टि को भी स्वीकार्य है।

पुद्गल के गुण

पुद्गल के मूल गुण बीस है

स्पर्श—शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, मृदु और कर्कश।

रस—अम्ल, मधुर, कटु, कषाय और तिक्त।

गन्ध—सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्ण—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत।

उपर्युक्त आठ स्पर्शों मे पहले चार स्पर्श मूलभूत हैं और शेष चार स्पर्श सयोगज हैं। इनकी तुलना विज्ञान मे प्रचलित जड पदार्थ के गुणधर्मों के साथ इस प्रकार की जा सकती है—

शीत, उष्ण—तापमान (temperature)

रूक्ष, स्निग्ध—धन (+) और ऋण (—) विद्युत्

लघु, गुरु—सहति (mass)

मृदु, कर्कश—सतही कठोरता (hardness)

यद्यपि परिमण्डल, वृत्त, त्र्यस्र, चतुरस्र आदि सस्थान (आकार) पुद्गल मे ही होता है, फिर भी वह उसका गुण नही है।

सूक्ष्म परमाणु द्रव्य-रूप मे निरवयव और अविभाज्य होते हुए भी पर्याय दृष्टि से वैसा नही है। उसमे वर्ण गध, रस और स्पर्श—ये चार गुण और अनन्त पर्याय होते हैं। एक परमाणु मे एक वर्ण, एक गध, एक रस और दो स्पर्श (शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष इन युगलो मे से एक-एक) होते हैं। पर्याय की दृष्टि से एक गुण (unit) काला परमाणु अनन्त गुण काला हो जाता है और अनन्त गुण काला परमाणु एक गुण काला। एक परमाणु मे वर्ण से वर्णान्तर, गध से गधान्तर, रस से रसान्तर और स्पर्श मे स्पर्शान्तर होना जैनदृष्टि-सम्मत है।

एक गुण काला पुद्गल यदि उसी रूप मे रहे तो जघन्यत (कम से कम) एक समय और उत्कृष्टत (अधिक से अधिक) असख्यात काल तक रह सकता है। द्विगुण से लेकर अनन्त गुण तक के परमाणु-पुद्गलो के लिए यही नियम है। बाद मे उनम परिवतन अवश्य होता है। यह वर्ण-विषयक नियम गध, रस और स्पश पर भी लागू होता है।

परमाणु की अतीन्द्रियता

परमाणु इन्द्रियग्राह्य नही होता, फिर भी अमूर्त्त नही है, वह रूपी है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष से वह देखा जाता है। परमाणु मूर्त्त होते हुए भी दृष्टि-गोचर नही होता, इसका कारण है उसकी सूक्ष्मता।

केवल-ज्ञान का विषय मूर्त्त और अमूर्त्त दोनो प्रकार के पदार्थ हैं। इसलिए केवली (सर्वज्ञ और अतीन्द्रिय-द्रष्टा) तो परमाणु को जानते ही हैं, अकेवली यानी छद्मस्थ अथवा क्षायोपशमिक ज्ञानी (जिसका आवरण-विलय अपूर्ण है) परमाणु को जान भी सकता है और नही भी। अवधिज्ञानी (रूपी

द्रव्य विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान वाला व्यक्ति) उसे जान सकता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वाला व्यक्ति उसे नही जान सकता।

परमाणु-समुदाय और पारमाणविक जगत्

यह दृश्य-जगत्—पौद्गलिक जगत् परमाणु-सघटित है। परमाणुओ से स्कन्ध बनते हैं और स्कन्धो से स्थूल पदार्थ। पुद्गल मे सघातक और विघातक—ये दोनो शक्तिया है। पुद्गल शब्द मे ही 'पूरण और गलन' इन दोनो का मेल है। परमाणु के मेल से स्कन्ध बनता है और एक स्कन्ध के टूटने से भी अनेक स्कन्ध बन जाते हैं। यह गलन (fusion) और मिलन (fission) की प्रक्रिया स्वाभाविक भी होती है और प्राणी के प्रयत्न से भी। पुद्गल की अवस्थाए सादि-सान्त होती है, अनादि-अनन्त नही। इसलिए एक पौद्गलिक पदार्थ को दूसरे पौद्गलिक पदार्थ के रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है। पारे को सोने मे बदला जा सकता है।[1] पुद्गल मे अगर वियोजक शक्ति नही होती, तो सब अणुओ का एक पिंड बन जाता और यदि सयोजक शक्ति नही होती, तो एक-एक अणु अलग-अलग रहकर कुछ नही कर पाते। प्राणी-जगत् के प्रति परमाणु का जितना भी कार्य है, वह सब परमाणु-समुदय-जन्य है,

१ विज्ञान की दुनिया मे लगभग १०० वर्षों तक यह धारणा बनी रही कि ससार के पदार्थ ९२ मूलतत्त्वो से बने हैं, जैसे सोना चादी, लोहा तावा, पारा आदि। ये तत्त्व अपरिवर्तनीय माने गए अर्थात् न तो लोहे का सोने मे और न सीसे को चादी आदि मे बदला जा सकता है। फिर रदर-फोर्ड और टामसन के प्रयोगो ने यह सिद्ध कर दिया कि चाहे लोहा हो या सोना, दोनो ही द्रव्यो के परमाणु एक-से ही कणो से मिलकर बने हैं। उदाहरण के लिए पारे के अणु का भार (atomic wieght) २०० होता है। २०० का अर्थ है हाइड्रोजन के परमाणु से २०० गुणा भारी। (हाइड्रोजन के परमाणु को इकाई माना गया है।) उसको प्रोटोन द्वारा विस्फोटित किया गया जिसमे वह प्रोटोन पारे मे घुलमिल गया और उसका भार २०१ हो गया। (प्रोटोन का भार १ होता है), तब स्वत उस नवीन अणु के मूल चूल से एक अल्फा कण निकल भागा जिसका भार ४ है, अत उतना ही भार कम हो गया और फलस्वरूप वह १९७ भार का अणु बन गया, और सोने के अणु का भार १९७ होता है। इस प्रकार पारे के पुदगलाणु की पूरण-गलन-प्रक्रिया द्वारा वह (पारा) सोना बन गया। परमाणुओ मे ये अल्फा-कण भरे पडे हैं।

हमारे शास्त्रो की परिभाषा मे यह कहा जाएगा कि पारा और सोना भिन्न-भिन्न पदार्थ नही हैं, बल्कि पुद्गल द्रव्य की दो भिन्न-भिन्न पर्याय हैं, अतएव इनका परस्पर परिवर्तन असभव बात नही है।

अनन्त परमाणु-स्कन्ध ही प्राणीजगत् के लिए उपयोगी हैं।

स्कन्ध-भेद की प्रक्रिया के कुछ उदाहरण

दो परमाणु पुद्‌गल के मेल से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है और द्विप्रदेशी स्कन्ध के भेद से दो परमाणु हो जाते हैं।

तीन परमाणु मिलने से त्रिप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उनके अलगाव मे दो विकल्प हो सकते हैं- तीन परमाणु अथवा एक परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।

चार परमाणु के समुदय से चतु प्रदेशी स्कन्ध बनता है और उसके भेद के चार विकल्प होते हैं
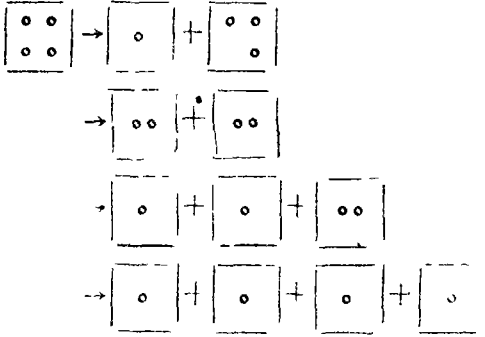
१ एक परमाणु और एक त्रिप्रदेशीय स्कन्ध।
२ दो द्विप्रदेशी स्कध।
३ दो पृथक्-पृथक् परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।
४ चारो पृथक्-पृथक् परमाणु।

पुद्‌गल मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य

पुद्‌गल शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। द्रव्यार्थतया शाश्वत है और पर्यायरूप मे अशाश्वत। परमाणु पुद्‌गल द्रव्य की अपेक्षा से अचरम (अतिम नही) है। यानी परमाणु सघात-रूप मे परिणत होकर भी पुन परमाणु बन जाता है, इसलिए द्रव्यत्व की दृष्टि से चरम (अन्तिम—ultimate) नही है। क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चरम भी होता है और अचरम भी।

पुद्‌गल की द्विविधा परिणति

पुद्‌गल की परिणति दो प्रकार की होती है.

१ सूक्ष्म,
२ बादर—स्थूल।

अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध भी जब तक सूक्ष्म परिणति मे रहता है, तब तक इन्द्रियग्राह्य नही बनता और सूक्ष्म परिणति वाले स्कन्ध चतु स्पर्शी होते है। उत्तरवर्ती चार स्पर्श स्थूल परिणाम वाले स्कन्धो मे ही होते हैं। गुरु-लघु और मृदु-कठोर —ये स्पर्श पूर्ववर्ती चार स्पर्शों के सापेक्ष सयोग से बनते हैं। रूक्ष-स्पर्श की बहुलता से लघु-स्पर्श होता है और स्निग्ध की बहुलता से गुरु। शीत और स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से मृदु-स्पर्श और उष्ण तथा रूक्ष की बहुलता से कर्कश-स्पर्श बनता है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म परिणति की निवृत्ति के साथ-साथ जहा स्थूल परिणति होती है, वहा चार स्पर्श बढ जाते हैं।

पुद्गल के प्रकार

पुद्गल द्रव्य चार प्रकार का माना गया है

१ स्कन्ध—परमाणु-प्रचय।

२ स्कध-देश—स्कन्ध का कल्पित विभाग।

३ स्कन्ध-प्रदेश—स्कन्ध से अपृथग्भूत अविभाज्य अश।

४ परमाणु— स्कन्ध से पृथक् निरश-तत्त्व।

प्रदेश और परमाणु मे सिर्फ स्कन्ध से पृथग्भाव (अलग होने) औ अपृथग्भाव (जुडे रहने) का अन्तर है।

पुद्गल कब से और कब तक

प्रवाह की अपेक्षा से स्कन्ध और परमाणु अनादि-अपर्यवसित है, कारण कि इनकी सन्तति अनादिकाल से चली आ रही है और चलती रहेगी। स्थिति की अपेक्षा से यह सादि-सपर्यवसन भी है। जैसे परमाणुओ से स्कन्ध बनता है और स्कन्ध-भेद से परमाणु बन जाते है।

परमाणु परमाणु के रूप मे और स्कन्ध स्कन्ध के रूप मे रहे तो कम से-कम एक समय और अधिक से अधिक असख्यात काल तक रह सकते है। बाद मे तो उन्हे बदलना ही पडता है। यह इनकी काल-सापेक्ष स्थिति है। क्षेत्र-सापेक्ष स्थिति—परमाणु अथवा स्कन्ध मे एक क्षेत्र मे रहने की स्थिति भी यही है।

परमाणु स्कन्धरूप मे परिणत होकर फिर परमाणु बनने मे कम-से-कम एक समय और अधिक से अधिक असख्यात काल लगता है और द्व्यणु-कादि स्कन्धो के परमाणु रूप मे अथवा त्र्यणुकादि स्कन्धरूप मे परिणत होकर फिर मूल रूप मे आने मे कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक अनन्त काल लगता है।

एक परमाणु अथवा स्कन्ध जिस आकाश-प्रदेश मे थे और किसी कारणवश वहा से चल पडे, फिर आकाश-प्रदेश मे उत्कृष्टत अनन्त काल

के बाद और जघन्यत एक समय के बाद ही आ पाते है। परमाणु आकाश के एक प्रदेश मे ही रहते हैं। स्कन्ध के लिए यह नियम नही है। वे एक, दो, सख्यात, असख्यात प्रदेशो मे रह सकते हैं, यावत् समूचे लोकाकाश तक भी फैल जाते हैं। समूचे लोक मे फैल जानेवाला स्कन्ध 'अचित्त महास्कन्ध' कहलाता है।

पुद्गल का अप्रदेशित्व और सप्रदेशित्व

द्रव्य की अपेक्षा से—स्कन्ध सप्रदेशी होते हैं।

क्षेत्र की अपेक्षा से स्कन्ध सप्रदेशी भी होते हैं और अप्रदेशी भी। जो एक आकाश प्रदेशावगाही होता है अर्थात् आकाश के एक प्रदेश मे ठहरने वाला होता है, वह अप्रदेशी और जो दो आदि आकाश-प्रदेशावगाही होता है वह सप्रदेशी।

काल की अपेक्षा से—जो स्कन्ध एक समय की स्थिति वाला होता है वह अप्रदेशी और जो इससे अधिक स्थिति वाला होता है वह सप्रदेशी।

भाव की अपेक्षा से—एक गुण (unit) वाला स्कन्ध अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी होता है।

द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से परमाणु अप्रदेशी होते हैं। काल की अपेक्षा से एक समय की स्थिति वाला परमाणु अप्रदेशी और अधिक समय की स्थिति वाला, सप्रदेशी। भाव की अपेक्षा से एक गुण वाला अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी।

परिणमन के तीन हेतु

परिणमन की अपेक्षा पुद्गल तीन प्रकार के होते है—

१ वैस्रसिक (स्वाभाविक)

२ प्रायोगिक,

३ मिश्र।

स्वभावत जिनका परिणमन होता है, वे वैस्रसिक हैं, जैसे—जीवच्छरीर। जीव के प्रयोग से शरीर आदि रूप में परिणत पुद्गल प्रायोगिक हैं। जीव के द्वारा मुक्त होने पर भी जिनका जीव के प्रयोग से हुआ परिणमन नही छूटता अथवा जीव के प्रयत्न और स्वभाव—दोनो के सयोग से जो बनते हैं, वे मिश्र कहलाते हैं, जैसे—मृत शरीर।

इनका रूपातर असख्यात काल के बाद अवश्य ही होता है।

पुद्गल द्रव्य मे ग्रहण नाम का एक गुण होता है। पुद्गल के सिवाय अन्य पदार्थो मे किसी दूसरे पदार्थ से जा मिलने की शक्ति नही है। पुद्गल का आपस मे मिलन होता है वह तो है ही, किन्तु इसके अतिरिक्त जीव के द्वारा उसका ग्रहण किया जाता है। पुद्गल स्वय जाकर जीव मे नहीं चिपटता, किंतु

वह जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ मग्न होता है। जीव-सम्बद्ध पुद्गल का जीव पर बहुविध असर होता है, जिसका औदारिक आदि वर्गणा के रूप मे आगे उल्लेख किया जाएगा।

पुद्गलो का श्रेणी-विभाग

दो परमाणुओ से लेकर अनन्त या अनन्त-अनन्त परमाणुओ के सयोग से जो स्कन्ध बनते है उनका वर्गीकरण अनेक दृष्टियो से किया जा सकता है। उनमे से एक है—जीव को काम मे आने की दृष्टि से पुद्गल-स्कन्धो का वर्गीकरण। सूक्ष्म पुद्गल-स्कन्ध जीव के काम मे नही आते, अत यह स्पष्ट है कि केवल अनन्त-अनन्त परमाणुओ के सयोग से बनने वाले स्कध ही जीव के लिए उपयोगी बनते ह। एक ही प्रकार के ऐसे पुद्गल-स्कन्धो की श्रेणी या जाति को "वगणा" (Class) कहा जाता है। पुद्गल-स्कन्धो की अनन्त वगणाओ मे से मुख्य आठ वगणाए जीव के लिए उपयोगी हैं। जीव-सम्बद्ध पुद्गलो का जीव पर बहुविध असर होता है। इस दृष्टि से ये आठ वर्गणाए बताई गई हैं।

१ औदारिक वगणा
२ वैक्रिय वगणा
३ आहारक वगणा
४ तैजस वगणा
५ कार्मण वगणा
६ श्वासोच्छ्वास वर्गणा
७ भाषा वगणा
८ मनो वगणा

इनमे पहली पाच वर्गणाए पाच प्रकार के शरीरो के निर्माण मे उपयोगी होती है। शेष तीन वगणाए क्रमश श्वास-उच्छ्वास, वाणी और मन की क्रियाओ मे काम मे आती ह।

१ **औदारिक**—स्थूल पुद्गलो से निष्पन्न रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र रूप धातुमय शरीर का निर्माण जिन पुद्गलो से होता है, वे औदारिक वगणा के पुद्गल कहलाते है। मनुष्य एव तिर्यच (पशु, पक्षी, कीट, पतग एव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि) जीवो के शरीर औदारिक वगणा के पुद्गलो से निर्मित होते ह।

२ **वैक्रिय** भाति-भाति के रूप, आकृति (जैसे—छोटा-बडा, हलका-भारी, दृश्य-अदृश्य आदि) आदि करने मे समर्थ शरीर का निर्माण वैक्रिय-वगणा के पुद्गलो से होता है। देव एव नारक जीवो को ऐसा शरीर जन्म से ही सहज प्राप्त होता है। वायुकायिक जीव, वैक्रिय-लब्धि (जन्म से नही, अपितु विशेष उपक्रम से प्राप्त सामर्थ्य)—सम्पन्न मनुष्य और तियच जीवो को भी यह प्राप्त हो सकता है। वैक्रिय-शरीर रक्त, मास आदि धातुओ से रहित होता है।

३ **आहारक**—विशेष तपस्या आदि के उपक्रम से प्राप्त आहारक लब्धि (योग-शक्ति) से निष्पन्न शरीर आहारक वर्गणाओ के पुद्गल से निर्मित होता

है। इस शरीर का उपयोग चतुर्दशपूर्व-धर (विशेष ज्ञानी) साधु अपनी जिज्ञासा के समाधान के लिए दूर-संचार (tele-commuuication) मे करते हैं। वे अपने ही शरीर मे से "आहारक शरीर" का प्रेषण दूरस्थ सर्वज्ञ को करते हैं और जिज्ञासा का समाधान पाते हैं।

४ **तैजस**—यह प्रत्येक प्राणी के स्थूल शरीर (औदारिक या वैक्रिय) के साथ रहनेवाला सूक्ष्म शरीर है, जो निरन्तर जीव के साथ रहता है। मृत्यु के उपरात भी (स्थूल शरीर के छूट जाने के बाद भी) तैजस शरीर का साहचर्य बना रहता है। यह तेजोमय परमाणुओ से निष्पन्न होता है, जिसकी तुलना जैव-विद्युत-प्लाज्मा bio-electrical plasma) के साथ की जा सकती है। तैजस वर्गणा के पुद्गल विद्युन्मय ऊर्जा के रूप मे होने के कारण जीव की पाचन-क्रिया मे रासायनिक प्रक्रियाओ के लिए जिम्मेवार होते हैं। वैज्ञानिक शब्दावली मे कहा जा सकता है कि तैजस विद्युत्-रासायनिक ऊर्जा का स्रोत है जो पाचन के लिए आवश्यक है। तैजस शरीर की ऊर्जा का विशेष नियमन कर व्यक्ति "तेजोलब्धि" नामक शक्ति उत्पन्न कर सकता है, जिसकी ऊर्जा की क्षमता सोलह जनपदो को भस्मसात करने जितनी है। उष्ण तेजो लब्धि दाहक और शीत तेजोलब्धि शामक होती है। वर्तमान-युग मे प्रयुक्त आणविक या नाभिक अभिक्रियाओ से प्राप्त ऊर्जा के साथ तेजोलब्धि की तुलना की जा सकती है।

५ **कार्मण**—कर्मों के पुद्गल-समूह इस वर्गणा के अन्तर्गत आते हैं। कार्मण वर्गणा के पुद्गल-समूह जीवो की सत्-असत् क्रिया के प्रतिफल मे जीव के साथ बध जाते हैं, जिससे कार्मण-शरीर का निर्माण होता है। कार्मण-शरीर तैजस शरीर से भी सूक्ष्मतर होता है। और तैजस शरीर की तरह सदा जीवन के साथ रहता है।

६ **श्वासोच्छ्वास**—श्वास और उच्छ्वास या आन-प्राण के योग्य पुद्गल-समूह इस वर्गणा के अन्तर्गत आते हैं। आक्सीजन के स्कन्धाणु इस वर्गणा के हैं।

७ **भाषा वर्गणा**—जब कोई भी जीव वाणी-प्रयोग करता है तब इस वर्गणा के पुद्गल-समूह को ध्वनि मे परिवर्तित कर करता है।

८ **मनो वर्गणा**—चिन्तन आदि मन की प्रवृत्तियो मे सहायक बनने वाले पुद्गल-समूह इस वर्गणा के अन्तर्गत आते हैं। कोई भी संज्ञी (मननशील) प्राणी जब चिन्तन आदि मन की प्रवृत्ति करता है, तो पहले मनो वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करता है और उनकी सहायता से मनन, चिन्तन आदि क्रियाए सम्पन्न करता है।

इन वर्गणाओ से पाच प्रकार के शरीर का निर्माण करने वाले पुद्गल स्कन्ध उत्तरोत्तर (क्रमश) सूक्ष्म और स्कन्ध-परिमाण की अपेक्षा से असख्य

गुने होते हैं तथा तैजस और कार्मण शरीर के पुद्गल-स्कन्ध अनन्त गुने होते हैं। एक पौद्गलिक पदार्थ का दूसरे पौद्गलिक पदार्थ के रूप मे परिवर्तन हो सकता है, अत एक वर्गणा के पुद्गल वर्गणान्तर के रूप मे परिवर्तित हो सकते हैं।

प्रथम चार वर्गणाए तथा श्वासोच्छ्वास वर्गणा अष्ट-स्पर्शी—स्थूल स्कन्ध हैं। वे हलकी-भारी, मृदु-कठोर भी होती हैं। कार्मण, भाषा और मन—ये तीन वर्गणाए चतु स्पर्शी हैं अर्थात् सूक्ष्म स्कन्ध है। इनमे केवल शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष—ये चार ही स्पर्श होते हैं, शेष चार स्पर्श (हलका-भारी, मृदु-कठोर) नहीं होते। श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गल क्वचित् चतु स्पर्शी भी होते है।

प्राणी और पुद्गल का सम्बन्ध

प्राणी के उपयोग मे जितने पदार्थ आते हैं, वे सब पौद्गलिक ही होते हैं, किन्तु विशेष ध्यान देने की बात यह है कि वे सब जीव-शरीर मे प्रयुक्त हुए होते हैं। तात्पर्य यह है कि वे मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकायिक जीवो के शरीर या शरीर-मुक्त पुद्गल हैं।

दूसरी दृष्टि से देखें तो स्थूल स्कन्ध वे ही हैं जो विस्रसा परिणाम से औदारिक आदि वर्गणा के रूप मे सम्बन्द्ध होकर प्राणियो के स्थूल शरीर के रूप मे परिणत अथवा उससे मुक्त होते है। वैशेषिको की तरह जैन दर्शन मे पृथ्वी, पानी आदि के परमाणु पृथक् लक्षण वाले नही हैं। इन सबमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण—ये सभी गुण रहते हैं।

पुद्गल की गति

परमाणु स्वय गतिशील है। वह एक क्षण मे लोक के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, जो असख्य योजन की दूरी पर है, चला जाता है। गति-परिणाम उसका स्वभावविक धर्म है। धर्मास्तिकाय उसका प्रेरक नही, मात्र सहायक है। गति का उपादान परमाणु स्वय है। धर्मास्तिकाय तो उसकी गति करने मे सहायक होता है, निमित्त बनता है।

परमाणु सैज (सकम्प) भी होता है और अनैज (अकम्प) भी। कम्पन (Vibrations) परमाणु की स्वाभाविक गति (motion) का एक रूप है। कदाचित् वह चचल होता है, कदाचित् नहीं। उसमे न तो निरन्तर कम्प-भाव रहता है और न निरन्तर अकम्प-भाव भी।

द्व्यणुक स्कन्ध मे कदाचित् कम्पन, कदाचित् अकम्पन होता है। वह द्व्यश (दो अश वाला) होता है, इसलिए उसमे देश-कम्प और देश-अकम्प ऐसी स्थिति भी होती है।

इसी प्रकार त्रिप्रदेशी, चतु प्रदेशी, आदि से लेकर अनन्त प्रदेशी तक

के स्कन्धो मे कम्प-अकम्प के अनेक विकल्प बनते हैं। ये विकल्प आधुनिक गणित-शास्त्र मे प्रयुक्त क्रमचय और सचय Permutations and Combinations) की विधि का अच्छा उदाहरण है।

पुद्गल की अवस्थाए

परमाणुओ के एकीकरण या पृथक्करण के परिणामस्वरूप जो पुद्गल-स्कन्ध बनते है, उनकी मुख्य दस अवस्थाए उपलब्ध होती है, जो पुद्गल के ही गुणधर्म या कार्य है—

१ शब्द (Sound)	६ भेद (Fission)
२ बन्ध (Fusion)	७ तम (Darkness)
३ सौक्ष्म्य (Subtlety)	८ छाया (Shadow)
४ स्थौल्य (Grossness)	९ आतप (Sunlight)
५ सस्थान (Configurations)	१० उद्योत (Moonlight)

ये पौद्गलिक कार्य तीन प्रकार के होते है—

१ प्रायोगिक—जीव के प्रयोग से होने वाले।

२ वैस्रसिक—जीव के स्वभाव से होने वाले।

३ मिश्र—जीव के प्रयत्न और स्वभाव—दोनो के सयोग से होने वाले।

शब्द

जैन दार्शनिको ने 'शब्द' को केवल पौद्गलिक कहकर ही विश्राम नही लिया, किन्तु उसकी उत्पत्ति, गति आदि विभिन्न पहलुओ पर पूरा प्रकाश डाला है। तार का सम्बन्ध न होते हुए भी सुघोषा घण्टा का शब्द असख्यात योजन की दूरी पर रही हुई घण्टाओ मे प्रतिध्वनित होता है।

शब्द पुद्गल-स्कन्धो के सघात और भेद से उत्पन्न होता है। उसके भाषा-शब्द (अक्षर-सहित और अक्षर-रहित), नो-भाषा शब्द (आतोद्य शब्द और नो-आतोद्य शब्द) आदि अनेक भेद है।

वक्ता बोलने से पूर्व भाषा-परमाणुओ को ग्रहण करता है, भाषा के रूप मे उनका परिणमन करता है और अन्त मे उनका उत्सर्जन करता है। उत्सर्जन के द्वारा निकले हुए भाषा वर्गणा के पुद्गल आकाश मे फैलते है। वक्ता का प्रयत्न अगर मद है तो वे पुद्गल अभिन्न रहकर 'जल-तरग-न्याय' से आकाश मे फैलकर शक्तिहीन हो जाते हैं। यदि वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है तो वे भिन्न होकर स्कन्धो को ग्रहण करते-करते सुदूर तक चले जाते हैं।

हम जो सुनते है वह वक्ता का मूल शब्द नही सुन पाते। वक्ता का शब्द श्रेणिया—आकाश-प्रदेश की पक्तियो मे फैलता है। ये श्रेणिया वक्ता के

पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊंची-नीची—छहो दिशाओ मे है। हम शब्द की सम-श्रेणी मे होते है तो मिश्र शब्द सुनते है अर्थात् वक्ता द्वारा उच्चारित शब्द-द्रव्यो और उनके द्वारा वासित शब्द-द्रव्यो को सुनते है। यदि हम विश्रेणी (विदिशा) मे होते हैं तो केवल वासित शब्द-द्रव्यो को ही सुन पाते हैं।

बन्ध

अवयवो का परस्पर अवयव और अवयवी के रूप मे परिणमन होता है, उसे बन्ध कहा जाता है। सयोग मे केवल अन्तर-रहित अवस्थान होता है, किन्तु बन्ध मे एकत्व होता है।

बध के दो प्रकार हैं—

१ वैस्रसिक—स्वभाव-जन्य बन्ध।

२ प्रायोगिक—प्रयोग-जन्य बन्ध।

वैस्रसिक बन्ध सादि और अनादि—दोनो प्रकार का होता है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो का बन्ध अनादि है। सादि बन्ध केवल पुद्गलो का होता है, द्व्यणुक आदि स्कन्ध बनते है, वह सादि बन्ध है। उसकी प्रक्रिया यह है

स्कन्ध केवल परमाणुओ के सयोग से नही बनता। स्निग्ध और रूक्ष गुण वाले परमाणुओ का परस्पर एकत्व होता है तब स्कन्ध बनता है अर्थात् स्कन्ध की उत्पत्ति का हेतु परमाणुओ का स्निग्धत्व और रूक्षत्व है।[1]

---

१ स्निग्धत्व और रूक्षत्व और वैज्ञानिक परिभाषा मे पॉजिटिव और निगेटिव विद्युत् कहा जा सकता है।

'तत्त्वार्थसूत्र' के पाचवे अध्याय, सूत्र क्रमाक ३३ मे कहा गया है—"**स्निग्ध-रूक्षत्वाद्**"—अर्थात् स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुणो के कारण अणु एक सूत्र मे बधा रहता है। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि' टीका मे एक स्थान पर लिखा है—"**स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तो विद्युत्**' अर्थात् बादलो मे स्निग्ध और रूक्ष गुणो के कारण विद्युत् की उत्पत्ति होती है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्निग्ध का अर्थ चिकना और रूक्ष का अर्थ खुरदरा नही है। ये दोनो शब्द वास्तव मे विशेष (तकनीकी) अर्थो मे प्रयुक्त हुए है। जिस तरह एक अनपढ मोटर-चालक बैटरी के एक तार को ठडा और दूसरे को गरम कहता है (यद्यपि उनमे से कोई तार ठडा और न गरम) और जिन्हे विज्ञान की भाषा मे 'पॉजिटिव' और 'नेगेटिव' कहा जाता है। ठीक उसी तरह जैन धर्म मे स्निग्ध और रूक्ष शब्दो का प्रयोग किया गया है। डॉ० बी० एन० सील ने केम्ब्रिज से प्रकाशित पुस्तक 'पॉजिटिव

विशेष नियम यह है

१ जघन्य अंश वाले स्निग्ध और रूक्ष परमाणु मिलकर स्कन्ध नही बना सकते।

२ समान अंश वाले परमाणु, यदि वे सदृश हो—केवल स्निग्ध हो या केवल रुक्ष हो—मिलकर स्कन्ध नही बना सकते।

३ स्निग्ध या रूक्षता दो अंश (unit) या तीन अंश आदि अधिक हो तो सदृश परमाणु मिलकर स्कन्ध का निर्माण कर सकते हैं।

बन्ध-काल मे अधिक अंश वाले परमाणु हीन अंश वाले परमाणुओ को अपने रूप मे परिणत कर लेते है। पाच अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अंश वाला स्निग्ध परमाणु पाच अंश वाला हो जाता है। इसी प्रकार पाच अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अंश वाला रूखा परमाणु स्निग्ध हो जाता है। जिस प्रकार स्निग्धत्व हीनांश रूक्षत्व को अपने मे मिला लेता है उसी प्रकार रूक्षत्व भी हीनांश स्निग्ध को अपने मे मिला लेता है। कभी-कभी परिस्थितिवश स्निग्ध परमाणु समांश-रूक्ष परमाणुओ को और रूक्ष परमाणु समांश स्निग्ध परमाणुओ को भी अपने-अपने रूप मे परिणत कर लेता है।

सूक्ष्मता और स्थूलता

परमाणु सूक्ष्मतम है और अचित्त-महास्कन्ध स्थूलतम है। इनके मध्य-वर्ती सौक्ष्म्य स्थौल्य आपेक्षिक है—एक स्थूल वस्तु की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को सूक्ष्म और एक सूक्ष्म वस्तु की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को स्थूल कहा जाता है।

दिगम्बर आचार्य स्थूलता और सूक्ष्मता के आधार पर पुद्गल को छह भागो मे विभक्त करते हैं—

१ **बादर-बादर**—पत्थर आदि ठोस पदार्थ (solid) जो विभक्त होकर स्वय जुड नही सकते।

साइन्सेज ऑफ एनशियेंट हिन्दुज' मे स्पष्ट लिखा है कि जैनाचार्यों को यह बात मालूम थी कि भिन्न-भिन्न वस्तुओ को आपस मे रगडने से बिजली उत्पन्न की जा सकती है। इस तरह कोई सदेह नही रह जाता कि स्निग्ध का अर्थ पाजिटिव और रूक्ष का अर्थ निगेटिव विद्युत् है। सर अर्नेस्ट रदरफोर्ड ने अपने प्रयोगो द्वारा यह असदिग्ध कर दिया है कि प्रत्येक एटम मे, चाहे वह किसी भी वस्तु का क्यो न हो, पॉजिटिव और निगेटिव बिजली के कण भिन्न-भिन्न सख्या मे विद्य-मान् रहते हैं। लोहा, चादी, सोना आदि द्रव्यो के अणुओ मे यही रचना पायी जाती है और कोई अन्तर नही है।

२ **बादर**—प्रवाही पदार्थ (liquid) जो विभक्त होकर स्वय मिल जाए।

३ **बादर-सूक्ष्म**—वायु (gas) जो स्थूल भासित होने पर भी सूक्ष्म है, आखो से देखे नही जा सकते (चाक्षुष नही हैं)।

४ **सूक्ष्म-बादर**—प्रकाश आदि सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रिय-गम्य है।

५ **सूक्ष्म**—मनोवर्गणा, भाषावर्गणा आदि पुद्गल जो इन्द्रियातीत हैं।

६ **सूक्ष्म-सूक्ष्म**—कार्मण वर्गणा आदि अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध।

छाया

यह अ-पारदर्शक और पारदर्शक—दोनो प्रकार की होती है।

आतप

यह उष्ण प्रकाश का ताप-किरण है। जैसे—सूर्य का प्रकाश।
अग्नि ताप से भिन्न है।

उद्योत

यह शीत प्रकाश का ताप-किरण है। जैसे—चन्द्र का प्रकाश।

प्रतिबिम्ब-प्रक्रिया और उसका दर्शन

पौद्गलिक वस्तुए दो प्रकार की होती है— सूक्ष्म और स्थूल। इद्रिय-गोचर होने वाली सभी वस्तुए स्थूल होती है। स्थूल वस्तुए चयापचय-धर्मक (घट बढ जाने वाली) होती है। इनमे से रश्मिया निकलती है—वस्तु आकार के अनुरूप छाया पुद्गल निकलते है और वे भास्वर (चमकीले) या अभास्वर वस्तुओ मे प्रतिबिम्बित हो जाते है। अभास्वर वस्तु मे पडने वाली छाया श्याम या काली होती है, अर्थात् उनका प्रतिबिम्ब चक्षु द्वारा ग्राह्य नही होता। भास्वर वस्तुओ मे पडने वाली छाया वस्तु के वर्णानुरूप होती है। आदर्श या शीशे (काच) मे जो शरीर के अवयवो के प्रतिबिम्ब सक्रात होते है वे प्रकाश के द्वारा दृष्टिगत होते हैं। इसलिए आदर्श-द्रष्टा (व्यक्ति) आदर्श मे न आदर्श देखता है, न अपना शरीर किन्तु अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देखता है।

प्राणी-जगत् के प्रति पुद्गल का उपकार

आहार (भोजन) शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—जीव की ये छह मुख्य क्रियाए है। इन्ही के द्वारा प्राणी की चेतना का स्थूल बोध होता है। प्राणी का आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और भाषा—ये सब पौद्गलिक है।

मानसिक चिन्तन भी पुद्गल-सहायापेक्ष है। चिन्तक चिन्तन के पूर्व-क्षण मे मनोवर्गणा के स्कन्धो को ग्रहण करता है। उससे चिन्तन के अनुकूल आकृतिया बन जाती है। एक चिन्तन से दूसरे चिन्तन मे सक्रान्त होने

समय पहली-पहली आकृतियां बाहर निकलती रहती हैं और नयी-नयी आकृतियां बन जाती हैं। वे मुक्त आकृतियां आकाश-मण्डल में फैल जाती हैं। कई थोड़े काल बाद परिवर्तित हो जाती हैं और कई असंख्यात काल तक परिवर्तित नहीं भी होतीं। इन मनोवर्गणा के स्कन्धों (विज्ञान के क्षेत्र में इन्हें Mindons कहा जाता है) का प्राणी के शरीर पर भी अनुकूल एवं प्रतिकूल परिणाम होता है। विचारों की दृढ़ता से विचित्र काम करने का सिद्धान्त इन्हीं का उपजीवी है।

यह समूचा दृश्य संसार पौद्गलिक ही है। जीव की समस्त वैभाविक अवस्थाएं पुद्गल-निमित्तक होती हैं। तात्पर्य-दृष्टि से देखा जाए तो यह जगत् जीव और परमाणुओं के विभिन्न संयोगों का प्रतिबिम्ब (परिणाम) है। जैन सूत्रों में परमाणु और जीव-परमाणु संयोगकृत दशाओं का प्रचुर वर्णन है। भगवती, प्रज्ञापना और स्थानांग आदि इसके आकर-ग्रन्थ हैं। 'परमाणु-षट्त्रिंशिका' आदि परमाणु-विषयक स्वतंत्र ग्रन्थों का निर्माण जैन-तत्त्वज्ञों की परमाणु-विषयक स्वतंत्र अन्वेषणा का मूर्त रूप है। आज के विज्ञान की अन्वेषणाओं के साथ तुलनीय विचित्र वर्णन इनमें भरे पड़े हैं। वैज्ञानिक जगत् के लिए ये अन्वेषणीय हैं।

एक द्रव्य अनेक द्रव्य

समानजातीय द्रव्यों की दृष्टि से सब द्रव्यों की स्थिति एक नहीं है। छह द्रव्यों में धर्म, अधर्म और आकाश——ये तीन द्रव्य एक-द्रव्य हैं——व्यक्ति रूप से एक हैं। इनके समानजातीय द्रव्य नहीं हैं। एक-द्रव्य द्रव्य व्यापक होते हैं। धर्म-अधर्म समूचे लोक में व्याप्त हैं। आकाश लोक-अलोक दोनों में व्याप्त है। काल, पुद्गल और जीव——ये तीन द्रव्य अनेक द्रव्य हैं——व्यक्ति रूप से अनन्त हैं।

पुद्गल द्रव्य संख्या की दृष्टि से सांख्य दर्शन में मान्य प्रकृति की तरह एक या व्यापक नहीं किन्तु अनन्त है, अनन्त परमाणु और अनन्त स्कन्ध हैं। जीवात्मा भी एक और व्यापक नहीं, अनन्त है। काल के भी समय अनन्त हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन में द्रव्यों की संख्या के दो ही विकल्प हैं——एक या अनन्त।

सादृश्य-वैसदृश्य

विशेष गुण की अपेक्षा से पांचों द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव विसदृश हैं। सामान्य गुण की अपेक्षा से वे सदृश भी हैं। व्यापक गुण की अपेक्षा से धर्म, अधर्म, आकाश सदृश हैं। अमूर्तत्व की अपेक्षा से धर्म, अधर्म, आकाश और जीव सदृश हैं। अचैतन्य की अपेक्षा से धर्म, अधर्म आकाश और पुद्गल सदृश हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व

और अगुरुलघुत्व की अपेक्षा से सभी द्रव्य सदृश है।

अभ्यास

१ पुद्गल क्या है ? उसके स्वरूप को जैन दर्शन के आधार पर बताते हुए उसकी तुलना विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित भौतिक पदार्थ और ऊर्जा के साथ करें।
२ पुद्गल के मूल गुणो के नाम एव भेद-प्रभेद स्पष्ट करें।
३ "परमाणुवाद जैन दर्शन का प्राचीनतम अवदान है"—इसे सिद्ध करें।
४ जैन दर्शन के परमाणु के विभिन्न पर्यायो को स्पष्ट करें।
५ वर्गणा किसे कहते हैं ? मुख्य वर्गणाए कौन-कौन-सी हैं ?

४

पहले अण्डा या पहले मुर्गी ?

विश्व के आदि-बिन्दु की जिज्ञासा

भगवान महावीर के सामने अण्डा और मुर्गी, जीव और अजीव, लोक और अलोक, भव्य और अभव्य, मुक्त और संसार आदि को लेकर प्रश्न किए गए कि इनमें पहले कौन और पीछे कौन होता है। भगवान् महावीर ने उत्तर दिया कि इनमें से प्रत्येक युगल के दोनों घटक पहले से हैं और पीछे रहेंगे—अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। इनमें पौर्वापर्य (पहले पीछे का क्रम) नहीं है। ये सभी शाश्वत भाव हैं। इनमें क्रम नहीं है। इस प्रकार ये सभी मूलतः अनादि हैं।

लोक-अलोक का परिमाण

धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य ससीम है—चौदह रज्जु परिणाम परिमित हैं। इसलिए लोक भी सीमित है। लोकाकाश असंख्यप्रदेशी है। अलोक अनन्त—असीम है। इसलिए अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है।

लोक-अलोक का संस्थान

लोक सुप्रतिष्ठक आकारवाला है। तीन शरावों या सिकोरों में से एक शराव औंधा, दूसरा सीधा और तीसरा उसके ऊपर औंधा रखने से जो आकार बनता है, उसे सुप्रतिष्ठक संस्थान या त्रिशरावसंपुटसंस्थान कहा जाता है।

लोक नीचे विस्तृत है, मध्य में संकरा और ऊपर-ऊपर मृदंगाकार है। इसलिए उसका आकार ठीक त्रिशरावसंपुट जैसा बनता है। अलोक का आकार बीच में पोलवाले गोले के समान है। अलोकाकाश एकाकार है। उसका कोई विभाग नहीं होता है। लोकाकाश तीन भागों में विभक्त है—ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और मध्य लोक। लोक चौदह रज्जु लम्बा है। उसमें ऊंचा लोक सात रज्जु से कुछ कम है। तिरछा लोक अठारह सौ योजन प्रमाण है। नीचा लोक सात रज्जु से अधिक है।

जिस प्रकार एक ही आकाश धर्म-अधर्म के द्वारा लोक और अलोक—इन दो भागों में बंटता है, ठीक वैसे ही इनके द्वारा लोकाकाश के तीन विभाग और प्रत्येक विभाग की भिन्न आकृतियां बनती हैं। धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य

---

१ एक रज्जु के असंख्यात योजन होते हैं।

कही विस्तृत हैं और कही सकुचित । वे नीचे की ओर विस्तृत रूप से व्याप्त हैं, अत अधोलोक का आकार आधे किए हुए शराब जैसा बनता है । मध्यलोक मे वे कृश रूप मे हैं, इसलिए उसका आकार बिना किनारी वाली झालर के समान हो जाता है । ऊपर की ओर वे फिर कुछ-कुछ विस्तृत होते चले गए हैं, इसलिए ऊर्ध्व लोक का आकार ऊर्ध्वमुख मृदग जैसा होता है । अलोकाकाश मे दूसरा कोई द्रव्य नही, इसलिए उसकी कोई आकृति नही बनती । लोकाकाश की अधिक से अधिक मोटाई सात रज्जू की है । लोक चार प्रकार का है—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक, भावलोक । द्रव्यलोक पचास्तिकायमय एक है, इसलिए वह सात है । लोक की परिधि असख्य योजन कोडाकोड की है, इस लिए क्षेत्रलोक भी सात है ।

सापेक्षवाद के आविष्कर्ता प्रो० आइन्स्टीन ने लोक का व्यास एक करोड अस्सी लाख प्रकाशवर्ष माना है । 'एक प्रकाशवर्ष' उस दूरी को कहते है, जो प्रकाश की किरण १८६००० मील प्रति सेकण्ड के हिसाब से एक वर्ष मे तय करती है ।

भगवान् महावीर ने देवताओ की 'शीघ्रगति'[1] की कल्पना से लोक की मोटाई को समझाया है । जैसे—छह देवता लोक का अन्त लेने के लिए शीघ्रगति से छहो ही दिशाओ (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊची और नीची) मे चले । ठीक उसी समय एक सेठ के घर मे एक हजार वर्ष की आयु वाला एक पुत्र जन्मा उसकी आयु समाप्त हो गई । उसके बाद हजार वर्ष की आयु वाले उसके बेटे-पोते हुए । इस प्रकार सात पीढिया बीत गई । उनके नामगोत्र भी मिट गए, तब तक वे देवता चलते रहे, फिर भी लोक के अन्त तक नही पहुचे । हा, वे चलते-चलते अधिक भाग पार कर गए । बाकी रहा वह भाग कम है—वे चले उसका असख्यातवा भाग बाकी रहा है । जितना भाग चलना बाकी रहा है उससे असख्यात गुणा भाग पार कर चुके हैं । यह लोक इतना बडा है । काल और भाव की दृष्टि से लोक अनन्त है । ऐसा कोई काल नही, जिसमे लोक का अस्तित्व न हो ।

लोक पहले था, वर्तमान मे है और भविष्य मे सदा रहेगा—इसलिए काल-लोक अनन्त है । लोक मे वर्ण, गध, रस और स्पर्श की पर्यायें अनन्त हैं तथा बादरस्कन्धो की गुरु-लघु पर्याय, सूक्ष्म स्कधो और अमूर्त्त द्रव्यो की अगुरु-लघु पर्यायें अनत हैं । इसलिए भाव-लोक अनत है ।

---

१ एक देवता मेरु पर्वत की चूलिका पर खडा है—एक लाख योजन की ऊचाई मे खडा है । नीचे चारो दिशाओ मे चार दिक्-कुमारिकाए हाथ मे बलिपिण्ड लेकर बहिर्मुखी रहकर उस बलिपिण्ड को एक साथ फेंकती हैं । उस समय वह देवता दौडता है । चारो बलिपिण्डो को जमीन पर गिरने से पहले हाथ मे लेता है । इस गति का नाम 'शीघ्रगति' है ।

लोक-स्थिति

गौतम ने पूछा—'भंते ! लोक-स्थिति कितने प्रकार की है ?'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! लोक-स्थिति के आठ प्रकार हैं—

१ वायु आकाश पर टिकी हुई है ।

२ समुद्र वायु पर टिका हुआ है ।

३ पृथ्वी समुद्र पर टिकी हुई है ।

४ त्रस-स्थावर जीव पृथ्वी पर टिके हुए हैं ।

५ अजीव-जीव के आश्रित हैं ।

६. सकर्म-जीव कर्म के आश्रित हैं ।

७ अजीव जीवो द्वारा सगृहीत हैं ।

८ जीव कर्म-सगृहीत है ।

आकाश, वायु, जल और पृथ्वी—ये विश्व के आधारभूत अग हैं । विश्व की व्यवस्था इन्ही के आधार-आधेय भाव से बनी हुई है । ससारी जीव और अजीव (पुद्गल) मे आधार-आधेय भाव और सग्राह्य सग्राहक भाव ये दोनो है । जीव आधार है और शरीर उसका आधेय । कर्म ससारी जीव का आधार है और ससारी जीव उसका आधेय ।

जीव अजीव (भाषा-वर्गणा, मनो-वर्गणा, और शरीर-वर्गणा) का सग्राहक है । कर्म ससारी जीव का सग्राहक है । तात्पर्य यह है—कर्म से बधा हुआ जीव ही सशरीर होता है । वही चलता, फिरता, बोलता और सोचता है ।

अचेतन जगत् से चेतन जगत् की जो विलक्षणताए है, वे जीव और पुद्गल के सयोग से होती हैं । जितना भी वैभाविक परिवर्तन या दृश्य रूपातर है, वह सब इन्ही की सयोग-दशा का परिणाम है ।

सृष्टिवाद

सापेक्षदृष्टि से अनुसार विश्व अनादि अनन्त और सादि-सात है, द्रव्य की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है, पर्याय की अपेक्षा से सादि-सात । लोक मे दो द्रव्य है—चेतन और अचेतन । दोनो अनादि हैं, शाश्वत है । इनका पौर्वापर्य (अनुक्रम-अनुपूर्वी) सबध नही है । पहले जीव और बाद मे अजीव अथवा पहले अजीव और बाद मे जीव—ऐसा सबध नही होता । बीज वृक्ष से पैदा होता है और वृक्ष बीज से पैदा होता है—ये प्रथम भी हैं और पश्चात् भी, अनुक्रम-सबध से रहित शाश्वत भाव हैं । इनका प्राथम्य और पाश्चात्य भाव नहीं निकाला जा सकता । यह ध्रुव अश की चर्चा है । परिणमन की दृष्टि से जगत् परिवर्तनशील है । परिवर्तन स्वाभाविक भी होता है और वैभाविक भी । स्वाभाविक परिवर्तन सब पदार्थों मे प्रतिक्षण होता है । वैभाविक

परिवर्तन कर्मबद्ध जीव और पुद्गल-स्कधो मे ही होता है। यही है हमारा दृश्य जगत्।

जैन और बौद्ध दर्शन सृष्टिवादी नही हैं। वे परिवर्तनवादी हैं। जैन दृष्टि के अनुसार दृश्य विश्व का परिवर्तन जीव और पुद्गल के सयोग से होता है। परिवर्तन स्वाभाविक और प्रायोगिक दोनो प्रकार का होता है। स्वाभाविक परिवर्तन सूक्ष्म होता है, इसलिए वह दृष्टिगम्य नही होता। प्रायोगिक परिवर्तन स्थूल होता है, इसलिए वह दृष्टिगम्य होता है। यही सृष्टि या दृश्य जगत् है। वह जीव और पुद्गल की सायोगिक अवस्थाओ के बिना नही हो जाता।

वैभाविक पर्याय की आधारभूत शक्ति दो प्रकार की होती है—ओघ और समुचित। 'घास मे घी है'—यह ओघ शक्ति है। 'दूध मे घी है'—यह समुचित शक्ति है। ओघशक्ति कार्य की नियामक है—कारण के अनुरूप कार्य पैदा होगा, अन्यथा नही। समुचित शक्ति कार्य की उत्पादक है। कारण की समग्रता बनती है और कार्य उत्पन्न हो जाता है।

जैन-दृष्टि के अनुसार विश्व एक शिल्प-गृह है। उसकी व्यवस्था स्वयं उसी मे समाविष्ट नियमो के द्वारा होती है। नियम वह पद्धति है जो चेतन और अचेतन पुद्गल के विविध-जातीय सयोग से स्वय प्रकट होती है।

परिवर्तन और विकास

जीव और अजीव (धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश, काल और पुद्गल) की समष्टि विश्व है। जीव और पुद्गल के सयोग से जो विविधता पैदा होती है, उसका नाम है—सृष्टि।

जीव और पुद्गल मे दो प्रकार की अवस्थाए मिलती हैं—स्वभाव और विभाव या विकार।

परिवर्तन का निमित्त काल बनता है। परिवर्तन का उपादान स्वय द्रव्य होता है। धर्म, अधर्म और आकाश मे स्वभाव परिवर्तन होता है। जीव और पुदगल मे काल के निमित्त से ही जो परिवर्तन होता है, वह स्वभाव-परिवर्तन कहलाता है। जीव के निमित्त से पुदगल मे और पुद्गल के निमित्त से जीव मे जो परिवर्तन होता है, उसे कहते है—विभाव-परिवर्तन। स्थूल-दृष्टि मे हमे दो पदार्थ दीखते है, एक सजीव और दूसरा निर्जीव। दूसरे शब्दो मे -जीवत्-शरीर और निर्जीव-शरीर या जीव-मुक्त शरीर। आत्मा अमूर्त है, इसलिए अदृश्य है। पुद्गल मूर्त होने के कारण दृश्य अवयव है, पर अचेतन है। आत्मा और पुद्गल दोनो के सयोग से जीवत् शरीर बनता है। पुद्गल के सहयोग के कारण जीव के ज्ञान को क्रियात्मक रूप मिलता है और जीव के सहयोग के कारण पुद्गल की ज्ञानात्मक प्रवृत्तिया होती हैं। सब

जीव चेतना-युक्त होते हैं। किन्तु चेतना की प्रवृत्ति उन्हीं की दीख पड़ती है जो शरीर-सहित होते हैं। सब पुद्गल रूप-सहित हैं, फिर भी चर्मचक्षु द्वारा वे ही दृश्य हैं, जो जीव-युक्त या जीव-मुक्त शरीर है। पुद्गल दो प्रकार के होते हैं—जीव-सहित और जीव-रहित। शस्त्र-अहत सजीव और शस्त्र-हत निर्जीव होते हैं। जीव और स्थूल शरीर के वियोग के निमित्त शस्त्र कहलाते हैं। शस्त्र के द्वारा जीव शरीर से अलग होते हैं। जीव के चले जाने पर जो शरीर या शरीर के पुद्गल स्कन्ध होते हैं—वे जीव-मुक्त शरीर कहलाते हैं। खनिज पदार्थ पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर हैं। पानी अप्कायिक जीवों का शरीर है। अग्नि तैजसकायिक, हवा वायुकायिक, तृण-लता-वृक्ष आदि वनस्पतिकायिक और शेष सब त्रसकायिक जीवों के शरीर हैं।

जीव और शरीर का सम्बन्ध अनादि-प्रवाह वाला है। वह जब तक नहीं टूटता तब तक पुद्गल जीव पर और जीव पुद्गल पर अपना-अपना प्रभाव डालते रहते हैं। वस्तुवृत्त्या जीव पर प्रभाव डालने वाला कार्मण शरीर है। यह जीव के विकारी परिवर्तन का आन्तरिक कारण है। उसे बाह्य स्थितियां प्रभावित करती हैं।

आठों वर्गणा के पुद्गल-समूह समूचे लोक में व्याप्त हैं। जब तक इनका व्यवस्थित संगठन नहीं बनता तब तक वे स्वानुकूल प्रवृत्ति के योग्य रहती हैं, किंतु उसे कर नहीं सकतीं। उनका व्यवस्थित संगठन करने वाले प्राणी हैं। प्राणी अनादिकाल से कार्मण वर्गणाओं से आवेष्टित हैं। प्राणी का निम्नतम विकसित रूप 'निगोद' है। निगोद अनादि-वनस्पति है। उसके एक-एक शरीर में अनन्त-अनन्त जीव होते हैं। यह जीवों का अक्षय कोष है और सबका मूल स्थान है। निगोद के जीव एकेन्द्रिय होते हैं। जो जीव निगोद को छोड़ दूसरी काय में नहीं गए वे 'अव्यवहार-राशि' कहलाते हैं और निगोद से बाहर निकले जीव 'व्यवहार-राशि'। अव्यवहार-राशि का तात्पर्य यह है कि उन जीवों ने अनादि-वनस्पति के सिवाय और कोई व्यवहार नहीं पाया। स्त्यानर्द्धि निद्रा (घोरतम निद्रा) के उदय में ये जीव अव्यक्त-चेतना (जघन्य-तम चैतन्यशक्ति) वाले होते हैं। इनमें विकास की कोई प्रवृत्ति नहीं होती। अव्यवहार-राशि से बाहर निकलकर प्राणी विकास की योग्यता को अनुकूल सामग्री पा अभिव्यक्त करता है। विकास की अन्तिम स्थिति है—शरीर का अत्यन्त वियोग या आत्मा की बन्धन-मुक्त दशा। यह प्रयत्न-साध्य है। निगोदीय जीवों की निम्नतम विकसित दशा स्वभाव-सिद्ध है।

स्थूल शरीर मृत्यु में छूट जाता है, पर सूक्ष्म शरीर नहीं छूटते। इसलिए फिर प्राणी को स्थूल-शरीर बनाना पड़ता है। किन्तु जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर छूट जाते हैं, तब फिर शरीर नहीं बनता।

आत्मा की अविकसित दशा में उस पर कषाय का लेप रहता है।

इससे उसमे स्व-पर की मिथ्या कल्पना बनती है। स्व मे पर की दृष्टि और पर मे स्व की दृष्टि का नाम है—मिथ्यादृष्टि। पुद्गल 'पर' है, विजातीय है, बाह्य है। उसमे स्व की भावना, आसक्ति या अनुराग पैदा होता है अथवा घृणा की भावना बनती है। ये दोनो आत्मा के आवेग या प्रकम्पन है अथवा प्रत्येक प्रवृत्ति आत्मा म कपन पैदा करती है। इनसे कार्मण वर्गणाए सगठित हो आत्मा के साथ चिपक जाता है। आत्मा को हर समय अनन्त-अनन्त कार्मण वर्गणाए आवेष्टित किए रहती है। नयी कार्मण वर्गणाए पहले की कार्मण वर्गणाओ से रासायनिक क्रिया द्वारा घुल-मिलकर एकमेक बन जाती है। सब कार्मण वर्गणाओ की योग्यता समान नही होती। कई चिकनी होती हैं, कई तीव्र रस वाली और कई मन्द रस वाली, इसलिए कई छूकर रह जाती है, कई गाढ बन्धन मे बन्ध जाती हैं। कार्मण वगणाए कर्म बनत ही अपना प्रभाव नही डालती। आत्मा का आवेष्टन बनन के बाद जो उन्हे नई बनावट या नयी शक्ति मिलती है उसका परिपाक होन पर वे फल दने या प्रभाव डालने मे समथ होती है।

वेदना चार प्रकार से भोगी जाती है।

द्रव्य से जल-वायु के अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु के सयोग स।

क्षेत्र स— -शीत-उष्ण आदि अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु के सयोग से।

काल स—गर्मी मे हैजा, सर्दी म बुखार, निमोनिया अथवा अशुभ ग्रहो के उदय स।

भाव से—असात-वेदनीय के उदय से।

वेदना का मूल असात-वेदनीय कम का उदय है। जहा भाव से वेदना है, वही द्रव्य, क्षेत्र और काल उसके (वेदना के) निमित्त बनत है। भाव-वेदना के अभाव मे द्रव्यादि कोई असर नही डाल सकते। कर्म पौद्गलिक हैं, अतएव पुद्गल-सामग्री उसके विपाक या परिपाक म निमित्त बनती है।

कर्म के पास कर्म आता है। शुद्ध या मुक्त आत्मा के कम नही लगता। कम से बन्धी आत्मा का कषाय-लेप तीव्र होता जाता है। तीव्र कषाय तीव्र कम्पन पैदा करता है और उसके द्वारा अधिक कामण-वर्गणाए खीची जाती हैं।

इसी प्रकार प्रवृत्ति का प्रकम्पन भी जैसा तीव्र या मन्द होता है, वैसी ही प्रचुर या न्यून मात्रा मे उनके द्वारा कामण-वगणाओ का ग्रहण होता है। प्रवृत्ति सत् (शुभ) और असत् (अशुभ) दोनो प्रकार की होती है। सत् से सत् कर्म और असत् से असत् कर्म बन्धत है। यही ससार, जन्म-मृत्यु या भव-परम्परा है। इस दशा मे आत्मा विकारी रहती है। इसलिए उस पर अनगिनत वस्तुओ और वस्तु-स्थितियो का असर होता रहता है। असर जो होता है, उसका कारण आत्मा की अपनी विकृत दशा है। विकारी दशा छूटने

पर शुद्ध आत्मा पर कोई वस्तु प्रभाव नही डाल सकती। यह अनुभव-सिद्ध बात है—अ-समभावी व्यक्ति जिसमे राग-द्वेष का प्राचुर्य होता है, को पग-पग पर सुख-दु ख सताते हैं। उसे कोई भी व्यक्ति थोडे मे प्रसन्न और थोडे मे अप्रसन्न बना देता है। दूसरे की चेष्टाए उसे बदलने मे भारी निमित्त बनती है। समभावी व्यक्ति की स्थिति ऐसी नही होती। कारण यही है कि उसकी आत्मा मे विकार की मात्रा कम है या उसने ज्ञान द्वारा उसे उपशान्त कर रखा है। पूर्ण विकास होने पर आत्मा पूर्णतया स्वस्थ हो जाती है, इसलिए वस्तु का उस पर कोई प्रभाव नही होता। शरीर नही रहता, तब उसके माध्यम से होने वाली सवेदना भी नही रहती। आत्मा सहजवृत्त्या अप्रकपित है। उसमे कपन शरीर-सयोग से होता है। अ-शरीर होने पर वह नही होता।

शुद्ध आत्मा का स्वरूप

शुद्ध आत्मा के स्वरूप की पहचान के लिए आठ मुख्य तत्त्व हैं —

१ अनन्त ज्ञान—सहज समुत्पन्न अबाध आत्म-ज्ञान जो इन्द्रिय या बाह्य साधनो के अपेक्षा बिना तथा बिना किसी रुकावट सीधे ही समस्त द्रव्यो और पर्यायो का जान लेता है।

२ अनन्त-दर्शन—अनन्त ज्ञान की तरह जो समस्त द्रव्यो और पर्यायो को देख लेता है।

३ क्षायक सम्यक्त्व—सदा-सदा के लिए प्राप्त सम्यग् दृष्टि, जिसमे यथार्थ के प्रति सहज श्रद्धा बनी रहती है।

४ अनन्त शक्ति—आत्मा मे विद्यमान सहज अनन्त शक्ति का अबाध स्रोत उद्घाटित हो जाता है जो ससार की किसी भी प्रकार की शक्ति से अतुलनीय है।

५ सहज आनन्द—आत्मा मे विद्यमान सहज निरपेक्ष अनन्त आनन्द का स्रोत उद्घाटित हो जाता है, जो पौद्‌गलिक सुख-दु ख की अनुभूति से परे है।

६ अटल अवगाह—आकाश प्रदेशो का नियत अवगाहन जो शाश्वत बना रहता है। जन्म-मृत्यु के चक्र से सदा-सदा के लिए मुक्ति।

७ अमूर्तिकपन—आत्मा के सहज अमूर्त्त स्वभाव का प्रकटीकरण यानी अनादिकालीन कर्म-सयोगो के कारण होने वाले मूर्तत्व (रूप) की सदा-सदा के लिए समाप्ति।

८ अगुरु-लघु भाव—कर्म-सयोग से निष्पन्न गुरुत्व-लघुत्व, हीन-अधिक, निम्न-उच्च आदि भावो से सदा-सदा के लिए मुक्ति। आत्मा के सहज सम स्वभाव का जागरण।

आत्मा की अनुद्‌बुद्ध-दशा (अज्ञान-दशा) मे कर्म-वर्गणाए इन आत्म-

शक्तियो को दबाए रखती हैं—इन्हें पूर्ण विकसित नही होने देती। भव-स्थिति पकने पर कर्म-वर्गणाए घिसती-घिसती बलहीन हो जाती हैं, तब आत्मा मे कुछ सहज बुद्धि जागती है। यहीं से आत्म-विकास का क्रम शुरू होता है। तब से दृष्टि यथार्थ बनती है, सम्यक्त्व प्राप्त होता है। यह आत्म-जागरण का पहला सोपान है। इसमे आत्मा अपने रूप को 'स्व' और बाह्य वस्तुओ को 'पर' जान ही नही लेती किन्तु उसकी सहज श्रद्धा भी वैसी ही बन जाती है। इसलिए इस दशा वाली आत्मा को अन्तर्-आत्मा, सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्वी कहते हैं। इनसे पहले की दशा मे वह बहिर् आत्मा, मिथ्या-दृष्टि या मिथ्यात्वी कहलाती है।

इस जागरण के बाद आत्मा अपनी मुक्ति के लिए आगे बढती है। सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान के सहारे वह सम्यग् चारित्र का बल बढाती है। ज्यो-ज्यो चारित्र का बल बढता है, त्यो-त्यो कर्म-वर्गणाओ का आकर्षण कम होता जाता है। सत् प्रवृत्ति या अहिमात्मक प्रवृत्ति से पहले बधे कर्म शिथिल हो जाते हैं। चलते-चलते ऐसी विशुद्धि बढती है कि आत्मा शरीर-दशा मे भी निरावरण बन जाती है। ज्ञान, दर्शन, वीतराग-भाव और शक्ति का पूर्ण या बाधाहीन या बाह्य वस्तुओ से अप्रभावित विकास हो जाता है। इस दशा मे भव या शेष आयुष्य को टिकाए रखने वाले चार कर्म—भवोपग्राही कर्म[1] बाकी रहते हैं। जीवन के अन्त मे ये भी टूट जाते हैं। आत्मा पूर्ण मुक्त या बाहरी प्रभावो से सर्वथा रहित हो जाती है। तुम्बा जैसे पानी पर तैरने लग जाता है, वैसे ही बन्धनमुक्त आत्मा लोक के अग्रभाग मे अवस्थित हो जाती है। मुक्त आत्मा मे वैभाविक परिवर्तन नही होता, स्वाभाविक परिवर्तन अवश्य होता है। वह वस्तुमात्र का अवश्यम्भावी धर्म है।

परिवर्तन और विकास की मर्यादा

सत्य की व्याख्या अनेकान्तदृष्टि से ही हो सकती है। परिवर्तन विश्व-व्यवस्था का एक अग है। किन्तु विश्व-व्यवस्था पर उनका पूर्ण नियत्रण नही है। विश्व के अचल मे शाश्वत (अचल) तत्त्व भी विद्यमान है।

कुछ कार्य प्रवृत्ति-जनित हैं, कुछ नैसर्गिक है। इस बहुरूपी व्यवस्था के रहस्यो को उद्घाटित करने के लिए जैन दर्शन ने कुछ सिद्धात प्रतिपादित किए हैं, उनका ज्ञान बहुत उपयोगी है।

असम्भाव्य-कार्य

१ अजीव को जीव नही बनाया जा सकता।
२ जीव को अजीव नही बनाया जा सकता।

---

१ वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म।

३ एक 'समय' मे दो भाषा (सत्य, असत्य, मिश्र, व्यवहार—इन चार भाषाओ मे से) नही बोली जा सकती।

४ अपने किए कर्मों के फलो को इच्छा-अधीन नहीं किया जा सकता।

५ वास्तविक परमाणु नही तोडा जा सकता।

६ अलोक मे नही जाया जा सकता।

सर्वज्ञ या विशिष्ट योगी (अतीन्द्रियज्ञानी) के सिवाय कोई भी व्यक्ति इन तत्त्वो का साक्षात्कार नही कर सकता—

१ धर्म (गति तत्त्व)।	४ शरीर-रहित जीव।
२ अधर्म (स्थिति-तत्त्व)।	५ परमाणु।
३ आकाश।	६ शब्द।

समस्या और समाधान

लोक शाश्वत है या अशाश्वत ? आत्मा शाश्वत है या अशाश्वत ? आत्मा शरीर से भिन्न है या अभिन्न ? जीवो मे जो भेद है, वह कर्मकृत है या अन्यकृत ? कर्म का कर्त्ता और भोक्ता स्वय जीव है या अन्य कोई ? ये अनेक समस्याए हैं, जो मनुष्य को सदिग्ध किए रहती हैं।

१ आत्मा शाश्वत है, तो विनाश और परिवर्तन कैसे ? यदि वह अशाश्वत है, तो अतीत, अनागत, नवीन, पुरातन आदि-आदि भेद कैसे ?

२ आत्मा शाश्वत है, तो मृत्यु कैसे ? यदि अशाश्वत है, तो विभिन्न चैतन्य-सन्तति की एकात्मकता कैसे ?

३ आत्मा शरीर से भिन्न है, तो शरीर मे सुख-दुख की अनुभूति कैसे ? यदि वह शरीर से अभिन्न है, तो शरीर और आत्मा—ये दो पदार्थ क्यो ?

४ जीवो की विचित्रता कर्म-कृत है, तो साम्यवाद कैसे ? यदि वह अन्यकृत है, तो कर्मवाद क्यो ?

५ कर्म का कर्त्ता और भोक्ता यदि जीव ही है, तो बुरे कर्म और उसके फल का उपभोग कैसे ? यदि जीव कर्त्ता-भोक्ता नही है, तो कर्म और कर्म-फल से उसका सम्बन्ध कैसे ?

इन सबका समाधान करने के लिए अनेकातदृष्टि आवश्यक है। अनेकातदृष्टि के एकागी विचारो मे इनका विरोध नही मिट सकता।

इन समस्याओ का समाधान जैन दार्शनिको ने इस प्रकार किया है

१ लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। काल की अपेक्षा से लोक शाश्वत है। ऐसा कोई काल नही, जिसमे लोक का अस्तित्व न मिले। त्रिकाल मे वह एक-रूप नही रहता, इस लिए वह अशाश्वत भी है। जो एकातत शाश्वत होता है, उसमे परिवर्तन नही हो सकता, इसलिए वह अशाश्वत है।

जो एकान्ततः अशाश्वत होता है, उसमे अन्वयी-सम्बन्ध नही हो सकता। पहले क्षण मे होने वाला लोक दूसरे क्षण अत्यन्त उच्छिन्न हो जाए, तो फिर 'वर्तमान' के अतिरिक्त अतीत, अनागत आदि का भेद नही घटता। कोई ध्रुव पदार्थ हो—त्रिकाल मे टिका रहे, तभी वह था, है और रहेगा—यो कहा जा सकता है। पदार्थ यदि क्षण-विनाशी ही हो, तो अतीत (भूत) और अनागत (भविष्य) के भेद का कोई आधार ही नही रहता। इसलिए विभिन्न पर्यायो के बावजूद भी 'लोक शाश्वत है' यह माने बिना भी स्थिति स्पष्ट नही होती।

२ आत्मा के लिए भी यही बात है। वह शाश्वत और अशाश्वत दोनो है

द्रव्यत्व की दृष्टि से शाश्वत है—आत्मा पूर्व और उत्तर सभी क्षणो मे रहता है, अन्वयी है, चैतन्य-पर्यायो का सकलनकर्त्ता है।

पर्याय की दृष्टि से अशाश्वत है—विभिन्न रूपो मे—एक शरीर से दूसरे शरीर मे, एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे उसका परिणमन होता है।

३ आत्मा शरीर से भिन्न भी है, अभिन्न भी। स्वरूप की दृष्टि से भिन्न है और सयोग एव उपकार की दृष्टि से अभिन्न। आत्मा का स्वरूप चैतन्य है और शरीर का स्वरूप जड, इसलिए ये दोनो भिन्न है। ससारावस्था मे आत्मा और शरीर का दूध-पानी की तरह, लोह-अग्निपिण्ड की तरह तादात्म्य सयोग होता है, इसलिए शरीर से किसी वस्तु का स्पर्श होने पर आत्मा मे सवेदन होता है।

४ एक जीव की स्थिति दूसरे जीव से भिन्न है। उसका कारण कर्म अवश्य है, किंतु केवल कर्म ही नही। उसके अतिरिक्त काल, स्वभाव, नियति उद्योग आदि अनेक तत्त्व है। कर्म दो प्रकार का होता है—सोपक्रम और निरुपक्रम अथवा सापेक्ष और निरपेक्ष। फल-काल मे कई कर्म बाहरी स्थितियो की अपेक्षा नही रखते और कई रखते है। कई कर्म विपाक के अनुकूल सामग्री मिलने पर फल देते है और कई उसके बिना भी। कर्मोदय अनेकविध होता है, इसलिए कर्मवाद का साम्यवाद मे विरोध नही है। कर्मोदय की सामग्री समान होने पर प्राणियो की स्थिति बहुत कुछ समान हो सकती है, होती भी है। जैन सूत्रो मे कल्पातीत देवताओ की समान स्थिति का जो वर्णन है, वह आज के इस साम्यवाद से कही अधिक रोमाचकारी है। कल्पातीत देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, अनुभाव, सुख आदि समान होता है, उनमे न कोई स्वामी होता है और न कोई सेवक, वे सब अहमिन्द्र—स्वय इन्द्र है। अनेक देशो मे तथा समूचे भू-भाग मे यदि खान-पान, रहन-महन, रीति-रिवाज समान हो जाए, स्वामी-सेवक का भेद-भाव मिट जाए, राज्य-सत्ता जैसी कोई केन्द्रित शक्ति न रहे, तो उससे कर्मवाद की स्थिति मे कोई आच नही आती।

रोटी की सुलभता से ही विषमता नही मिटती। प्राणियो मे विविध प्रकार की गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग सबधी विसदृशता है। उसका कारण उनके अपने विभिन्न कर्म ही हैं। एक पशु है तो एक मनुष्य, एक दो इन्द्रियवाला कृमि है तो एक पाच इन्द्रियवाला मनुष्य। यह विषमता क्यो ? इसका कारण स्वोपार्जित कर्म के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता।

५ मुक्त आत्माए कर्म की कर्त्ता, भोक्ता कुछ भी नहीं हैं। बद्ध आत्माए कर्म करती हैं और उनका फल भोगती है। उनके कर्म का प्रवाह अनादि है और वह कर्म-मूल नष्ट न होने तक चलता रहता है। आत्मा स्वय कर्त्ता-भोक्ता होकर भी जिन कर्मों का फल अनिष्ट हो, वैसे कर्म क्यो करे और कर भी ले तो उसका अनिष्ट फल स्वय क्यो भोगे ? इस प्रश्न के मूल मे ही भूल है। आत्मा मे कर्तृत्वशक्ति है, उसी से वह कर्म नही करती, किंतु उसके पीछे राग-द्वेष, स्वत्व-परत्व की प्रबल प्रेरणा होती है। पूर्वकर्म-जनित वेग से आत्मा पूर्णतया दबती नही, तो सब जगह उसे टाल भी नही सकती। एक बुरा कर्म आगे के लिए भी आत्मा मे बुरी प्रेरणा छोड देता है। भोक्तृत्व-शक्ति की भी यही बात है। आत्मा मे बुरा फल भोगने की चाह नही होती, पर बुरा या भला फल चाह के अनुसार नही मिलता, वह पहले की क्रिया के अनुसार मिलता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है—यह स्वाभाविक बात है। विष खाने वाला यह न चाहे कि मैं मरू, फिर भी उसकी मौत टल नही सकती। कारण कि विष क्रिया उसकी इच्छा पर निर्भर नही है, वह उसे खाने की क्रिया पर निर्भर है।

अभ्यास

१ पहले अण्डा या मुर्गी ?—इस प्रश्न का भगवान् महावीर ने क्या समाधान दिया ?
२ लोक और अलोक के स्वरूप को अपने शब्दो मे समझाइए।
३ सृष्टिवाद की विभिन्न अवधारणाओ को प्रस्तुत करें।
४ जैन दर्शन की अनादि-अनन्त विश्व की मान्यता को सिद्ध करें।
५ विश्व मे चलने वाले परिवर्तन और विकास की व्याख्या जैन-दर्शन कैसे करता है ?

: ५ :

विश्व : विकास और ह्रास

जीवन-प्रवाह के बारे मे अनेक धारणाए है। बहुत सारे इसे अनादि-अनत मानते हैं तो बहुत सारे सादि-सात। जीवन-प्रवाह को अनादि-अनत मानने वालो की उसकी उत्पत्ति पर विचार करने की आवश्यकता नही होती। चैतन्य कब, कैसे और किससे उत्पन्न हुआ—ये समस्याए उन्हे सताती है जो असत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। 'उपादान' की मर्यादाओ को स्वीकार करने वाले असत् से सत् की उत्पत्ति नही मान सकते। नियामकता की दृष्टि मे ऐसा होना भी नही चाहिए, अन्यथा समझ से परे की अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

जैन दृष्टि के अनुसार यह जगत् अनादि-अनत है। इसकी मात्रा न घटती है, न बढती है, केवल रूपान्तर होता है।

विश्व-स्थिति का मूल सूत्र

विश्व-स्थिति के आधारभूत कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र इस प्रकार है -

१ **पूर्वजन्म**—जीव मर कर बार-बार जन्म लेते है।

२ **कर्मबन्ध**—जीव सदा (प्रवाहरूपेण अनादिकाल से) कर्म बाधते है।

३ **मोहनीय-कर्मबन्ध**—जीव सदा (प्रवाहरूपेण अनादिकाल से) निरन्तर मोहनीय कर्म बाधते हैं।

४ **जीव-अजीव का अत्यन्ताभाव**—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि जीव-अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए।

५ **त्रस-स्थावर-अविच्छेद**—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि सभी त्रस (चलने-फिरने वाले) जीव स्थावर (गमन करने मे असमर्थ) बन जाए या सभी स्थावर जीव त्रस बन जाए या सभी जीव केवल त्रस या केवल स्थावर हो जाए।

६ **लोकालोक पृथक्त्व**—ऐसा न हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक हो जाए और अलोक लोक हो जाए।

७ **लोकालोक अन्योन्याऽप्रवेश**—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक मे प्रवेश करे और अलोक लोक मे प्रवेश करे।

८ **लोक और जीवो का आधार-आधेय सम्बन्ध**—जितने क्षेत्र का

नाम लोक है, उतने क्षेत्र मे जीव हैं और जितने क्षेत्र मे जीव हैं, उतने क्षेत्र का नाम लोक है।

९ **लोक-मर्यादा**—जितने क्षेत्र मे जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं, उतना क्षेत्र 'लोक' है और जितना क्षेत्र 'लोक' है उतने क्षेत्र मे जीव और पुद्गल गति कर सकते है।

१० **अलोक-गति-कारणाभाव**—लोक के सब अन्तिम भागो के पुद्गल स्वभाव से ही रूक्ष होते हैं। वे गति मे सहायता करने की स्थिति मे सगठित नही हो सकते। उनकी सहायता के बिना जीव अलोक मे गति नही कर सकते।

विकास और ह्रास

विकास और ह्रास—ये परिवर्तन के मुख्य पहलू है। एकान्तनित्य-स्थिति मे न विकास हो सकता है और न ह्रास। परिणामी नित्यत्व के अनुसार ये दोनो हो सकते हैं। विकास और ह्रास जीव और पुद्गल—इन दो द्रव्यो मे होता है। जीव का अन्तिम विकास है—मुक्त-दशा। यहा पहुचने पर फिर ह्रास नही होता। इससे पहले आध्यात्मिक क्रम-विकास की जो चौदह भूमिकाए हैं, उनमे आठवी (क्षपक-श्रेणी) भूमिका पर पहुचने के बाद मुक्त बनने से पहले क्षण तक क्रमिक विकास होता है। इससे पहले विकास और ह्रास—ये दोनो चलते है। कभी ह्रास से विकास और कभी विकास से ह्रास होता रहता है। विकास-दशाए ये है

१ अव्यवहार राशि साधारण-वनस्पति (एक शरीर मे अनन्त जीव)।

२ व्यवहार राशि प्रत्येक-वनस्पति (एक शरीर मे एक जीव) साधारण-वनस्पति।

(क) एकेन्द्रिय साधारण-वनस्पति, प्रत्येक-वनस्पति, पृथ्वी पानी, तेजस्, वायु।
(ख) द्वीन्द्रिय।
(ग) त्रीन्द्रिय।
(घ) चतुरिन्द्रिय।
(ड) पचेन्द्रिय अमनस्क, समनस्क।

प्रत्येक प्राणी इन सबको क्रमश पार करके आगे बढ़ता है, यह बात नही। इनका उत्क्रमण भी होता है। यह प्राणियो की योग्यता का क्रम है, उत्क्रान्ति का क्रम नही। उत्क्रमण और अपक्रमण जीवो की आध्यात्मिक योग्यता और सहयोगी परिस्थितियो के समन्वय पर निर्भर है।

ध्येय की ओर बढ़ने से जीव का आध्यात्मिक विकास होता है—ऐसी

कुछ दार्शनिको की मान्यता है। किन्तु ये दार्शनिक विचार भी बाह्य प्रेरणा हैं। आत्मा स्वत स्फूर्त है। वह ध्येय की ओर बढने के लिए बाध्य नही, स्वतत्र है। ध्येय की उचित रीति समझ लेने के बाद वह उसकी ओर बढने का प्रयत्न कर सकती है। उचित सामग्री मिलने पर वह प्रयत्न सफल भी हो सकता है। किन्तु 'ध्येय की ओर प्रगति' का यह सर्वसामान्य नियम नही है। यह काल, स्वभाव, नियति, उद्योग आदि विशेष सामग्री-सापेक्ष है।

वैज्ञानिक विकासवाद बाह्य स्थितियो का आकलन है। अतीत की अपेक्षा विकास की परम्परा आगे बढ़ती है, यह निश्चित सत्य नहीं है। किन्ही का विकास हुआ है तो किन्ही का ह्रास भी हुआ है। अतीत ने नयी आकृतियो की परम्परा को आगे बढाया है, तो वर्तमान ने पुराने रूपो को अपनी गोद मे समेटा भी है। इसलिए अकेले अवसर की दी हुई अधिक स्वतन्त्रता मान्य नही हो सकती। विकास बाह्य परिस्थिति द्वारा परिचालित हो—आत्मा अपने से बाहर वाली शक्ति से परिचालित हो, तो वह स्वतन्त्र नही हो सकती। परिस्थिति का दास बनकर आत्मा कभी अपना विकास नही साध सकती।

पुद्गल की शक्तियो का विकास और ह्रास—ये दो सदा चलते हैं। इनके विकास या ह्रास का निरवधिक चरम रूप नही है। शक्ति की दृष्टि से एक पौद्गलिक स्कन्ध मे अनन्त-गुण तारतम्य हो जाता है। आकार-रचना की दृष्टि से एक-एक परमाणु मिलकर अनन्तप्रदेशी स्कध बन जाता है और फिर वे बिखरकर एक-एक परमाणु बन जाते हैं।

पुद्गल अचेतन है, इसलिए उसका विकास या ह्रास चैतन्य-प्रेरित नही होता। जीव के विकास या ह्रास की यह विशेषता है कि उसमे चैतन्य होता है, इसलिए उसके विकास-ह्रास मे बाहरी प्रेरणा के अतिरिक्त आतरिक प्रेरणा भी होती है।

जीव (चैतन्य) और शरीर का लोलीभूत सश्लेष होता है, इसलिए आतरिक प्रेरणा के दो रूप बन जाते है—आत्म-जनित और शरीर-जनित।

आत्म-जनित आतरिक प्रेरणा से आध्यात्मिक विकास होता है और शरीर-जनित से शारीरिक विकास।

शरीर पाच हैं। उनमे दो सूक्ष्म हैं और तीन स्थूल। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का प्रेरक होता है। इसकी वर्गणाए शुभ और अशुभ दोनो प्रकार की होती हैं। शुभ वर्गणाओ के उदय से पौद्गलिक या शारीरिक विकास होता है और अशुभ वर्गणाओ के उदय से आत्म-चेतना का ह्रास, आवरण और शारीरिक स्थिति का भी ह्रास होता है।

जैन-दृष्टि के अनुसार चेतना और अचेतन-पुद्गल-सयोगात्मक सृष्टि का विकास क्रमिक ही होता है, ऐसा नही है।

विकास और ह्रास के कारण

चेतना के व्यक्तिश विकास और ह्रास का मुख्य कारण है आन्तरिक प्रेरणा या आतरिक स्थिति या आतरिक योग्यता और सहायक कारण है बाहरी स्थिति। बाहरी स्थितिया केवल आतरिक वृत्तियो को जगाती हैं, उनका नये सिरे से निर्माण नही करती। चेतन मे योग्यता होती है, वही बाहरी स्थिति का सहारा पा विकसित हो जाती है।

१ अन्तरग योग्यता और बहिरग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न होता है।
२ अन्तरग अयोग्यता, बहिरग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न नही होता।
३ अन्तरग योग्यता, बहिरग प्रतिकूलता—कार्य उत्पन्न नही होता।
४ अन्तरग अयोग्यता, बहिरग प्रतिकूलता—कार्य उत्पन्न नही होता।

इससे यह स्पष्ट है कि जो सिद्धात केवल बाहरी स्थितियो को महत्त्व देता है, वह उपयुक्त नही है।

प्रत्येक प्राणी मे दस सज्ञाए होती है—क्रोध, मान, माया, लोभ, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, लोक और ओघ। (सज्ञाओ के बारे मे आगे चर्चा की गई है)। इन सज्ञाओ के साथ सहज ही जीवन-सुख की कुछ आकाक्षाए या एषणाए भी होती है जिनमे तीन एषणाए मुख्य है—

१ प्राणैषणा—मैं जीवित रहू।
२ पुत्रैषणा—मेरी सतति चले।
३ वित्तैषणा—मैं धनी बनू।

अर्थ और काम की इस आतरिक प्रेरणा तथा भूख, प्यास, ठडक, गर्मी आदि-आदि बाहरी स्थितियो के प्रभाव से प्राणी की बहिर्मुखी वृत्तियो का विकास होता है। यह एक जीवनगत-विकास की स्थिति है। विकास का प्रवाह भी चलता है। एक पीढी का विकास दूसरी पीढी को अनायास मिल जाता है। किन्तु उद्भिद्-जगत् से लेकर मनुष्य-जगत् तक का जो विकास है, वह पहली पीढी के विकास की देन नही है। यह व्यक्ति-विकास की स्वतन्त्र गति है। उद्भिद्-जगत् से भिन्न जातिया उसकी शाखाए नही, किन्तु स्वतन्त्र है। उद्भिद् जाति का एक जीव पुनर्जन्म के माध्यम से मनुष्य बन सकता है। यह जातिगत विकास नही, व्यक्तिगत विकास है।

विकास होता है, इसमे डार्विन का विकासवाद और जैन-दृष्टि—दोनो विचार एक रेखा पर है। किन्तु दोनो की प्रक्रिया भिन्न है। डार्विन के विकासवाद मे केवल प्रजातीय विकास के क्रम की समीक्षा की गई है। जैन दर्शन ने व्यक्ति-विकास की सभावनाओ को अभिव्यक्ति दी है। डार्विन ने विकासवाद मे व्यक्तिश जीव के विकास-ह्रास की कोई चर्चा नही की है। डार्विन को आत्मा और कर्म की योग्यता ज्ञात होती तो उनका ध्यान केवल जाति, जो कि बाहरी वस्तु है, के विकास की ओर नही जाता। आन्तरिक

योग्यता की कमी होने पर एक मनुष्य फिर से उद्भिद् जाति में जा सकता है, यह व्यक्तिगत ह्रास है।

प्राणि-विभाग

गमन-क्षमता के आधार पर जैन दर्शन मे प्राणियो के वर्गीकरण विभिन्न दृष्टियो से किए गए हैं। प्राणी दो प्रकार के होते हैं—चर या त्रस और अचर या स्थावर। अचर प्राणी पाच प्रकार के होते हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। चर प्राणियो के आठ भेद होते है—१ अण्डज, २ पोतज, ३ जरायुज, ४ रसज, ५ सस्वेदज, ६ सम्मूर्च्छिम, ७ उदभिद्, ८ उपपातज। इनमे अण्डज, पोतज और जरायुज गर्भज कहलाते हैं। रसज, सस्वेदज, सम्मूर्च्छिम और उद्भिद् 'सम्मूर्च्छन' कहलाते हैं।

१ अण्डज—अण्डो से उत्पन्न होने वाले प्राणी अण्डज कहलाते हैं। जैसे—साप, मछली, पक्षी—कबूतर, हस, काक, मोर आदि जन्तु।

२ पोतज—जो जीव खुले अग से उत्पन्न होते है, वे पोतज कहलाते हैं। जैसे—हाथी, नकुल, चूहा, बगुला आदि।

३ जरायुज—जरायुज एक तरह का जाल जैसा रक्त एव मास से लथडा हुआ आवरण होता है और जन्म के समय वह बच्चे के शरीर पर लिपटा हुआ रहता है। ऐसे जन्म वाले प्राणी जरायुज कहलाते हैं। जैसे—मनुष्य, गाय, भैंस, ऊट, घोडा, मृग, सिंह, रीछ, कुत्ता, बिल्ली आदि।

४ रसज—मद्य आदि तरल (रस) पदार्थों मे जो किण्वन (fermentation) की क्रिया के दौरान कृमि उत्पन्न होते है, वे रसज कहलाते हैं।

५ सस्वेदज—स्वेद (पसीने) मे उत्पन्न होनेवाले सस्वेदज कहलाते है। जैसे—जू आदि।

६ सम्मूर्च्छिम—गर्भ-धारण के बिना उपयुक्त सामग्री मे रखे गए अडे आदि से जो उत्पन्न हो जाते है, वे सम्मूर्च्छिम हैं। इनका उत्पत्ति-स्थान नियत नही होता। जैसे—चीटी, मक्खी आदि।

७ उद्भिद्—सम्मूर्च्छिम प्राणियो मे जो भूमि को भेदकर निकलने वाले प्राणी होते है, वे उद्भिद् कहलाते है। जैसे-टिड्डी आदि।

८ उपपातज—शय्या एव कुम्भी मे उत्पन्न होने वाले उपपातज हैं। जैसे—देवता, नारक।

उत्पत्ति-स्थान

सब प्रकार के प्राणी (जिन्हे भूत, जीव और सत्त्व भी कहा जाता है) नाना प्रकार की योनियो मे उत्पन्न होते हैं, वही रहते हैं और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वे शरीर से उत्पन्न होते हैं, शरीर मे रहते हैं, शरीर मे वृद्धि को

प्राप्त करते है और शरीर का ही आहार करते है। वे कर्म के अनुगामी है। कर्म ही उनकी उत्पत्ति, स्थिति और गति का आदि कारण है। वे कर्म के प्रभाव से ही विभिन्न अवस्थाओ को प्राप्त करते हैं।

प्राणियो के उत्पत्ति-स्थान ८४ लाख हैं और उनके 'कुल' (योनि का उपवर्ग) एक करोड़ साढ़े सत्तानवे लाख (१,९७,५०,०००) है। एक उत्पत्ति-स्थान मे अनेक कुल होते है। जैसे-गोबर एक ही योनि है और उसमे कृमि-कुल, कीट-कुल, वृश्चिक-कुल आदि अनेक कुल है।

उत्पत्ति-स्थान एव कुल-कोटि के अध्ययन से जाना जाता है कि प्राणियो की विविधता एव भिन्नता का होना असभव नही।

स्थावर-जगत्

त्रस जीवो मे गति, अगति, भाषा, इच्छा-व्यक्तीकरण आदि-आदि चैतन्य के स्पष्ट चिह्न प्रतीत होते है, इसलिए उनकी सचेतनता मे कोई सदेह नही होता। स्थावर जीवो मे जीव के व्यावहारिक लक्षण स्पष्ट प्रतीत नही होते, इसलिए उनकी सजीवता चक्षुगम्य नही है। जैन सूत्र बताते हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये पाचो स्थावर काय सजीव है। इसका आधारभूत सिद्धात यह है—हमे जितने पुद्गल दीखते है, ये सब जीवत्-शरीर या जीव-मुक्त शरीर है। जिन पुद्गल-स्कधो को जीव अपने शरीर-रूप मे परिणत कर लेते है, उन्ही को हम देख सकते है, दूसरो को नही। पाच-स्थावर के रूप मे परिणत पुद्गल दृश्य है। इससे प्रमाणित होता है कि ये सजीव है। जिस प्रकार मनुष्य का शरीर उत्पत्तिकाल मे सजीव ही होता है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी प्रारम्भ मे सजीव ही होते है। जिस प्रकार स्वाभाविक अथवा प्रायोगिक मृत्यु से मनुष्य-शरीर निर्जीव या आत्मा-रहित हो जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी स्वाभाविक या प्रायोगिक मृत्यु से निर्जीव बन जाते हैं।

इनकी सजीवता का बोध कराने के लिए पूर्ववर्ती आचार्यों ने तुलनात्मक युक्तिया भी प्रस्तुत की है। जसे—

१ मनुष्य-शरीर मे समानजातीय मासाकुर पैदा होते है, वैसे ही पृथ्वी मे भी समानजातीय अकुर पैदा होते हैं। इसलिए वह सजीव है।

२ अण्डे का प्रवाही रस सजीव होता है। पानी भी प्रवाही है, इसलिए सजीव है। गर्भकाल के प्रारम्भ मे मनुष्य तरल होता है, वैसे ही पानी तरल है, इसलिए सजीव है।

३ जुगनू का प्रकाश और मनुष्य के शरीर मे ज्वरावस्था मे होने वाला ताप जीव-सयोगी है। वैसे ही अग्नि का प्रकाश और ताप जीव-सयोगी है। आहार के भाव और अभाव मे होनेवाली वृद्धि और हानि की अपेक्षा से

मनुष्य और अग्नि की समान स्थिति है। दोनो का जीवन वायु सापेक्ष है। वायु के बिना मनुष्य नही जीता, वैसे अग्नि भी नही जीती। मनुष्य मे जैसे प्राणवायु (आक्सीजन) का ग्रहण और विषवायु (कार्बन डाई-आक्साइड) का उत्सर्ग होता है, वैसे अग्नि मे भी होता है। इसलिए वह मनुष्य की भाति सजीव है। सूर्य का प्रकाश भी जीव-सयोगी है। सूर्य 'आतप' नामकर्मोदययुक्त पृथ्वीकायिक जीवो का शरीर-पिण्ड है।

४ वायु मे व्यक्त प्राणी की भाति अनियमित स्वप्रेरित गति होती है। इससे उसकी सचेतनता का अनुमान किया जा सकता है। स्थूल पुद्गल-स्कधो मे अनियमित गति पर-प्रेरणा से होती है, स्वय नही।

पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु—ये चार जीव-निकाय है। इनमे से प्रत्येक मे असख्य-असख्य जीव है। मिट्टी का छोटा-सा एक ढेला, पानी की एक बूद, अग्नि की एक चिनगारी, वायु का एक सूक्ष्म भाग—ये सब असख्य जीवो के असख्य शरीरो के पिण्ड है। इनके एक जीव का एक शरीर अति-सूक्ष्म होता है, इसलिए वह दृष्टि का विषय नही बनता। हम इनके पिण्डीभूत असख्य शरीरो को देख सकते है।

५ वनस्पति का चैतन्य पूर्ववर्ती निकायो से स्पष्ट है। इसे जैनेतर दार्शनिक भी सजीव मानते आए है और वैज्ञानिक जगत् मे भी उनके चैतन्य सम्बन्धी विविध परीक्षण हुए है। बेतार की तरगो (wireless waves) के बारे मे अन्वेषण करते समय जगदीशचन्द्र बसु को यह अनुभव हुआ कि धातुओ के परमाणु पर भी अधिक दबाव पडने से रुकावट आती है और उन्हे फिर उत्तेजित करने पर वह दूर हो जाती है। उन्होने सूक्ष्म छानबीन के बाद बताया कि धान्य आदि पदार्थ भी थकते है, चचल होते हैं, विष से मुरझाते हैं, नशे मे मस्त होते है और मरते है। अन्त मे उन्होने यह प्रमाणित किया कि ससार के सभी पदार्थ सचेतन हैं।

वेदान्त की भाषा मे सभी पदार्थो मे एक ही चेतन प्रवाहित हो रहा है।

जैन की भाषा मे समूचा ससार अनत जीवो से व्याप्त है। एक अणु-मात्र प्रदेश भी जीवो से खाली नही है।

वनस्पति की सचेतनता सिद्ध करते हुए उसकी मनुष्य के साथ तुलना की गई है।

जैसे मनुष्य-शरीर जाति (जन्म)-धर्मक है, वैसे वनस्पति भी जाति-धर्मक है। जैसे मनुष्य-शरीर बालक, युवक तथा वृद्ध अवस्था प्राप्त करता है, वैसे वनस्पति शरीर भी। जैसे मनुष्य सचेतन है वैसे वनस्पति भी। जैसे मनुष्य शरीर छेदन करने से मलिन हो जाता है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य शरीर आहार करने वाला है, वैसे ही वनस्पति शरीर भी। जैसे

मनुष्य शरीर अनित्य है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य का शरीर अशाश्वत है (प्रतिक्षण मरता है), वैसे वनस्पति के शरीर की भी प्रतिक्षण मृत्यु होती है। जैसे मनुष्य-शरीर मे इष्ट और अनिष्ट आहार की प्राप्ति से वृद्धि और हानि होती है, वैसे ही वनस्पति के शरीर मे भी। जैसे मनुष्य-शरीर विविध परिणमन-युक्त है अर्थात् रोगो के सम्पर्क से पाण्डुत्व (फीकापन) वृद्धि, सूजन, कृशता, छिद्र आदि युक्त हो जाता है और औषधि-सेवन से काति, बल, पुष्टि आदि युक्त हो जाता है, वैसे वनस्पति-शरीर ही नाना प्रकार के रोगो से ग्रस्त होकर पुष्प, फल और त्वचा-विहीन हो जाता है और औषधि के सयोग से पुष्प, फलादि युक्त हो जाता है। अत वनस्पति चेतनायुक्त है।

वनस्पति के जीवो मे भी अव्यक्त रूप से आहार आदि दस सज्ञा का अर्थ है—अनुभव। इनको सिद्ध करने के लिए टीकाकारो ने उपयुक्त उदाहरण भी खोज निकाले है। वृक्ष जल का आहार तो करते ही है। इसके सिवाय 'अमर बेल' अपने आसपास होनेवाले वृक्षो का सार खीच लेती है। कई वृक्ष रक्त-शोषक भी होते है। इसलिए वनस्पति मे आहार-सज्ञा होती है। 'छुई-मुई' आदि स्पर्श के भय से सिकुड जाती है, इसलिए वनस्पति मे भय-सज्ञा होती है। 'कुरुबक' नामक वृक्ष स्त्री के आलिगन मे पल्लवित हो जाता है और 'अशोक' नामक वृक्ष स्त्री के पाद-घात से प्रमुदित हो जाता है, इसलिए वनस्पति मे मैथुन-सज्ञा है। लताए अपने तन्तुओ से वृक्ष को वेष्टित कर लेती है, इसलिए वनस्पति मे परिग्रह-सज्ञा है। 'कोकनद' (रक्तोत्पल) का कद क्रोध से हुकार करता है। 'सिदती' नाम की बेल मान से झरने लग जाती है। लताए अपने फलो को माया से ढाक लेती है। बिल्व और पलाश आदि वृक्ष लोभ से अपने मूल निधान पर फैलते है। इससे जाना जाता है कि वनस्पति मे क्रोध, मान, माया और लोभ भी है। लताए वृक्षो पर चढने के लिए अपना मार्ग पहले से तय कर लेती है, इसलिए वनस्पति मे ओघ-सज्ञा[1] है। रात्रि मे कमल सिकुडते है, इसलिए वनस्पति मे लोक-सज्ञा[2] है।

वृक्षो मे जलादि सीचते है, वह फलादि के रस के रूप मे परिणत हो जाता है, इसलिए वनस्पति मे श्वसन, चयापचय आदि जैविक क्रियाओ का सद्भाव है। इस प्रकार अनेक युक्तियो से वनस्पति की सचेतनता सिद्ध है।

सघीय जीवन

वनस्पतिकाय के भेद है—साधारण और प्रत्येक। एक शरीर मे अनत जीव होते है, वह साधारण-शरीरी, अनत-काय या सूक्ष्म-निगोद है। एक शरीर मे एक ही जीव होता है, वह प्रत्येक-शरीरी है।

---

१ ओघ सज्ञा—अनुकरण की प्रवृत्ति।

२ लोकसज्ञा—व्यक्त चेतना का विशेष उपयोग।

साधारण-वनस्पति का जीवन सघ-बद्ध होता है। फिर भी उनकी आत्मिक सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। कोई भी जीव अपना अस्तित्व नही गवाता। उन एक शरीराश्रयी अनन्त जीवो के सूक्ष्म शरीर तैजस और कार्मण पृथक्-पृथक् होते है। उन पर एक-दूसरे का प्रभाव नही होता। उनके साम्य-वादी जीवन की परिभाषा करते हुए बताया है कि साधारण वनस्पति का एक जीव जो कुछ आहार आदि पुद्गल-समूह का ग्रहण करता है, वह तत्-शरीरस्थ शेष सभी जीवो के उपभोग मे आता है और बहुत सारे जीव जिन पुद्गलो का ग्रहण करते है, वे एक जीव के उपभोग्य बनते है। उनके आहार-नीहार, उच्छ्वास-नि श्वास, शरीर-निर्माण और मौत—ये सभी साधारण कार्य एक साथ होते है। साधारण जीवो का प्रत्येक शारीरिक कार्य साधारण होता है। पृथक्-शरीर मनुष्यो के कृत्रिम सघो मे ऐसी साधारणता कभी नही आती। साधारण जीवो का स्वाभाविक सघात्मक जीवन साम्यवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है।

जीव अमूर्त है इसलिये वे क्षेत्र नही रोकते। क्षेत्र-निरोध स्थूल पौद्-गलिक वस्तुए ही करती है। साधारण जीवो के स्थूल शरीर पृथक्-पृथक् नही होते। जो जो निजी शरीर है, वे सूक्ष्म होते है, इसलिए एक सुई के अग्र भाग जितने-से छोटे शरीर मे अनन्त जीव समा जाते है।

सूई की नोक टिके, उतने 'लक्षपाक' तेल मे एक लाख औषधियो की अस्तिता होती है। औषधियो के परमाणु उसमे मिले हुए होते है। इससे अधिक सूक्ष्मता आज के विज्ञान मे देखिए—

रसायनशास्त्र के पडित कहते है कि आलपिन के सिरे के बराबर बर्फ के टुकडे मे १०,००,००,००,००,००,००,००,००० अणु है। इन उदाहरणो को देखते हुए साधारण जीवो की एक शरीराश्रयी स्थिति मे कोई सदेह नही होता। आग मे तपा लोहे का गोला अग्निमय होता है वैसे साधारण वनस्पति शरीर जीवनमय होता है।

साधारण-वनस्पति जीवो का परिमाण

लोकाकाश के असख्य प्रदेश है। उसके एक-एक आकाश-प्रदेश पर एक एक निगोद-जीव को रखते चले जाइए। वे एक लोक मे नही समायेगे, दो-चार म भी नही। वैसे अनन्त लोक आवश्यक होगे। इस काल्पनिक सख्या से उनका परिणाम समझिए। उनकी शारीरिक स्थिति सकीर्ण होती है। इसी कारण वे ससीम लोक मे समा रहे है।

प्रत्येक-वनस्पति

प्रत्येक वनस्पति जीवो के शरीर पृथक् पृथक् होते है। प्रत्येक जीव अपने शरीर का निर्माण स्वय करता है। उनमे पराश्रयता भी होती है। एक

घटक जीव के आश्रय मे असख्य जीव पलते हैं। वृक्ष के घटक बीज मे एक जीव होता है। उसके आश्रय मे पत्र, पुष्प और फूल के असख्य जीव उपजते हैं। बीजावस्था के सिवाय वनस्पति-जीव सघातरूप मे रहते हैं। श्लेष्म-द्रव्य-मिश्रित सरसो के दाने अथवा तिलपपड़ी के तिल एक-रूप बन जाते हैं। तब भी उनकी सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। प्रत्येक-वनस्पति के शरीरो की भी यही बात है। शरीर की सघात-दशा मे भी उनकी सत्ता स्वतत्र रहती है।

प्रत्येक-वनस्पति जीवो का परिमाण

साधारण वनस्पति जीवो की भाति प्रत्येक-वनस्पति का एक-एक जीव लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रखा जाए तो ऐसे असख्य लोक बन जाए। यह लोक असख्य आकाश-प्रदेश वाला है, ऐसे असख्य लोको के जितने आकाश प्रदेश होते है, उतने प्रत्येक-शरीरी वनस्पति जीव है।

इन्द्रिय-विकास की अपेक्षा से जीवो के भेद

प्राणिया की मौलिक जातिया पाच है। एकेन्द्रिय (एक इन्द्रिय वाले प्राणी), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय। वे क्रम-विकास से उत्पन्न नही, स्वतत्र है। पाच जातिया योग्यता की दृष्टि से क्रमश विकसित है। किन्तु पूव-योग्यता से उत्तर-योग्यता सृष्ट या विकसित हुई, ऐसा नही। पचेन्द्रिय प्राणी की देह से पचेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होता है। वह पचेन्द्रिय ज्ञान का विकास पिता से न्यून या अधिक पा सकता है। पर यह नही हो सकता कि वह किसी चतुरन्द्रिय मे उत्पन्न हो जाए या किसी चतुरन्द्रिय को उत्पन्न कर दे। सजातीय से उत्पन्न होना और सजातीय को उत्पन्न करना यह प्राणियो की निश्चित मर्यादा है।

एकन्द्रिय स चतुरिन्द्रिय के जीव सम्मूर्च्छिम और तिर्यञ्च जाति के ही होते है। पचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम और गर्भज दोनो प्रकार के होत है। इन दोनो (सम्मूर्च्छिम और गर्भज पचेन्द्रिय) की दो जातिया है—

(१) तिर्यञ्च, (२) मनुष्य।[1]

तिर्यञ्च जाति के मुख्य प्रकार तीन है—

१ जलचर—मत्स्य आदि।

२ स्थलचर—गाय, भैस आदि

(क) उरपरिसर्प—रेंगने वाले प्राणी—साप आदि।

(ख) भुजपरिसर्प—भुजा के बल पर चलने वाले प्राणी—नेवला आदि। ये स्थलचर की उपशाखाए है।

३ खेचर—पक्षी।

---

१ मनुष्य के मल, मूत्र, लहू आदि अशुचि-स्थान मे उत्पन्न होने वाले पचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम मनुष्य कहलाते हैं।

सम्मूर्च्छिम जीवो का जाति-विभाग गर्भज जीवो के जाति-विभाग जैसा सुस्पष्ट और सबद्ध नही होता ।

आकृति-परिवर्तन और अवयवो की न्यूनाधिकता के आधार पर जाति-विकास की जो कल्पना है, वह औपचारिक है, तात्त्विक नही । सेव के वृक्ष की लगभग दो हजार जातिया मानी जाती हैं । भिन्न-भिन्न देश की मिट्टी मे बोया हुआ बीज भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधो के रूप मे परिणत होता है । उनके फूलो और फलो मे वर्ण, गन्ध, रस आदि का अन्तर भी आ जाता है । 'कलम' के द्वारा भी वृक्षो मे आकस्मिक परिवर्तन किया जाता है । इसी प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्य के शरीर पर भी विभिन्न परिस्थितियो का प्रभाव पडता है । शीत-प्रधान देश मे मनुष्य का रग श्वेत होता है, उष्ण-प्रधान देश मे श्याम । यह परिवर्तन मौलिक नही है । वैज्ञानिक प्रयोगो के द्वारा औपचारिक परिवर्तन के उदाहरण प्रस्तुत किए गए है । मौलिक परिवर्तन प्रयोग-सिद्ध नही है ।

शारीरिक परिवर्तन का ह्रास या उल्टा क्रम

पारिपार्श्विक वातावरण या बाहरी स्थितियो के कारण जैसे विकास या प्रगति होती है, वैसे ही उसके बदलने पर ह्रास या पूर्व-गति भी होती है ।

दो जाति के प्राणियो के सगम से तीसरी एक नयी जाति पैदा होती है । उस मिश्र जाति मे दोनो के स्वभाव मिलते हैं, किन्तु यह भी शारीरिक भेद वाली उपजाति है । आत्मिक ज्ञानकृत जैसे ऐन्द्रियक और मानसिक शक्ति का भेद उसमे नही होता । जाति-भेद का मूल कारण है—आत्मिक विकास । इन्द्रिया, स्पष्ट भाषा और मन, इनका परिवर्तन मिश्रण और काल-क्रम से नही होता । एक स्त्री के गर्भ मे 'गर्भ-प्रतिबिम्ब' पैदा होता है, जिसके रूप भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते है । आकृति-भेद की समस्या जाति-भेद मे मौलिक नही है ।

प्रभाव के निमित्त

एक प्राणी पर माता-पिता का, आसपास के वातावरण का, देश-काल की सीमा का, खान-पान का और ग्रहो-उपग्रहो का अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव पडता है, इसमे कोई सदेह नही । इसके जो निमित्त है, उन पर जैन-दृष्टि का क्या निर्णय है—यह थोडे मे जानना है ।

प्रभावित स्थितियो को वर्गीकृत कर हम दो मान ले—शरीर और बुद्धि । ये सारे निमित्त इन दोनो को प्रभावित करते है ।

प्रत्येक प्राणी आत्मा और शरीर का एक सयुक्त रूप होता है । प्रत्येक प्राणी को आत्मिक शक्ति का विकास और उसकी अभिव्यक्ति के निमित्तभूत शारीरिक साधन उपलब्ध होते है ।

आत्मा सूक्ष्म शरीर का प्रवर्तक है और सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का। बाहरी स्थितिया स्थूल शरीर को प्रभावित करती हैं, स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर को और सूक्ष्म शरीर आत्मा को—इन्द्रिय, मन या चेतन वृत्तियो को।

शरीर पौद्गलिक होते है—सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म वर्गणाओ का सगठन होता है और स्थूल शरीर स्थूल वर्गणाओ का।

१ आनुवशिक समानता का कारण है—वर्गणा का साम्य। जन्म के आरम्भ-काल मे जीव जो आहार लेता है, वह उसके जीवन का मूल आधार होता है। वे वर्गणाए मातृ-पितृ-सात्म्य होती हैं, इसलिए माता और पिता का उस पर प्रभाव होता है। सन्तान के शरीर मे मास, रक्त और मस्तुलुग (भेजा)—ये तीन अग माता के और अस्थि-मज्जा, केश-दाढी और रोम-नख—ये तीन अग पिता के होते है। वर्गणाओ का साम्य होने पर भी आतरिक योग्यता समान नही होती। इसलिए माता-पिता से पुत्र की रुचि, स्वभाव, योग्यता भिन्न भी होती है। यही कारण है कि माता-पिता के गुण-दोषो का सन्तान के स्वास्थ्य पर जितना प्रभाव पडता है, उतना बुद्धि पर नही पडता।

२ वातावरण भी पौद्गलिक होता है। पुद्गल-पुद्गल पर असर डालते है। शरीर, भाषा और मन की वर्गणाओ के अनुकूल वातावरण की वर्गणाए होती है, उन पर उनका अनुकूल प्रभाव होता है और प्रतिकूल दशा मे प्रतिकूल। आत्मिक-शक्ति विशेष जागृत हो तो इसमे अपवाद भी हो सकता है। मानसिक शक्ति वर्गणाओ मे परिवर्तन ला सकती है। कहा भी है—

"चित्तायत्त धातुबद्ध शरीर, स्वस्थे चित्ते बुद्धय प्रस्फुरन्ति।
तस्माच्चित्त सर्वथा रक्षणीय, चित्ते नष्टे बुद्धयो यान्ति नाशम्।"

—यह धातुबद्ध शरीर चित्त के अधीन है। स्वस्थ चित्त मे बुद्धि की स्फुरणा होती है। इसलिए चित्त को स्वस्थ रखना चाहिए। चित्त नष्ट होने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है।

इसका तात्पर्य यह है कि पवित्र और बलवान् मन पवित्र वर्गणाओ को ग्रहण करता है, इसलिए बुरी वर्गणाए शरीर पर भी बुरा असर नही डाल सकती।

३ खान-पान और औषधि का असर भी भिन्न-भिन्न प्राणियो पर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसका कारण भी उनके शरीर की भिन्न वर्गणाए हैं। वर्गणाओ के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श मे अनन्त प्रकार का वैचित्र्य और तरतमभाव होता है। एक ही रस का दो व्यक्ति दो प्रकार का अनुभव करते हैं। यह उनका बुद्धि-दोष या अनुभव-शक्ति का दोष नही, किन्तु इस भेद का आधार उनकी विभिन्न वर्गणाए हैं। अलग-अलग परिस्थितियो मे एक ही व्यक्ति को इस भेद का शिकार होना पडता है।

खान-पान, औषधि आदि का शरीर के अवयवो पर असर होता है।

शरीर के अवयव इन्द्रिय, मन और भाषा के साधन होते है, इसलिए जीव का प्रवृत्ति के ये भी परस्पर कारण बनते हैं। ये बाहरी वर्गणाए आन्तरिक योग्यता को सुधार या बिगाड नही सकती और न बढा-घटा भी सकती हैं। किन्तु जीव की आन्तरिक योग्यता की साधनभूत आन्तरिक वर्गणाओ मे सुधार या बिगाड ला सकती हैं। यह स्थिति दोनो प्रकार की वर्गणाओ के बलाबल पर निर्भर है।

४ ग्रह-उपग्रह से जो रश्मिया निकलती हैं, उनका भी शारीरिक वर्गणाओ के अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव होता है। विभिन्न रगो के शीशो द्वारा सूर्य-रश्मियो को एकत्रित कर शरीर पर डाला जाए, तो स्वास्थ्य या मन पर उनकी विभिन्न प्रतिक्रियाए होती है। सगठित दशा मे हमे तत्काल उनका असर मालूम पडता है। असगठित दशा और सूक्ष्म रूप मे उनका जो असर हमारे ऊपर होता है, उसे हम पकड नही सकते।

ज्योतिर्विद्या मे उल्का की और योग-विद्या मे विविध रगो की प्रतिक्रिया भी उनकी रश्मियो के प्रभाव से होती है।

यह बाहरी असर है। अपनी आन्तरिक वृत्तियो का भी अपने पर प्रभाव पडता है। ध्यान या मानसिक एकाग्रता से चचलता की कमी होती है, आत्म-शक्ति का विकास होता है। मन की चचलता से जो शक्ति बिखर जाती है, वह ध्यान से केन्द्रित होती है। इसलिए आत्म-विकास मे मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति का बडा महत्त्व है।

मानसिक अनिष्ट चिन्तन से प्रतिकूल वर्गणाए गृहीत होती हैं, उनका स्वास्थ्य पर हानिजनक प्रभाव होता है। प्रसन्न दशा मे अनुकूल वर्गणाए अनुकूल प्रभाव डालती है।

क्रोध आदि वर्गणाओ की भी ऐसी ही स्थिति है। ये वर्गणाए समूचे लोक मे भरी पडी है। इनकी बनावट अलग-अलग ढग की होती है और उसके अनुसार ही ये निमित्त बनती हैं।

अभ्यास

१ विश्व-स्थिति के मूल सूत्रो को समझाइए।
२ स्थावर जीवो के चैतन्य-स्वरूप को स्पष्ट करे।
३ प्राणी के जन्म से जीवन-पर्यन्त उस पर पडने वाले विभिन्न प्रभावो के निमित्तो को स्पष्ट करे।
४ त्रस-प्राणी किसे कहते हैं ? उसके कितने भेद हैं ?

• ६

जन्म-मृत्यु का चक्र-व्यूह

ससार का हेतु

जीव की वैभाविक दशा (जो स्वाभाविक नही है) का नाम ससार है। ससार का मूल कर्म है। कर्म के मूल राग-द्वेष हैं। जीव की असयम-मय प्रवृत्ति रागमूलक या द्वेषमूलक होती है। उसे समझा जा सके या नही, यह दूसरी बात है। जीव को फसाने वाला दूसरा कोई नही। जीव भी कर्म-जाल को अपनी ही अज्ञान-दशा और आशा-वाछा (इच्छा या तृष्णा) से रच लेता है। कर्म व्यक्तिगत रूप से अनादि नही है, प्रवाह रूप से अनादि है। कर्म-प्रवाह का भी आदि नही हैं। जब से जीव है, तब से कर्म है। दोनो अनादि हैं। अनादि का आरम्भ न होता है, और न बनाया जा सकता है। एक-एक कर्म की अपेक्षा से सब कर्मों की निश्चित अवधि होती है। परिपाक-काल के बाद वे जीव से विलग हो जाते है। अतएव आत्मा की कर्म-मुक्ति मे कोई बाधा नही आती। आत्म-सयम से नये कर्म चिपकने बन्द हो जाते है। पहले चिपके हुए कर्म तपस्या के द्वारा धीमे-धीमे निर्जीर्ण हो जाते हैं, नये कर्मो का बन्द नही होता, पुराने कर्म टूट जाते है। तब वह अनादि प्रवाह रुक जाता है—आत्मा मुक्त हो जाती है। यह प्रक्रिया आत्म-साधको की है। आत्म-साधना से बिमुख रहने वाले नये-नये कर्मो का सचय करते है। उसी के द्वारा उन्हे जन्म-मृत्यु के अविरल प्रवाह मे बहना पडता है।

जन्म

लोक शाश्वत है, ससार अनादि है, जीव नित्य है, कर्म की बहुलता है, जन्म-मृत्यु की बहुलता है, इसलिए एक परमाणु-मात्र भी लोक मे ऐसा स्थान नही, जहा जीव न जन्मा हो और न मरा हो।

"ऐसी जाति, योनि, स्थान या कुल नही, जहा जीव अनेक बार या अनन्त बार जन्म धारण न कर चुके हो।"

जब तक आत्मा कर्म-मुक्त नही होती, तब तक उसकी जन्म-मरण की परम्परा नही रुकती। मृत्यु के बाद जन्म निश्चित है। जन्म का अर्थ है उत्पन्न होना। सब जीवो का उत्पत्ति-क्रम एक-सा नही होता। अनेक जातिया हैं, अनेक योनिया हैं और अनेक कुल है। प्रत्येक प्राणी के उत्पत्ति-स्थान मे वर्ण,

गन्ध, रस और स्पर्श का कुछ न कुछ तारतम्य होता ही है। फिर भी उत्पत्ति की प्रक्रियाए अनेक नही है। सब प्राणी तीन प्रकार से उत्पन्न होते हैं। अत-एव जन्म के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात।

जिनका उत्पत्ति-स्थान नियत नही होता और जो गर्भ धारण नही करते, उन जीवो की उत्पत्ति को 'सम्मूर्च्छन' कहते हैं। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक सब जीव सम्मूर्च्छन जन्म वाले होते हैं। कई तिर्यंच पचेन्द्रिय तथा मनुष्य के मल-मूत्र, श्लेष्म आदि चौदह स्थानो मे उत्पन्न होने वाले पचेन्द्रिय मनुष्य भी सम्मूर्छनज होते हैं।

स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य से जिनकी उत्पत्ति गर्भ मे होती है, उनके जन्म का नाम गर्भज है। अण्डज, पोतज और जरायुज पचेन्द्रिय प्राणी गर्भज होते हैं।

जिनका उत्पत्ति-स्थान नियत होता है, उनका जन्म 'उपपात' कहलाता है। देव और नारक उपपात-जन्मा होते है। नारको के लिए कुम्भी (छोटे मुह की कुण्ड) और देवता के लिए शय्याए नियत होती हैं। वे अन्तर-मुहूर्त्त मे (४८ मिनट के भीतर) युवा हो जाते है।

प्राणी सचित्त और अचित्त दोनो प्रकार के शरीर मे उत्पन्न होते है।

गर्भ

प्राणी की उत्पत्ति का पहला रूप दूसरे मे छिपा होता है, इसलिए उस दशा का नाम 'गर्भ' हो गया। जीवन का अन्तिम छोर जैसे मौत है, वैसे उसका आदि छोर गर्भ है। मौत के बाद क्या होगा—यह जैसे अज्ञात रहता है, वैसे ही गर्भ से पहले क्या था—यह अज्ञात रहता है। उन दोनो के बारे मे विवाद है। गर्भ प्रत्यक्ष है, इसलिए यह निर्विवाद है।

मौत क्षण भर के लिए आती है। गर्भ महीनो तक चलता है। इसलिए जैसे मौत अन्तिम दशा का प्रतिनिधित्व करती है, वैसे गर्भ जीवन के आरम्भ का पूरा प्रतिनिधित्व नही करता, इसलिए प्रारम्भिक दशा का प्रतिनिधि शब्द और चुनना पडा। वह है—'जन्म'। 'जन्म' ठीक जीवन की आदि-रेखा का अर्थ देता है। जो प्राणी है, वह जन्म लेकर ही हमारे सामने आता है।

सम्मूर्छन प्राणी-वर्गों मे मानसिक विकास नही होता। गर्भज जीवो में मानसिक विकास होता है। इस दृष्टि से समनस्क जीव की जन्म-प्रक्रिया 'गर्भ' और असमनस्क जीवो की जन्म-प्रक्रिया 'सम्मूर्छन'—ऐसा विभाग करना आवश्यक था। जन्म-विभाग के आधार पर चैतन्य-विकास का सिद्धात स्थिर होता है—गर्भज समनस्क और सम्मूर्छन अमनस्क।

गर्भज जीवो के मनुष्य और पचेन्द्रिय तिर्यंच—ये दो वर्ग है।

गर्भाधान की स्वाभाविक पद्धति स्त्री-पुरुष का सयोग है। कृत्रिम रीति

से वीर्य-प्रक्षेप के द्वारा भी गर्भाधान हो सकता है।

गर्भ-प्रवेश की स्थिति

गौतम ने पूछा—भगवान्! जाव गर्भ मे प्रवेश करते समय स-इन्द्रिय होता है अथवा अन्-इन्द्रिय?

भगवान् बोले—गौतम! स-इन्द्रिय भी होता है और अन्-इन्द्रिय भी।

गौतम ने फिर पूछा—यह कैसे, भगवन्?

भगवान् ने उत्तर दिया—द्रव्य-इन्द्रिय की अपेक्षा से वह अन-इन्द्रिय होता है और भाव-इद्रिय की अपेक्षा से स-इद्रिय।

इसी प्रकार दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने बताया—गर्भ मे प्रवेश करते समय जीव स्थूल-शरीर (औदारिक, वक्रिय, आहारक) की अपेक्षा से अ-शरीर और सूक्ष्म-शरीर (तैजस, कार्मण) की अपेक्षा से स-शरीर होता है।

गर्भ मे प्रवेश पाते समय जीव का पहला आहार ओज और वीर्य होता है। गर्भ-प्रविष्ट जीव का आहार मा के आहार का ही सार-अश होता है। उसके कवल-आहार नही होता। वह समूचे शरीर से आहार लेता है और समूचे शरीर से परिणत करता है। उसके उच्छ्वास-नि श्वास बार-बार होते हैं।

बाहरी स्थिति का प्रभाव

गर्भ मे रहे हुए जीव पर बाहरी स्थिति का आश्चर्यकारी प्रभाव होता है। किसी-किसी गर्भगत जीव मे वैक्रिय-शक्ति (विविध रूप बनाने की सामर्थ्य) होती है। वह शत्रु-सैन्य को देखकर विविध रूप बनाकर उससे लड सकता है। उसमे अथ, राज्यभोग और काम की प्रबल आकाक्षा उत्पन्न हो जाती है। कोई-कोई धार्मिक प्रवचन सुन विरक्त बन जाता है, उसका धर्मानु-राग तीव्र हो जाता है।

प्राण और पर्याप्ति

प्राणी का जीवन प्राण-शक्ति पर अवलम्बित रहता है। प्राण-शक्तिया दस हैं—

१ स्पर्शन-इन्द्रिय-प्राण
२ रसन-इन्द्रिय-प्राण
३ घ्राण-इन्द्रिय-प्राण।
४ चक्षु-इद्रिय-प्राण।
श्रोत्र-इद्रिय-प्राण।
६ मन प्राण
७ वचन-प्राण
८ काय-प्राण
९ श्वासोच्छ्वास-प्राण।
१०. आयुष्य-प्राण।

प्राण-शक्तिया सब जीवो मे समान नही होती। फिर भी कम से कम

चार तो प्रत्येक प्राणी मे होती ही हैं।

शरीर, श्वास-उच्छ्वास, आयुष्य और स्पर्शन इन्द्रिय—इन जीवन-शक्तियो मे जीवन का मौलिक आधार है। प्राण शक्ति और पर्याप्ति का कार्य-कारण सम्बन्ध है। जीवन-शक्ति को पौद्गलिक शक्ति की अपेक्षा रहती है। जन्म के पहले क्षण में प्राणी कई पौद्गलिक शक्तियो का क्रमिक निर्माण करता है, उसे पर्याप्ति कहते हैं। वे छह हैं—

१ आहार	४ श्वासोच्छ्वास
२ शरीर	५ भाषा
३ इन्द्रिय	६ मन

इनके द्वारा स्वयोग्य पुद्गलो का ग्रहण, परिणमन (assimilation) और उत्सर्जन होता है। उनकी रचना प्राण-शक्ति के अनुपात पर होती है। जिस प्राणी मे जितनी प्राण-शक्ति की योग्यता होती है, वह उतनी ही पर्याप्तियो का निर्माण कर सकता है। पर्याप्ति-रचना मे प्राणी को अन्तर्-मुहूर्त्त का समय लगता है। यद्यपि उनकी रचना प्रथम क्षण मे ही प्रारम्भ हो जाती है, पर आहार-पर्याप्ति के सिवाय शेष सभी की समाप्ति अन्तर्-मुहूर्त्त से पहले नही होती। स्वयोग्य पर्याप्तियो की परिसमाप्ति न होने तक जीव अपर्याप्त कहलाते हैं और उसके बाद पर्याप्त। उनकी समाप्ति से पूर्व ही जिनकी मृत्यु हो जाती है, वे अपर्याप्त कहलाते हैं। यहा इतना-सा जानना आवश्यक है कि आहार, शरीर और इन्द्रिय—इन तीन पर्याप्तियो की पूर्ण रचना किए बिना कोई प्राणी नही मरता।

आहार, चिन्तन, जल्पन आदि सब क्रियाए प्राण और पर्याप्ति—इन दोनो के सहयोग से होती हैं। जैसे—बोलने मे प्राणी का आत्मीय प्रयत्न होता है, वह प्राण है। उस प्रयत्न के अनुसार जो शक्ति योग्य पुद्गलो का सग्रह करती है, वह भाषा-पर्याप्ति है। आहार-पर्याप्ति और आयुष्य-प्राण, शरीर-पर्याप्ति और काय-प्राण, इन्द्रिय-पर्याप्ति और इन्द्रिय-प्राण, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति और श्वासोछ्वास प्राण, भाषा-पर्याप्ति और भाषा-प्राण, मन पर्याप्ति और मन प्राण—ये परस्पर सापेक्ष है। इससे हमे निश्चय होता है कि प्राणियो की शरीर के माध्यम से होने वाली जितनी क्रियाए है, वे सब आत्म-शक्ति और पौद्गलिक-शक्ति दोनो के पारस्परिक सहयोग से ही होती है।

इन्द्रिय-ज्ञान और पांच जातिया

इन्द्रिय-ज्ञान परोक्ष है। इसलिए परोक्ष-ज्ञानी को पौद्गलिक इन्द्रिय की अपेक्षा रहती है। किसी मनुष्य की आख फूट जाती है, फिर भी वह चतुरिन्द्रिय नही होता। उसकी दर्शन-शक्ति कही नही जाती किन्तु आख के

अभाव मे उसका उपयोग नही होता। आख मे विकार होता है, दीखना बंद हो जाता है। उसकी उचित चिकित्सा हुई, दर्शन-शक्ति खुल जाती है। यह पौद्गलिक इन्द्रिय (चक्षु) के सहयोग का परिणाम है। कई प्राणियो मे सहायक इन्द्रियो के बिना भी उसके ज्ञान का आभास मिलता है, किन्तु वह उनके होने पर जितना स्पष्ट होता है, उतना स्पष्ट उनके अभाव मे नही होता। वनस्पति मे स्पर्शन आदि पाचो इन्द्रियो के चिह्न मिलते है। उनमे भावेन्द्रिय का पूर्ण विकास और सहायक इद्रिय का सद्भाव नही होता, इसलिए वे एकेन्द्रिय ही कहलाते हैं। उक्त विवेचन से दो निष्कर्ष निकलते है। पहला यह कि इन्द्रिय ज्ञान-चेतन-इन्द्रिय और जड-इन्द्रिय दोनो के सहयोग से होता है फिर भी जहा तक ज्ञान का सबध है, उसमे चेतन-इन्द्रिय की प्रधानता है। दूसरा निष्कर्ष यह है कि प्राणियो की एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय ये पाच जातिया बनने में दोनो प्रकार की इन्द्रिया कारण है, फिर भी यहा द्रव्येन्द्रिय की प्रमुखता है। एकेन्द्रिय मे अतिरिक्त भावेन्द्रिय के चिह्न मिलने पर भी वे शेष बाह्य इन्द्रियो के अभाव मे पचेन्द्रिय नहीं कहलाते।

मानस-ज्ञान और सज्ञी-असज्ञी

इन्द्रिय के बाद मन का स्थान है। यह भी परोक्ष है। पौद्गलिक मन के बिना इसका उपयोग नही होता। इन्द्रिय-ज्ञान से इसका स्थान ऊचा है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना विषय नियत होता है, मन का विषय अनियत। यह सब विषयो को ग्रहण करता है। इन्द्रिय-ज्ञान वार्तमानिक होता है, मानस-ज्ञान त्रैकालिक। इन्द्रिय-ज्ञान मे तर्क-वितर्क नही होता, मानस-ज्ञान आलोचनात्मक होता है।

मानस-प्रवृत्ति का प्रमुख साधन मस्तिष्क है। कान का पर्दा फट जाने पर कर्णेन्द्रिय का उपयोग नही होता, वैसे ही मस्तिष्क की विकृति हो जाने पर मानस-शक्ति का उपयोग नही होता। मानस-ज्ञान गर्भज और उपपातज पचेन्द्रिय प्राणियो के ही होता है। इसलिए उसके द्वारा प्राणी दो भागो मे बट जाते हैं—सज्ञी और असज्ञी या समनस्क और अमनस्क।

आधुनिक जीव-विज्ञान (Biology) की भाषा मे कहा जाए तो केवल कशेरुकी (vertebrate) प्राणी समनस्क और अ-कशेरुकी (invertebrate) प्राणी अमनस्क होते है।

द्वीन्द्रिय आदि प्राणियो मे, आत्म-रक्षा की भावना, इष्ट-प्रवृत्ति, अनिष्ट-निवृत्ति, आहार, भय आदि सज्ञाए, सकुचन, प्रसारण, शब्द, पलायन, आगति, गति, आदि चेष्टाए होती हैं—ये मन के कार्य हैं। तब फिर वे असज्ञी क्यो? इष्ट-प्रवृत्ति और अनिष्ट-निवृत्ति का सज्ञान मानस-ज्ञान की परिधि का

है, फिर भी वह सामान्य है—नगण्य है, इसलिए उससे कोई प्राणी सज्ञी नहीं बनता। एक कौडी भी धन है, पर उससे कोई धन नही कहलाता। सज्ञी वही होते हैं जिनमे दीर्घकालिकी सज्ञा मिले, जो भूत, वर्तमान और भविष्य की ज्ञान-शृखला को जोड सके।

इन्द्रिय और मन

पूर्व पक्तियो मे इन्द्रिय और मन का सक्षिप्त विश्लेषण किया। उससे उन्ही का स्वरूप स्पष्ट होता है। सज्ञी और असज्ञी के इन्द्रिय और मन का क्रम स्पष्ट नही होता। असज्ञी और सज्ञी के इन्द्रिय-ज्ञान मे कुछ न्यूनाधिक्य रहता है या नही ? मन से उसका कुछ सम्बन्ध है या नही ? इसे स्पष्ट करना चाहिए। असज्ञी के केवल इन्द्रिय-ज्ञान होता है, सज्ञी के इन्द्रिय और मानस—दोनो ज्ञान होते है। इन्द्रिय-ज्ञान की सीमा दोनो के लिए एक है। किसी रग को देखकर सज्ञी और असज्ञी चक्षु के द्वारा सिर्फ इतना ही जानेंगे कि यह रग है। इन्द्रिय-ज्ञान मे भी अपार न्यूनाधिक्य होता है। एक प्राणी चक्षु के द्वारा जिसे स्पष्ट जानता है, दूसरा उसे बहुत स्पष्ट जान सकता है। फिर भी अमुक रग है, इससे आगे नही जाना जा सकता। उसे देखने के पश्चात्, ऐसा क्यो ? इससे क्या लाभ ? यह स्थायी है या अस्थायी ? कैसे बना ? आदि-आदि प्रश्न या जिज्ञासाए मन का कार्य है। असयमी के ऐसी जिज्ञासाए नही होती। उनका सम्बन्ध अप्रत्यक्ष धर्मों से होता है। इन्द्रिय-ज्ञान से प्रत्यक्ष धर्म से एक सूत भी आगे बढने की क्षमता नही होती। सज्ञी जीवो मे इन्द्रिय और मन दोनो का उपयोग होता है। मन इन्द्रिय-ज्ञान का सहचारी भी होता है और उसके बाद भी इन्द्रिय द्वारा जाने हुए पदार्थ की विविध अवस्थाओ को जानता है। मन का मनन या चिंतन स्वतत्र हो सकता है, किंतु बाह्य विषयो का पर्यालोचन इन्द्रिय द्वारा उनके ग्रहण होने के बाद ही होता है, इसलिए सज्ञी-ज्ञान मे इन दोनो का गहरा सम्बन्ध है।

जाति-स्मृति

पूर्वजन्म की स्मृति (जाति-स्मृति) 'मति' का ही एक विशेष प्रकार है। इससे पिछले अनेक समनस्क जीवनो की घटनावलिया जानी जा सकती हैं। पूर्वजन्म मे घटित घटना के समान घटना घटने पर वह पूर्व-परिचित-सी लगती है। ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने से चित्त की एकाग्रता और शुद्धि होने पर पूर्णजन्म की स्मृति उत्पन्न होती है। सब समनस्क जीवो को पूर्वजन्म की स्मृति नही होती, इसकी कारण-मीमासा करते हुए आचार्य ने लिखा है—

"जायमाणस्स ज दुक्ख, मरमाणस्स वा पुणो।
तेण दुक्खेण समूढो, जाइ सरइ न अप्पणो॥"

—व्यक्ति 'मृत्यु' और 'जन्म' की वेदना से सम्मूढ हो जाता है, इसलिए साधारणतया उसे जाति की स्मृति नही होती।

एक ही जीवन मे दु ख-व्यग्रदशा (सम्मोह-दशा) मे स्मृति-भ्रंश हो जाता है, तब वैसी स्थिति मे पूर्वजन्म की स्मृति लुप्त हो जाए, उसमे कोई आश्चर्य की बात नही।

पूर्वजन्म के स्मृति-साधन मस्तिष्क आदि नही होते, फिर भी आत्मा के दृढ़-संस्कार और ज्ञान-बल से उसकी स्मृति हो आती है। इसीलिए तो ज्ञान दो प्रकार का बतलाया है—इस जन्म का ज्ञान और अगले जन्म का ज्ञान।

अतीन्द्रियज्ञान—योगीज्ञान

अतीन्द्रिय ज्ञान इंद्रिय और मन दोनो से महत्त्वपूर्ण है। वह प्रत्यक्ष है, इसलिए पौद्गलिक साधनो—शारीरिक अवयवो के सहयोग की अपेक्षा नही होती। यह 'आत्ममात्रापेक्ष' होता है। हम जो त्वचा से छूते हैं, कानो से सुनते हैं, आखो से देखते है, जीभ से चखते है, वह वास्तविक प्रत्यक्ष नही है। हमारा ज्ञान शरीर के विभिन्न अवयवो से सम्बन्धित होता है, इसलिए उसकी नैश्चयिक सत्य (निरपेक्ष सत्य) तक पहुच नही होती। उसका विषय केवल व्यावहारिक सत्य (सापेक्ष सत्य) होता है। उदाहरण के लिए स्पर्शन-इन्द्रिय को लीजिए। हमारे शरीर का सामान्य तापमान ९७ या ९८ डिग्री होता है। उससे कम तापमान वाली वस्तु हमारे लिए ठडी होगी। जिसका तापमान हमारी ऊष्मा से अधिक होगा, वह हमारे लिए गर्म होगी। हमारा यह ज्ञान स्वस्थिति-स्पर्शी होगा, वस्तु-स्थिति-स्पर्शी नही। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के वर्ण, गध, रस, स्पर्श, शब्द और सस्थान का ज्ञान सहायक-सामग्री-सापेक्ष होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान परिस्थिति की अपेक्षा से मुक्त होता है। उसकी ज्ञप्ति मे देश, काल और परिस्थिति का व्यवधान या विपर्यास नही आता, इसलिए उससे वस्तु के मौलिक रूप की सही-सही जानकारी मिलती है।

यह उल्लेखनीय है कि परामनोविज्ञान के क्षेत्र मे जाति-स्मृति (पूर्व-जन्म का ज्ञान), दूर-बोध (clairvoyance) पूर्वाभाष (precognition), परचित्त-बोध (telepathy) आदि अतीन्द्रिय ज्ञान (Extra-sensory-perception या ESP) सम्बन्धी का भी गवेषणापूर्ण शोधकार्य चल रहा है।

अभ्यास

१ "जैन दर्शन मे जन्म की प्रक्रिया को वैज्ञानिक पद्धति से व्याख्यायित किया गया है।" क्या आप इस मन्तव्य से सहमत हैं ? अपना उत्तर सप्रमाण स्पष्ट करें।

२ जीवन-क्रम मे प्राण-शक्ति का कितना और कैसा उपयोग होता है ?

३ इन्द्रिय-ज्ञान, मानस-ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान की जैन अवधारणाओ की व्याख्या करें।

: ७ :

मैं कौन हू ?

दो प्रवाह आत्मवाद और अनात्मवाद

आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष पर विश्वास करने वाले 'क्रियावादी' (या आस्तिक) और इन पर विश्वास नही करने वाले 'अक्रियावादी' (नास्तिक) कहलाए। क्रियावादी वर्ग ने सयमपूर्वक जीवन बिताने का, धर्माचरण करने का उपदेश दिया और अक्रियावादी वर्ग ने सुखपूर्वक जीवन बिताने को ही परमार्थ बतलाया। क्रियावादियो ने—'शारीरिक कष्टो को समभाव से सहना महाफल है,' 'कष्ट सहने से आत्महित सधता है'—ऐसे वाक्यो की रचना की और अक्रियावादियो के मन्तव्य के आधार पर—**'यावज्जीवेत् सुख जीवेत, ऋण कृत्वा घृत पिबेत'**—अर्थात् 'जब तक जीए, सुख से जीए, ऋण (कर्ज) करके भी घी पीए'—जैसी युक्तिया का सृजन हुआ।

क्रियावादी वर्ग ने कहा—'जो रात या दिन चला जाता है, वह फिर वापस नही आता। अधर्म करने वाले के रात-दिन निष्फल होते हैं, धर्मनिष्ठ व्यक्ति के वे सफल होते हैं। इसलिए धर्म करने मे एक क्षण भी प्रमाद मत करो, क्योकि यह जीवन कुश के नोक पर टिकी हुई हिम की बूद के समान क्षणभगुर है। यदि इस जीवन को व्यर्थ गवा दोगे तो फिर दीर्घकाल के बाद भी मनुष्य-जन्म मिलना बडा दुर्लभ है। कर्मों के विपाक बडे निबिड होते हैं। अत समझो, तुम क्यो नही समझते हो ? ऐसा सद्-विवेक बार-बार नहीं मिलता। बीती हुई रात फिर लौटकर नही आती और न मानव-जीवन फिर से मिलना सुलभ है। जब तक बुढापा न सताए, रोग घेरा न डाले, इन्द्रिया शक्ति-हीन न बनें, तब तक धर्म का आचरण कर लो। नही तो फिर मृत्यु के समय वैसे ही पछताना होगा, जैसे साफ सुथरे राजमार्ग को छोडकर ऊबड-खाबड मार्ग मे जाने वाला गाडीवान रथ की धुरी टूट जाने पर पछताता है।'

अक्रियावादियो ने कहा—'यह सबमे बडी मूर्खता है कि लोग दृष्ट सुखो को छोडकर अदृष्ट सुख को पाने की दौड मे लगे हुए हैं। ये कामभोग हाथ मे आए हुए है, प्रत्यक्ष हैं। जो पीछे होनेवाला है, न जाने कब क्या होगा ? परलोक किसने देखा है ? कौन जानता है कि परलोक है या नही ? जन-समूह का एक बडा भाग सासारिक सुखो का उपभोग करने मे व्यस्त है, तब फिर हम क्यो न करें ? जो दूसरो को होगा वही हमको भी होगा। हे

प्रिये ! चिंता करने जैसी कोई बात नही, खूब खा-पी, आनन्द कर, जो कुछ कर लेगी, वह तेरा है। मृत्यु के बाद आना-जाना कुछ भी नही। कुछ लोग परलोक के दुःखो का वर्णन कर-कर जनता को प्राप्त सुखो से विमुख किए देते हैं। पर यह अतात्त्विक है।'

क्रियावाद की विचारधारा मे वस्तुस्थिति स्पष्ट हुई। लोगो ने सयम सीखा। त्याग-तपस्या को जीवन मे उतारा।

अक्रियावाद की विचार-प्रणाली से वस्तुस्थिति ओझल रही। लोग भौतिक सुखो की ओर मुडे।

क्रियावादियो ने कहा—'सुकृत और दुष्कृत का फल होता है। शुभ कर्मों का फल अच्छा और अशुभ कर्मों का फल बुरा होता है। जीव अपने पाप एव पुण्य कर्मो के साथ ही परलोक मे उत्पन्न होते हैं। पुण्य और पाप दोनो का क्षय होने से असीम आत्म-सुखमय मोक्ष मिलता है।'

फलस्वरूप लोगो मे धर्मरुचि पैदा हुई। अल्प-इच्छा, अल्प-आरभ और अल्प-परिग्रह का महत्त्व बढा। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह —इनकी उपासना करने वाला महान् समझा जाने लगा।

अक्रियावादियो ने कहा—'सुकृत और दुष्कृत का फल नही होता। शुभ कर्मो के शुभ और अशुभ कर्मों के अशुभ फल नही होते। आत्मा परलोक मे जाकर उत्पन्न नही होता।'

फलस्वरूप लोगो मे सदेह बढा। भौतिक लालसा प्रबल हुई। अत्यधिक तृष्णा, हिंसा और परिग्रह का राहु जगत् पर छा गया।

क्रियावादी की अन्तर दृष्टि 'अपने किए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नही' इस पर लगी रहती है। वह जानता है कि कर्म का फल भुगतना होगा, इस जन्म मे नही तो अगले जन्म मे। किन्तु उसका फल चखे बिना मुक्ति नही। इसलिए यथासभव पाप-कर्म से बचा जाए, यही श्रेयस् है। अन्तर्-दृष्टिवाला व्यक्ति मृत्यु के समय भी घबराता नही, दिव्यानन्द के साथ मृत्यु का वरण करता है।

अक्रियावादी का दृष्टि-बिंदु—'ये काम हाथ मे आए हुए हैं' —जैसी भावना पर टिका हुआ होता है। वह सोचता है कि इन भोग-साधनो का जितना अधिक उपभोग किया जाए, वही अच्छा है। मृत्यु के बाद कुछ होना-जाना नही है। इस प्रकार उसका अन्तिम लक्ष्य भौतिक सुखोपभोग ही होता है। वह कर्म-बन्ध से निरपेक्ष होकर त्रस और स्थावर जीवो की सार्थक और निरर्थक हिंसा करने मे सकुचाता नही। वह जब कभी रोग-ग्रस्त होता है, तब अपने किए कर्मों का स्मरण कर पछताता है। परलोक से डरता भी है। अनुभव बताता है कि मर्मान्तक रोग और मृत्यु के समय बडे-बडे नास्तिक काप उठते है। वे नास्तिकता को तिलाजलि दे आस्तिक बन जाते हैं। अन्त-

काल मे अक्रियावादी को यह सदेह होने लगता है—"मैंने सुना कि नरक है ? जो दुराचारी जीवो की गति है, जहा क्रूर कर्मवाले अज्ञानी जीवो को प्रगाढ वेदना सहनी पडती है। यह कही सच तो नही है ? अगर सच है तो मेरी क्या दशा होगी ?" इस प्रकार वह सकल्प-विकल्प की दशा मे मरता है।

क्रियावाद का निरूपण यह रहा कि आत्मा के अस्तित्व मे सदेह मत करो। वह अमूर्त्त है, इसलिए इन्द्रियग्राह्य नही है। वह अमूर्त है, इसलिए नित्य है। अमूर्त पदार्थमात्र अविभागी नित्य होते हैं। आत्मा नित्य होने के उपरात भी स्वकृत अज्ञान आदि दोषो के बधन मे बधा हुआ है। वह बधन ही ससार (जन्म-मरण) का मूल है।

अक्रियावाद का सार यह रहा कि यह लोक इतना ही है, जितना दृष्टिगोचर होता है। इस जगत् मे केवल पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाच महाभूत ही हैं। इनके समुदाय से चैतन्य या आत्मा पैदा होती है। भूतो का नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है। जीवात्मा कोई स्वतत्र पदार्थ नही है। जिस प्रकार अरणि की लकडी से अग्नि दूध से घी और तिलो से तेल पैदा होता है, वैसे ही पच भूतात्मक शरीर से जीव उत्पन्न होता है। शरीर नष्ट होने पर आत्मा जैसी कोई वस्तु नही रहती है।

इस प्रकार दोनो प्रवाहो से जो धाराए निकलती है, वे हमारे सामने हैं। हमे इनको अथ से इति तक परखना चाहिए, क्योकि इनसे केवल दार्शनिक दृष्टिकोण ही नही बनता, किन्तु वैयक्तिक जीवन से लेकर सामाजिक राष्ट्रीय एव धार्मिक जीवन की नीव इन्ही पर खडी होती है। क्रियावादी और अक्रियावादी का जीवन-पथ एक नही हो सकता। क्रियावादी के प्रत्येक कार्य मे आत्म-शुद्धि का ख्याल होगा, जबकि अक्रियावादी को उसकी चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नही होती। आज बहुत सारे क्रियावादी भी हिंसा-बहुल विचारधारा मे बह चले हैं। जीवन की क्षणभगुरता को बिसार कर अत्यधिक हिंसा और परिग्रह मे फसे हुए हैं। जीवन-व्यवहार मे यह समझना कठिन हो रहा है कि कौन क्रियावादी है और कौन अक्रियावादी ? अक्रिया-वादी सुदूर भविष्य की न सोचें तो कोई आश्चर्य नही। क्रियावादी आत्मा को भुला बैठें, आगे-पीछे न देखें तो कहना होगा कि वे केवल परिभाषा मे क्रिया-वादी हैं, सही अर्थ मे नही। भविष्य को सोचने का अर्थ वर्तमान से आखें मूद लेना नही है। भविष्य को समझने का अर्थ है वर्तमान को सुधारना। आज के जीवन की सुखमय साधना ही कल को सुखमय बना सकती है। विषय-वासनाओ मे फसकर आत्म-शुद्धि की उपेक्षा करना क्रियावादी के लिए प्राणघात से भी अधिक भयकर है। उसे आत्म-अन्वेषण करना चाहिए।

आत्मा और परलोक की अन्वेषक परिषद् के सदस्य सर ओलिवर लॉज ने इस अन्वेषण का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—"हमे भौतिक ज्ञान के पीछे पड़कर पारभौतिक विषयो को नही भूल जाना चाहिए। चेतन जड का कोई गुण नही, परन्तु उसमे समायी हुई अपने को प्रदर्शित करनेवाली एक स्वतंत्र सत्ता है। प्राणीमात्र के अन्तर्गत एक ऐसी वस्तु अवश्य है जिसका शरीर के नाश के साथ अन्त नही हो जाता। भौतिक और पारभौतिक सज्ञाओ के पारस्परिक नियम क्या हैं, इस बात का पता लगाना अत्यन्त आवश्यक हो गया है।"

आत्मा क्यो ?

अक्रियावादी कहते हैं—'जो पदार्थ प्रत्यक्ष नही, उसे कैसे माना जाए ? आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नही, फिर उसे क्यो माना जाए ?

क्रियावादी कहते हैं—'पदार्थों को जानने का साधन केवल इन्द्रिय और मन का प्रत्यक्ष ही नही, इनके अतिरिक्त अनुभव-प्रत्यक्ष, योगी-प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भी हैं। इद्रिय और मन मे क्या-क्या जाना जाता है ? इनकी शक्ति अत्यन्त सीमित है। इनसे अपने दो-चार पीढी के पूर्वज भी नही जाने जाते तो क्या उनका अस्तित्व भी न माना जाए ? इन्द्रिया सिर्फ स्पर्श, रस, गन्ध, रूपात्मक मूर्त द्रव्य को जानती हैं। मन इन्द्रियो का अनुगामी है। वह उन्हीं के द्वारा जाने हुए पदार्थों के विशेष रूपो को जानता है, चिन्तन करता है। मूर्त के माध्यम से वह अमूर्त वस्तुओ को भी जानता है। इसलिए विश्ववर्ती सब पदार्थों को जानने के लिए इद्रिय और मन पर ही निर्भर हो जाना नितात अनुचित है। आत्मा शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श नही है। वह अरूपी सत्ता है। अरूपी तत्त्व इद्रियो से नही जाने जा सकते। आत्मा अमूर्त है इसलिए इद्रिय के द्वारा न जाना जाए, इससे उसके अस्तित्व पर कोई आच नही आती। इन्द्रिय अरूपी आकाश को कौन-कब जान सकता है ? अरूपी की बात छोडिए, अणु या आणविक सूक्ष्म पदार्थ, जो रूपी है, वे भी कोरी इद्रियो से नही जाने जा सकते। अत इद्रिय-प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानने से कोई तथ्य नही निकलता।'

अनात्मवाद के अनुसार आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नही इसलिए वह नही है।

अध्यात्मवाद के अनुसार आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नही, इसलिए वह नही है, यह मानना तर्क बाधित है, क्योकि वह अमूर्तिक है, इसलिए इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष हो ही नही सकती।

भारतीय दर्शन मे आत्मा के साधक तर्क

किसी भी भारतीय व्यक्ति को आत्मा के अस्तित्व मे कोई सदेह नही है,

क्योकि वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तु के विषय मे सदेह नहीं होता। जिन देशो मे आम नही होता, उन देशो की जनता के लिए आम परोक्ष है। परोक्ष वस्तु के विषय मे तो हमारा ज्ञान ही नही होता, यदि सुन या पढ़ कर ज्ञान होता है तो वह साधक-बाधक तर्कों की कसौटी से कसा हुआ होता है। साधक प्रमाण बलवान् होते है, तो हम परोक्ष वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं और बाधक प्रमाण बलवान् होते हैं, तो हम उसके अस्तित्व को नकार देते है।

भारत मे जैसे आम प्रत्यक्ष है, वैसे ही आत्मा प्रत्यक्ष होती तो भारतीय दर्शन का विकास आठ आना ही हुआ होता। आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। उसका चिंतन, मथन, मनन और दर्शन भारत मे इतना हुआ है कि आत्मवाद भारतीय दर्शन का प्रधान अग बन गया। यहा अनात्मवादी भी रहे हैं, किन्तु आत्मवादियो की तुलना मे आटे मे नमक जितने ही रहे हैं। अनात्मवादियो की सख्या भले कम रही हो, उनके तर्क कम नही रहे हैं। उन्होने समय-समय पर आत्मा के बाधक तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनके विपक्ष मे आत्मवादियो द्वारा आत्मा के साधक-तर्क प्रस्तुत किए गए। सक्षेप मे उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१ **स्व-सवेदन** —अपने अनुभव से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। 'मैं हू' 'मैं सुखी हू', 'मैं दुखी हू'—यह अनुभव शरीर को नही होता किन्तु उसे होता है, जो शरीर से भिन्न है। शकराचार्य के शब्दो मे—**सर्वो-प्यात्माऽस्तित्व प्रत्येति, न नाहमस्मीति**'—सबको यह विश्वास होता है कि 'मैं हू।' यह विश्वास किसी को नही होता कि 'मैं नही हू।'

२ **अत्यन्ताभाव** इस तार्किक नियम के अनुसार चेतन और अचेतन मे त्रैकालिक विरोध है। जैन-आचार्यों के शब्दो मे 'न कभी ऐसा हुआ है, न हो रहा है और न होगा कि जीव अजीव बन जाए और अजीव जीव बन जाए।'

३ **उपादान कारण** इस तार्किक नियम के अनुसार जिस वस्तु का जैसा उपादान कारण होता है, वह उसी रूप मे परिणत होती है। अचेतन के उपादान चेतन मे नही बदल सकते।

४ **सत्-प्रतिपक्ष** जिसके प्रतिपक्ष का अस्तित्व नही है उसके अस्तित्व को तार्किक समर्थन नही मिल सकता। यदि चेतन नामक सत्ता नही होती, तो 'न चेतन—अचेतन'—इस अचेतन सत्ता का नामकरण और बोध ही नहीं होता।

५ **बाधक प्रमाण का अभाव** अनात्मवादी—आत्मा नही है, क्योकि उसका कोई साधक प्रमाण नही मिलता।

आत्मवादी—आत्मा है, क्योकि उसका कोई बाधक प्रमाण नहीं मिलता।

६ सत् का निषेध जीव यदि न हो, तो उसका निषेध नहीं किया जा सकता। असत् का निषेध नही होता। जिसका निषेध होता है, वह अस्तित्व में अवश्य होता है।

निषेध चार प्रकार के हैं—

१ सयोग	३ सामान्य
२ समवाय	४ विशेष।

'मोहन घर मे नही है' यह सयोग-प्रतिषेध है। इसका अर्थ यह नहीं कि मोहन है ही नही, किन्तु 'वह घर मे नही है'—यह 'गृह-सयोग' का प्रतिषेध है। 'खरगोश के सीग नही होते'—यह समवाय-प्रतिषेध है। खरगोश भी होता है और सीग भी। इनका प्रतिषेध नही है। वहा केवल 'खरगोश के सीग'—इस समवाय का प्रतिषेध है।

'दूसरा चाद नही है' इसमे चन्द्र के सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नही, किन्तु उसके सामान्य-मात्र का निषेध है। 'मोती घडे-जितने बडे नही हैं'—इसमे मुक्ता का अभाव नही, किन्तु घडे-जितने बडे'—यह जो विशेषण है उसका प्रतिषेध है।

आत्मा नही है, इसमे आत्मा का निषेध नही, किन्तु उसका किसी के साथ होने वाले सयोग का निषेध है।

७ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का वैकल्य यदि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नही होने मात्र से आत्मा का अस्तित्व नकारा जाय, तो प्रत्येक सूक्ष्म, व्यवहित (बीच मे व्यवधान वाली) और विप्रकृष्ट (दूरस्थ) वस्तु के अस्तित्व का अस्वीकार करना होगा। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से मूर्त तत्त्व का ग्रहण होता है। आत्मा अमूर्त तत्त्व है, इसलिए इन्द्रिया उसे नही जान पाती। इससे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का वैकल्य सिद्ध होता है, आत्मा का अनस्तित्व सिद्ध नही होता।

८ गुण द्वारा गुणी का ग्रहण चैतन्य गुण है और चेतन गुणी। चैतन्य प्रत्यक्ष है, चेतन प्रत्यक्ष नही है। परोक्ष गुणी की सत्ता प्रत्यक्ष गुण से प्रमाणित हो जाती है। तहखाने मे बैठा आदमी प्रकाश को देखकर सूर्योदय का ज्ञान कर लेता है।

६. विशेष गुण द्वारा स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध वस्तु का अस्तित्व उसके विशेष गुण द्वारा सिद्ध होता है। स्वतन्त्र पदार्थ वही होता है, जिसमे ऐसा त्रिकालवर्ती गुण मिले, जो किसी दूसरे पदार्थ मे न मिले।

आत्मा मे चैतन्य नामक विशेष गुण है। वह दूसरे किसी भी पदार्थ मे प्राप्त नही है, इसलिए आत्मा का दूसरे सभी पदार्थों से स्वतन्त्र अस्तित्व है।

१०. संशय : जो यह सोचता है कि 'मैं नहीं हूं' वही जीव है। अचेतन को अपने अस्तित्व के विषय मे कभी संशय नहीं होता। 'यह है या नहीं'—ऐसी ईहा या विकल्प चेतन के ही होता है। सामने जो लम्बा-चौडा पदार्थ दीख रहा है, 'वह खम्भा है या आदमी', यह विकल्प सचेतन व्यक्ति के ही मन मे उठता है।

११ द्रव्य की त्रैकालिकता . जो पहले-पीछे नहीं है, वह मध्य मे नहीं हो सकता। जीव एक स्वतन्त्र द्रव्य है, वह यदि पहले न हो और पीछे भी न हो तो वर्तमान मे भी नहीं हो सकता।

१२ संकलनात्मकता इन्द्रियो का अपना-अपना निश्चित विषय होता है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को नहीं जान सकती। इन्द्रिया ही ज्ञाता हो, उनका प्रवर्तक आत्मा ज्ञाता न हो, तो सब इन्द्रियो के विषयो का संकलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता। फिर मैं स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द को जानता हू, इस प्रकार संकलनात्मक ज्ञान किसे होगा ? ककडी को चबाते समय स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द—इन पाचो को जान रहा हू, ऐसा ज्ञान होता है।

१३ स्मृति इन्द्रियो के नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने हुए विषयो की स्मृति रहती है। आख से कोई वस्तु देखी, कान से कोई बात सुनी, संयोगवश आख फूट गई और कान का पर्दा फट गया, फिर भी दृष्ट और श्रुत की स्मृति रहती है।

संकलनात्मक ज्ञान और स्मृति—ये मन के कार्य है। मन आत्मा के बिना चालित नहीं होता। आत्मा के अभाव मे इन्द्रिय और मन—दोनो निष्क्रिय हो जाते हैं। अतः दोनो के ज्ञान का मूल स्रोत आत्मा है।

१४ ज्ञेय और ज्ञाता का पृथक्त्व ज्ञेय, इन्द्रिय और आत्मा—ये तीनो भिन्न हैं। आत्मा ग्राहक है, इन्द्रिया ग्रहण के साधन है और पदार्थ ग्राह्य है। लोहार सण्डासी से लोहपिण्ड को पकडता है। लोहपिण्ड ग्राह्य है, सण्डासी ग्रहण का साधन है और लोहार ग्राहक है। ये तीनो पृथक्-पृथक् हैं। लोहार न हो, तो सण्डासी लोहपिण्ड को नहीं पकड सकती। आत्मा के चले जाने पर इन्द्रिय और मन अपने विषय को ग्रहण नहीं कर पाते।

१५ पूर्व संस्कार की स्मृति आत्मा मे संस्कारो का भंडार भरा पड़ा है। उन संस्कारो की स्मृति होती रहती है।

इस प्रकार भारतीय आत्मवादियो ने बहुमुखी तर्कों द्वारा आत्मा और पुनर्जन्म का समर्थन किया है।

आत्मा चेतनामय अरूपी सत्ता है। उपयोग (चेतना की क्रिया) उसका लक्षण है। ज्ञान-दर्शन, सुख-दुःख आदि द्वारा वह व्यक्त होता है। वह विज्ञाता है। वह शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श नहीं है। वह लम्बा नहीं है, छोटा

नहीं है, टेढा नहीं है, गोल नहीं है, चौकोना नहीं है, मडलाकार नहीं है। वह हलका नहीं है, भारी नहीं है, स्त्री और पुरुष नहीं है। कल्पना से उसका माप किया जाए, तो वह असख्य परमाणु जितना है। इसलिए वह ज्ञानमय असख्य प्रदेशो का पिण्ड है।

वह अरूप है, इसलिए देखा नहीं जाता। उसका चेतना गुण हमे मिलता है। गुण से गुणी का ग्रहण होता है। इससे उसका अस्तित्व हम जान जाते हैं।

वह एकान्तत वाणी द्वारा प्रतिपाद्य और तर्क द्वारा गम्य नहीं है।

जैन-दृष्टि से आत्मा का स्वरूप

१ जीव स्वरूपत अनादि-अनन्त और नित्य-अनित्य

जीव अनादि-निधन (न आदि और न अन्त) है। अविनाशी और अक्षय है। द्रव्य-नय की अपेक्षा से उसका स्वरूप नष्ट नहीं होता, इसलिए नित्य है और पर्याय नय की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न वस्तुओ मे वह परिणत होता रहता है इसलिए अनित्य है।

२ ससारी जीव और शरीर का अभेद

जैसे पिजड़े से पक्षी, घड़े से बेर और गजी से आदमी भिन्न होता है, वैसे ही ससारी जीव शरीर से भिन्न होता है।

जैसे दूध और पानी, तिल और तैल, कुसुम और गध—ये एक लगते हैं, वैसे ही ससार दशा मे जीव और शरीर एक लगते हैं।

३ जीव का परिमाण

जीव का शरीर के अनुसार सकोच और विस्तार होता है। जो जीव हाथी के शरीर मे होता है, वह कुन्थु (एक बहुत छोटे कीट) के शरीर मे भी उत्पन्न हो जाता है। सकोच और विस्तार—दोनो दशाओ मे प्रदेशसख्या, अवयव सख्या समान रहती है।

४ आत्मा और काल की तुलना—अनादि-अनन्त की दृष्टि से

जैसे काल अनादि और अविनाशी है, वैसे ही जीव भी तीनो कालो मे अनादि और अविनाशी है।

५ आत्मा और आकाश की तुलना—अमूर्त की दृष्टि से

जैसे आकाश अमूर्त है फिर भी वह अवगाह-गुण से जाना जाता है, वैसे ही जीव अमूर्त है और वह विज्ञान गुण से जाना जाता है।

६ जीव और ज्ञान आदि का आधार-आधेय सम्बन्ध

जैसे पृथ्वी सब द्रव्यो का आधार है, वैसे ही जीव ज्ञान आदि गुणो का आधार है।

७. जीव और आकाश की तुलना—नित्य की दृष्टि से

जैसे आकाश तीनो कालो मे अक्षय, अनन्त और अतुल होता है, वैसे ही जीव भी तीनो कालो मे अविनाशी—अवस्थित होता है।

८ जीव और सोने की तुलना—नित्य-अनित्य की दृष्टि से

जैसे सोने के मुकुट कुण्डल आदि अनेक रूप बनते हैं, तब भी वह सोना ही रहता है, केवल नाम और रूप मे अन्तर पडता है। ठीक उसी प्रकार चारो गतियो मे भ्रमण करते हुए जीव की पर्याये बदलती हैं--रूप और नाम बदलते हैं—जीव द्रव्य बना का बना रहता है।

९ जीव की कर्मकार से तुलना—कर्तृत्व और भोक्तृत्व की दृष्टि से

जैसे कर्मकार कार्य करता है और उसका फल भोगता है, वैसे ही जीव स्वय कर्म करता है और उसका फल भोगता है।

१० जीव और सूर्य की तुलना—भवानुयायित्व की दृष्टि से

जैसे दिन मे सूर्य यहा प्रकाश करता है, तब दीखता है और रात को दूसरे क्षेत्र मे चला जाता है—प्रकाश करता है, तब दीखता नही, वैसे ही वर्तमान शरीर मे रहता हुआ जीव उसे प्रकाशित करता है और उसे छोडकर दूसरे शरीर मे जा उसे प्रकाशित करने लग जाता है।

११ जीव का ज्ञान-गुण से ग्रहण

जैसे कमल, चन्दन आदि की सुगन्ध का रूप नही दीखता, फिर भी घ्राण के द्वारा उसका ग्रहण होता है, वैसे जीव के नही दीखने पर भी उसका ज्ञान-गुण के द्वारा ग्रहण होता है।

भभा (भेरी), मृदग आदि के शब्द सुने जाते हैं, किन्तु उनका रूप नही दीखता, वैसे ही जीव नही दीखता, तब भी उसका ज्ञान-गुण के द्वारा ग्रहण होता है।

१२ जीव का चेष्टा-विशेष द्वारा ग्रहण

जैसे किसी व्यक्ति के शरीर मे पिशाच घुस जाता है, तब यद्यपि वह नही दीखता, फिर भी आकार और चेष्टाओ द्वारा जान लिया जाता है कि यह पुरुष पिशाच से अभिभूत है, वैसे ही शरीर के अन्दर रहा हुआ जीव हास्य, नाच, सुख-दुख, बोलना-चलना आदि-आदि विविध चेष्टाओ द्वारा जाना जाता है।

१३ जीव के कर्म का परिणमन

जैसे खाया हुआ भोजन अपने आप सात धातुओ के रूप मे परिणत होता है, वैसे ही जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-योग्य पुद्गल अपने आप कर्मरूप मे परिणत हो जाते हैं।

१४ जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध और उसका उपाय द्वारा विसम्बन्ध

जैसे सोने और मिट्टी का सयोग अनादि है, वैसे ही जीव और कर्म का सयोग (साहचर्य) भी अनादि है। जैसे अग्नि आदि के द्वारा सोना मिट्टी से पृथक् होता है, वैसे ही जीव सवर, तपस्या आदि उपायो के द्वारा कर्म से पृथक् हो जाता है।

१५ जीव और कर्म के सम्बन्ध मे पौर्वापर्य नहीं

जैसे मुर्गी और अण्डे मे पौर्वापर्य नही, वैसे ही जीव और कर्म मे भी पौर्वापर्य नही है। दोनो अनादि-सहगत है।

भारतीय दर्शनो मे आत्मा का स्वरूप

जैन दर्शन : जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप, परिणामी स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ विभिन्न अवस्थाओ मे परिणत होने वाला, कर्त्ता और भोक्ता, स्वय अपनी सत्-असत प्रवृत्तियो से शुभ-अशुभ कर्मों का सचय करने वाला और उनका फल भोगने वाला, स्वदेह-परिमाण, न अणु, न विभु (सर्वव्यापक), किन्तु मध्यम परिमाण का है।

बौद्ध दर्शन बौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते है। वे आत्मा के अस्तित्व को वस्तु-सत्य नही, काल्पनिक-सज्ञा (नाम) मात्र कहते हैं। क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होने वाले विज्ञान (चेतना) और रूप (भौतिक तत्त्व, काया) के सघात ससार-यात्रा के लिए काफी हैं। इनसे परे कोई नित्य आत्मा नही है। बौद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष को स्वीकार करते हैं। आत्मा के विषय मे प्रश्न पूछे जाने पर बौद्ध मौन रहे हैं। इसका कारण पूछने पर बुद्ध कहते हैं कि—"यदि मैं कहू आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी बन जाते हैं, यदि यह कहू कि आत्मा नही है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं। इसलिए उन दोनो का निराकरण करने के लिए मैं मौन रहता हू।"

बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन लिखते हैं—"बुद्ध ने यह भी कहा कि आत्मा है और यह भी कहा कि आत्मा नही है। बुद्ध ने आत्मा या अनात्मा किसी का भी उपदेश नही किया।"

बुद्ध ने 'आत्मा क्या है, कहा से आया है और कहा जाएगा ?'—इन प्रश्नो को अव्याकृत कहकर दुःख और दुःख-निरोध—इन दो तत्त्वो का ही मुख्यतया उपदेश किया। बुद्ध ने कहा—"तीर से आहत पुरुष के घाव को ठीक करने की बात सोचनी चाहिए। तीर कहा से आया, किसने मारा आदि-आदि प्रश्न करना व्यर्थ है।"

बुद्ध का यह 'मध्यम-मार्ग' का दृष्टिकोण है। कुछ बौद्ध दार्शनिक मन को भौतिक तत्त्वो (जड या matter) से अलग स्वीकार करते हैं।

नैयायिक दर्शन   नैयायिको के अनुसार आत्मा नित्य और विभु है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दु ख, ज्ञान—ये उसके लिङ्ग है। इनसे हम उसका अस्तित्व जानते हैं।

सांख्य दर्शन   साख्य दर्शन आत्मा को नित्य और निष्क्रिय मानता है, जैसे—

"अमूर्त्तश्चेतनो भोगी, नित्य सर्वगतोऽक्रिय ।
अकर्त्ता निर्गुण सूक्ष्म', आत्मा कपिलदर्शने ॥"

साख्य दर्शन जीव को कर्त्ता नही मानते, फल-भोक्ता मानते है। उनके मतानुसार कर्तृ-शक्ति प्रकृति है।

वैशेषिक दर्शन   वैशेषिक सुख-दु ख आदि की समानता की दृष्टि से आत्मैक्यवादी और व्यवस्था की दृष्टि से आत्मानैक्यवादी हैं।

वेदान्त दर्शन   वेदान्ती अन्त करण से परिवेष्टित चैतन्य को जीव बतलाते हैं। उनके अनुसार—**'एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थित.'**—स्वभावत जीव एक है, परन्तु देहादि उपाधियो के कारण नाना प्रतीत होता है।

परन्तु रामानुज-मत मे जीव अनन्त हैं, वे एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् है।

उपनिषद् और गीता के अनुसार आत्मा शरीर से विलक्षण, मन से भिन्न, विभु—व्यापक और अपरिणामी है। वह वाणी द्वारा अगम्य है। उसका विस्तृत स्वरूप नेति-नेति द्वारा बताया है। वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न अन्तर है, न बाहर है।

सक्षेप मे—

बौद्ध—आत्मा स्थायी नहीं, चेतना का प्रवाह मात्र है।

न्याय-वैशेषिक—आत्मा स्थायी है, किन्तु चेतना उसका स्थायी स्वरूप नही। गहरी नीद मे वह चेतनाविहीन हो जाती है।

वैशेषिक—मोक्ष मे आत्मा की चेतना नष्ट हो जाती है।

साख्य—आत्मा स्थायी, अनादि, अनत, अविकारी, नित्य और चित्स्वरूप है। बुद्धि अचेतन है—प्रकृति का विवर्त्त है।

मीमांसक—आत्मा मे अवस्था-भेद-कृत भेद होता है, फिर भी वह नित्य है।

जैन—आत्मा परिवर्तन-युक्त, स्थायी और चित्स्वरूप है। बुद्धि भी चेतन है। गहरी नीद या मूर्च्छा मे चेतना होती है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं

होता, सूक्ष्म अभिव्यक्ति होती भी है। मोक्ष मे चेतना का सहज उपयोग (ज्ञान-दर्शन रूप व्यापार) होता है। चेतना की आवृत-दशा मे उसे प्रवृत्त करना पड़ता है—अनावृत-दशा मे वह सतत प्रवृत्त रहती है।

औपनिषदिक दृष्टि और जैन-दृष्टि की तुलना

औपनिषदिक सृष्टि-क्रम मे आत्मा का स्थान पहला है। 'आत्मा' शब्द-वाच्य ब्रह्म म आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी, पानी से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधिया, औषधियो से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न-रसमय ही है—अन्न और रस का विकार है। इस अन्न-रसमय पुरुष की तुलना औदारिक शरीर स होती है। इसके सिर आदि अगोपाग माने गए हैं। प्राणमय आत्मा (शरीर) अन्नमय कोष की भाति पुरुषाकार है। किन्तु उसकी भाति अगोपाग वाला नही है। पहले कोश की पुरुषाकारता के अनुसार ही उत्तरवर्ती कोश पुरुषाकार है। पहला कोश उत्तरवर्ती कोश स पूण, व्याप्त या भरा हुआ है। इस प्राणमय शरीर की तुलना श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति से की जा सकती है।

प्राणमय आत्मा जैसे अन्नमय कोश के भीतर रहता है, वैसे ही मनोमय आत्मा प्राणमय कोश के भीतर रहता है। इस मनोमय शरीर की तुलना मन-पर्याप्ति से हो सकती है। मनोमय कोश के भीतर विज्ञानमय कोश है।

निश्चयात्मिका बुद्धि जो है, वही विज्ञान है। वह अन्त करण का अध्यवसाय-रूप धर्म है। इस निश्चयात्मिका बुद्धि से उत्पन्न होने वाला आत्मा विज्ञानमय है। इसकी तुलना भाव-मन, चेतन-मन से होती है। विज्ञानमय आत्मा के भीतर आनन्दमय आत्मा रहता है। इसकी तुलना आत्मा की सुखानुभूति की दशा से हो सकती है।

सजीव और निर्जीव पदार्थ का पृथक्करण

प्राण और अप्राणी मे क्या भेद है? यह प्रश्न कितनी बार हृदय को आदोलित नही करता? प्राण प्रत्यक्ष नही हैं। उनकी जानकारी के लिए किसी एक लक्षण की आवश्यकता होती है। यह लक्षण पर्याप्ति है। पर्याप्ति के द्वारा प्राणी विसदृश द्रव्यो (पुद्गलो) का ग्रहण, स्वरूप मे परिणमन और विसर्जन करता है।

जीव	अजीव
१ प्रजनन-शक्ति (सतति-उत्पादन)	प्रजनन-शक्ति नहीं।
२ वृद्धि	वृद्धि नही।[1]

१ हिन्दी विश्व भारती, खण्ड १, पृ० ४१, ५०

(क) कृत्रिम उद्भिज अपने आप बढ जाता है। फिर भी सजीव पौधे

३ आहार-ग्रहण[1], स्वरूप मे परिणमन, विसर्जन ।	}	नही
४ जागरण, नीद, परिश्रम, विश्राम	}	नही
५ आत्म-रक्षा के लिए प्रवृत्ति[2]	>	नही
६ भय-त्रास की अनुभूति	>	नही

की बढती और इसकी बढती मे गहरा अन्तर है। सजीव पौधा अपने आप ही अपने कलेवर के भीतर होने वाली स्वाभाविक प्रक्रियाओ के फलस्वरूप बढता है।

इसके विपरीत जड पदार्थ मे तैयार किया हुआ उद्भिज बाहरी क्रिया का ही परिणाम है।

(ख) सजीव पदाथ बढते हैं और निर्जीव नही बढते, लेकिन क्या चीनी का 'रवा' चीनी के सपृक्त घोल मे रखे जाने पर नही बढ़ता ? यही बात पत्थरो और कुछ चट्टानो के बारे मे भी कही जा सकती है, जो पृथ्वी के नीचे से बढकर छोटे या बडे आकार ग्रहण कर लेते हैं। एक ओर हम आम की गुठली से एक पतली शाखा निकलते हुए देखते हैं और इसे एक छोटे पौधे और अन्त मे एक पूरे वृक्ष के रूप मे बढते हुए पाते है, और दूसरी ओर एक पिल्ले को धीरे-धीरे बढते हुए देखते है और एक दिन वह पूरे कुत्ते के बराबर हो जाता है। लेकिन इन दोनो प्रकार के बढ़ाव मे अन्तर है। चीनी के रवे या पत्थर का बढ़ाव उनकी सतह पर अधिकाधिक नए पर्त के जमाव होने की वजह से होता है। परन्तु इसके विपरीत छोटे पेड या पिल्ले अपने शरीर के भीतर खाद्य पदार्थों के ग्रहण करने से बढकर पूरे डीलडोल के हो जाते हैं। अतएव पशुओ और पौधो का बढ़ाव भीतर से होता है और निर्जीव पदार्थों का बढ़ाव यदि होता है तो बाहर से।

१-२ हिन्दी विश्व भारती, खण्ड १, पृ० ४२

प्राणी सजीव और अजीव दोनो प्रकार का आहार लेते हैं। किन्तु उसे लेने के बाद वह सब अजीव हो जाता है। अजीव-पदार्थों को जीव स्वरूप मे कैसे परिवर्तित करते हैं, यह आज भी विज्ञान के लिए रहस्य है। वैज्ञानिको के अनुसार वृक्ष निर्जीव पदार्थों से बना आहार लेते हैं। वह उसमे पहुचकर सजीव कोषो का रूप धारण कर लेता है। वे निर्जीव

भाषा (वाणी-प्रयोग की क्षमता) अजीव मे नही होती किन्तु सब जीवो मे भी नही होती—त्रस जीवो मे होती है, स्थावर जीवो मे नही होती—इसलिए यह जीव का लक्षण नही बनता।

गति जीव और अजीव दोनो मे होती है किंतु इच्छापूर्वक या सहेतुक गति-आगति तथा गति-आगति का विज्ञान केवल जीवो मे होता है, अजीव पदार्थ मे नही।

अजीव के चार प्रकार—धर्म द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश और काल गतिशील नही है, केवल पुद्गल गतिशील है। उसके दोनो रूप परमाणु और स्कन्ध (परमाणु-समुदाय) गतिशील हैं। इनमे नैसर्गिक और प्रायोगिक—दोनो प्रकार की गति होती है। स्थूल स्कन्ध प्रयोग के बिना गति नही करते। सूक्ष्म-स्कन्ध स्थूल-प्रयत्न के बिना भी गति करते हैं। इसलिए उनमे इच्छा-पूर्वक गति और चैतन्य का भ्रम हो जाता है। सूक्ष्म-वायु के द्वारा स्पृष्ट पुद्गल-स्कन्धो मे कम्पन, प्रकम्पन, चलन, क्षोभ, स्पन्दन, घट्टन, उदीरणा और विचित्र आकृतियो का परिणमन देखकर विभग-अज्ञानी (मिथ्यात्वी का अवधि-ज्ञान विभग-अज्ञान कहलाता है) को 'ये सब जीव है'—ऐसा भ्रम हो जाता है।

पदार्थ सजीव बन गए, इसका श्रेय 'क्लोरोफिल' को है। वैज्ञानिक इस रहस्यमय पद्धति को नही जान सके हैं, जिसके द्वारा 'क्लोरोफिल' निर्जीव को सजीव मे परिवर्तित कर देता है। जैन-दृष्टि के अनुसार निर्जीव आहार को स्वरूप मे परिणत करने वाली शक्ति आहार-पर्याप्ति है। वह जीवन-शक्ति की आधार-शिला होती है और उसी के सहकार से शरीर आदि का निर्माण होता है।

—लज्जावती की पत्तिया स्पर्श करते ही मूर्च्छित हो जाती हैं। आप जानते हैं कि आकाश मे विद्युत् का प्रहार होते ही खेतो मे चरते हुए मृगो का झुण्ड भयभीत होकर तितर-बितर हो जाता है। वाटिका में विहार करते हुए विहगो मे कोलाहल मच जाता है और खाट पर सोया हुआ अबोध बालक चौक पडता है। परन्तु खेत की मेड, वाटिका के फव्वारे तथा बालक की खाट पर स्पष्टतया कोई प्रभाव नही पडता। ऐसा क्यो होता है, क्या कभी आपने इसकी ओर ध्यान दिया? इन सारी घटनाओ की जड मे एक ही रहस्य है और यह भी सजीव प्रकृति की प्रधानता है। यह जीवो की उत्तेजना-शक्ति और प्रतिक्रिया है। यह गुण लज्जावती, हरिण, विहग, बालक अथवा अन्य जीवो मे उपस्थित है, परन्तु किसी मे कम, किसी मे अधिक। आघात के अतिरिक्त, अन्य अनेक कारणो का भी प्राणियो पर प्रभाव पडता है।

अजीव मे जीव या अणु मे कीटाणु का भ्रम होने का कारण उनका गति और आकृति सम्बन्धी साम्य है।

जीवत्व की अभिव्यक्ति के साधन उत्थान, बल, वीर्य हैं। वे शरीर-सापेक्ष हैं। शरीर पौद्गलिक है। इसलिए चेतन द्वारा स्वीकृत पुद्गल और चेतन-मुक्त पुद्गल मे गति और आकृति के द्वारा भेद-रेखा नही खीची जा सकती।[1]

जीव के व्यावहारिक लक्षण

सजातीय-जन्म, वृद्धि, सजातीय-उत्पादन, क्षत-संरोहण (घाव भरने की शक्ति) और अनियमित तिर्यग्-गति—ये जीवो के व्यावहारिक लक्षण हैं। एक मशीन खा सकती है, लेकिन खाद्य रस के द्वारा अपने शरीर को बढा नहीं सकती। किसी हद तक अपना नियन्त्रण करने वाली मशीनें भी हैं। टारपीडो मे स्वय-चालक शक्ति है, फिर भी वे न तो सजातीय यन्त्र की देह से उत्पन्न होते हैं और न किसी सजातीय यन्त्र को उत्पन्न करते हैं। ऐसा कोई यन्त्र नही जो अपना घाव खुद भर सके या मनुष्यकृत नियमन के बिना इधर-उधर घूम सके—तिर्यग्-गति कर सके। एक रेलगाडी पटरी पर अपना बोझ लिये पवन-वेग से दौड सकती है, पर उससे कुछ दूरी पर रेंगने वाली एक चीटी को भी वह नही मार सकती। चीटी मे चेतना है, वह इधर-उधर घूमती है। रेलगाडी जड है, उसमे वह शक्ति नही। यन्त्र-क्रिया का नियामक भी चेतनावान् प्राणी है। इसलिए यन्त्र और प्राणी की स्थिति एक-सी नही है। ये लक्षण जीवधारियो की अपनी विशेषताए है। जड मे ये नही मिलती।

जीव के नैश्चयिक लक्षण

आत्मा का नैश्चयिक लक्षण चेतना है। प्राणी मात्र मे उसका न्यूनाधिक मात्रा मे सद्भाव होता है। यद्यपि सत्ता रूप मे चैतन्य शक्ति सब प्राणियो के अनत होती है, पर विकास की अपेक्षा वह सब मे एक-सी नही होती। ज्ञान के आवरण की प्रबलता एव दुर्बलता के अनुसार उसका विकास न्यून या अधिक होता है। एकेन्द्रिय वाले जीवो मे भी कम से कम एक (स्पर्शन) इन्द्रिय का अनुभव मिलेगा। यदि वह न रहे, तब फिर जीव और अजीव मे कोई अन्तर नही रहता। जीव और अजीव का भेद बतलाते हुए शास्त्रो मे कहा है—'केवलज्ञान (पूर्णज्ञान) का अनन्तवा भाग तो सब जीवो के विकसित रहता है। यदि वह भी आवृत हो जाए तो जीव अजीव बन जाए।'

---

[1] हिन्दी विश्वभारती, खण्ड १, पृ० १३८
सोडियम धातु के टुकडे पानी मे तैरकुआ कीडो की तरह तीव्रता से इधर-उधर दौडते है और शीघ्र ही रासायनिक क्रिया के कारण समाप्त होकर लुप्त हो जाते है।

मध्यम और विराट् परिमाण

उपनिषदो मे आत्मा के परिमाण की विभिन्न कल्पनाए मिलती हैं। यह मनोमय पुरुष (आत्मा) अन्तर हृदय मे चावल या जौ के दाने जितना है। यह आत्मा प्रदेश-मात्र (अगूठे के सिरे से तजनी के सिरे तक की दूरी जितना) है। यह आत्मा शरीर-व्यापी है। यह आत्मा सर्व-व्यापी है। हृदय-कमल के भीतर यह आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोको की अपेक्षा बड़ा है।

जैन दर्शन मे जीव सख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। प्रत्येक जीव के प्रदेश या अविभागी अवयव असख्य हैं। जीव असख्य-प्रदेशी है। अत व्याप्त होने की क्षमता की दृष्टि से लोक के समान विराट् है। 'केवली-समुद्घात' की प्रक्रिया मे आत्मा कुछ समय के लिए व्यापक बन जाती है। 'मरण-समुद्घात' के समय भी आशिक व्यापकता होती है।

प्रदेश-सख्या की दृष्टि से धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश और जीव—ये चार समतुल्य हैं, अवगाह की दृष्टि से सम नही है। धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य और आकाश स्वीकारात्मक प्रवृत्ति और क्रिया-प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति से शून्य हैं, इसलिए उनके परिमाण मे कोई परिवर्तन नही होता। ससारी जीवो मे पुद्गलो का स्वीकरण और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया—ये दोनो प्रवृत्तिया होती है, इसलिए उनका परिमाण सदा समान नही रहता। वह सकुचित या विकसित होता रहता है। फिर भी अणु जितना सकुचित और लोकाकाश जितना विकसित (केवली समुद्घात के सिवाय) नही होता, इसलिए जीव मध्यम परिमाण की कोटि के होते हैं।

सकोच और विकोच जीवो की स्वभाविक प्रक्रिया नही है—वे कार्मण शरीर-सापेक्ष होते हैं। कर्म-युक्त दशा मे जीव शरीर की मर्यादा मे बधे हुए हैं इसलिए उनका परिमाण स्वतन्त्र नही होता। कार्मण शरीर का छोटापन और मोटापन गति-चतुष्टय-सापेक्ष (देव, नारक, मनुष्य और तिर्यंच—ये चार गति हैं) होता है। मुक्त-दशा मे सकोच-विकोच नही, वहा चरम शरीर के ठोस (दो तिहाई) भाग मे आत्मा का जो अवगाह होता है, वही रह जाता है।

आत्मा के सकोच-विकोच की दीपक के प्रकाश से तुलना की जा सकती है। खुले आकाश मे रखे हुए दीपक का प्रकाश अमुक परिमाण का होता है। उसी दीपक को यदि कोठरी मे रख दें, तो वही प्रकाश कोठरी मे समा जाता है। एक घड़े के नीचे रखते हैं, तो घड़े मे समा जाता है। ढकनी के नीचे रखते हैं तो ढकनी मे समा जाता है। उसी प्रकार कार्मण शरीर के आवरण से आत्म-प्रदेशो का भी सकोच और विस्तार होता रहता है।

जो आत्मा बालक-शरीर मे रहती है, वही आत्मा युवा-शरीर मे

रहती है और वही वृद्ध-शरीर मे। स्थूल-शरीर-व्यापी आत्मा कृश-शरीर-व्यापी हो जाती है। कृश-शरीर-व्यापी आत्मा स्थूल-शरीर-व्यापी हो जाती है।

इस विषय में एक शका हो सकती है कि आत्मा को शरीर-परिमाण मानने से वह अवयव-सहित हो जाएगी और अवयव-सहित हो जाने से वह अनित्य हो जाएगी, क्योंकि जो अवयव-सहित होता है, वह विशरणशील—अनित्य होता है। घडा अवयव-सहित है, अत अनित्य है। इसका समाधान यह है कि यह कोई नियम नही कि जो अवयव-सहित होता है, वह विशरण-शील ही होता है। जैसे घडे का आकाश, पट का आकाश इत्यादिक रूपता से आकाश सावयव है और नित्य है, वैसे ही आत्मा भी सावयव और नित्य है और जो अवयव किसी कारण से इकट्ठे होते है, वे ही फिर अलग हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो अविभागी अवयव हैं, वे अवयवी से कभी पृथक् नही हो सकते।

विश्व की कोई भी वस्तु एकात (निरपेक्ष) रूप से नित्य और अनित्य नही है, किन्तु नित्यानित्य है। आत्मा नित्य भी है, अनित्य भी है। आत्मा का चैतन्य-स्वरूप कदापि नही छूटता, अत आत्मा नित्य है। आत्मा के प्रदेश कभी सकुचित रहते हैं, कभी विकसित रहते हैं, कभी सुख मे, कभी दु ख मे —इत्यादि कारणो से तथा पर्यायान्तर से आत्मा अनित्य है। अत स्याद्वाद की दृष्टि से सावयवता भी आत्मा के शरीर-परिमाण होने मे बाधक नही है।

बद्ध और मुक्त

आत्मा दो प्रकार की हैं—बद्ध आत्मा और मुक्त आत्मा। कर्म-बन्धन टूटने से जिनका आत्मीय स्वरूप प्रगट हो जाता है, वे मुक्त आत्माए होती है। वे भी अनन्त है। उनके शरीर एव शरीर-जन्य क्रिया, जन्म-मृत्यु आदि कुछ भी नही होते। वे आत्म-रूप हो जाती हैं। अतएव उन्हे सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। जो ससारी आत्माए हैं, वे कर्म-बद्ध होने के कारण अनेक योनियो म परिभ्रमण करती हैं, कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं। ये मुक्त आत्माओ से अनन्तानन्त गुनी होती हैं। मुक्त आत्माओ का अस्तित्व पृथक्-पृथक् होता है, तथापि उनके स्वरूप मे पूर्ण समता होती है। ससारी जीवो मे भी स्वरूप की दृष्टि से ऐक्य होता है किन्तु वह कर्म से आवृत रहता है और कर्मकृत भिन्नता से वे विविध वर्गों मे बट जाते हैं, जैसे पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव आदि जीवो के छह निकाय। ये शारीरिक परमाणुओ की भिन्नता के अनुसार हैं। सब जीवो के शरीर एक-से नही होते। किन्ही जीवो का शरीर पृथ्वी होता है, तो किन्ही का पानी। इस प्रकार पृथक्-पृथक् परमाणुओ के शरीर बनते हैं। इनमे पृथ्वीकाय,

अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय के असंख्यात, वनस्पतिकाय के अनन्त तथा त्रसकाय के असंख्यात जीव होते हैं।

त्रसकाय के जीव स्थूल ही होते है। शेष पाच निकाय के जीव स्थूल और सूक्ष्म—दोनो प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म जीवो से समूचा लोक भरा है। स्थूल जीव भूमि आदि आधार बिना नही रह सकते, अत वे लोक के थोड़े भाग मे हैं।

एक-एक काय मे कितने जीव हैं, यह उपमा के द्वारा समझाया गया है—एक हरे आवले के समान मिट्टी के ढेले मे जो पृथ्वी के जीव हैं, उन सब मे से प्रत्येक का शरीर कबूतर जितना बड़ा किया जाए, तो वे एक लाख योजन लम्बे-चौड़े जम्बूद्वीप मे नही समाते।

पानी की बूद मे जितने जीव हैं, उनमे से प्रत्येक का शरीर सरसो के दाने के समान बनाया जाए, तो वे उक्त जम्बूद्वीप मे नही समाते।

एक चिनगारी के जीवो मे से प्रत्येक के शरीर को लीख के समान किया जाए, तो वे भी जम्बूद्वीप मे नही समाते।

नीम के पत्ते को छूने वाली हवा मे जितने जीव हैं, उन सब म मे प्रत्येक के शरीर को खस-खस के दाने के समान किया जाए तो वे जम्बूद्वीप मे नही समाते।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार सूक्ष्म जीवाणु, कीटाणु विषाणु आदि बहुसंख्या मे उत्पन्न होते है। एक आलपीन के सिरे जितने स्थान मे १०००० सूक्ष्म जीव समा जाते है।

शरीर और आत्मा

शरीर और आत्मा का क्या सम्बन्ध है? मानसिक विचारो का हमारे शरीर तथा मस्तिष्क के साथ क्या सम्बन्ध है? इन प्रश्नो के उत्तर मे तीन वाद प्रसिद्ध है—

१ एक पाक्षिक-क्रियावाद (भूत-चैतन्यवाद)।
२ मनोदैहिक-सहचरवाद।
३ अन्यान्याश्रयवाद।

भूत-चैतन्यवादी केवल शारीरिक व्यापारो को ही मानसिक व्यापारो का कारण मानते हैं। उनकी सम्मति मे आत्मा शरीर की उपज है। मस्तिष्क की विशेष कोष्ठ-क्रिया ही चेतना है। ये प्रकृतिवादी भी कहे जाते है। आत्मा को प्रकृति-जन्य सिद्ध करने के लिए ये इस प्रकार अपना अभिमत प्रस्तुत करते है। पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है। श्वासोच्छ्वास फेफड़ो की क्रिया का नाम है। वैसे ही चेतना (आत्मा) मस्तिष्क की कोष-क्रिया का नाम है। यह भूत-चैतन्यवाद का एक सक्षिप्त रूप है। आत्मवादी इसका निरसन

इस प्रकार करते है—"चेतना मस्तिष्क के कोषो की क्रिया है। इसमे द्वयर्थक क्रिया शब्द का समानार्थक प्रयोग किया गया है। आमाशय की क्रिया और मस्तिष्क की क्रिया मे बडा भारी अन्तर है। क्रिया शब्द का दो बार का प्रयोग विचार-भेद का द्योतक है। जब हम यह कहते हैं कि पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है, तब पाचन और आमाशय की क्रिया मे भेद नही समझते। पर जब मस्तिष्क की कोष-क्रिया का विचार करते हैं, तब उस क्रिया-मात्र को चेतना नही समझते। चेतना का विचार करते है, तब मस्तिष्क की कोष-क्रिया का किसी प्रकार का ध्यान नही आता। ये दोनो घटनाए सर्वथा विभिन्न है। पाचन से आमाशय की क्रिया का बोध हो आता है और आमाशय की क्रिया से पाचन का। पाचन और आमाशय की क्रिया—ये दो घटनाए नही, एक ही क्रिया के दो नाम है। आमाशय, हृदय और मस्तिष्क तथा शरीर के सारे अवयव चेतनाहीन तत्त्व से बने हुए होते है। चेतनाहीन से चेतना उत्पन्न नही हो सकती। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए पादरी बटलर ने लिखा है—"आप हाइड्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, आक्सीजन तत्त्व के मृत परमाणु, कार्बन तत्त्व के मृत परमाणु, नाइट्रोजन के मृत परमाणु फास-फोरस तत्त्व के मृत परमाणु तथा बारूद को भाति उन समस्त तत्त्वो के मृत परमाणु जिनसे मस्तिष्क बना है, ले लीजिए। विचारिए कि ये परमाणु पृथक्-पृथक् एव ज्ञान-शून्य हैं फिर विचारिए कि ये परमाणु साथ-साथ दौड रहे है और परस्पर मिश्रित होकर जितने प्रकार के स्कध हो सकते है, बना रहे हैं। इस शुद्ध यात्रिक क्रिया का चित्र आप अपने मन मे खीच सकते है। क्या यह आपकी दृष्टि, स्वप्न या विचार मे आ सकता है कि इस यात्रिक क्रिया एव इन मृत परमाणुओ से बोध, विचार एव भावनाए उत्पन्न हो सकती है? क्या पासो के खटपटाने से होमर कवि या बिलयर्ड खेल की गेद के खनखनाने से अवकल गणित (Differential Calculus) निकल सकता है?

आज मनुष्य की इस जिज्ञासा कि परमाणुओ के परस्पर सम्मिश्रण की यात्रिक क्रिया से ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो गई, सन्तोषप्रद उत्तर नही दे सकते।"

पाचन और श्वासोच्छ्वास की क्रिया से चेतना की तुलना भी त्रुटि-पूर्ण है। ये दोनो क्रियाए स्वय अचेतन है। अचेतन मस्तिष्क की क्रिया चेतना नही हो सकती। इसलिए यह मानना होगा कि चेतना एक स्वतत्र सत्ता है, मस्तिष्क की उपज नही।

शारीरिक व्यापारो को ही मानसिक व्यापारो के कारण मानने वालो के दूसरी आपत्ति यह आती है कि—"मैं अपनी इच्छा के अनुसार चलता हू—मेरे भाव शारीरिक परिवर्तनो को पैदा करने वाले है" इत्यादि प्रयोग नही किये जा सकते।

'मनोदैहिक-सहचरवाद' के अनुसार मानसिक तथा शारीरिक व्यापार परस्पर सहकारी हैं, इसके सिवाय दोनो मे किसी प्रकार का सबध नही। इस वाद का उत्तर अन्योन्याश्रयवाद है। उसके अनुसार शारीरिक क्रियाओं का मानसिक व्यापारो पर एव मानसिक व्यापारो का शारीरिक क्रियाओ पर असर होता है। जैसे—

१ मस्तिष्क की बीमारी से मानसिक शक्ति दुर्बल हो जाती है।

२ मस्तिष्क के परिमाण के अनुसार मानसिक शक्ति का विकास होता है।

साधारणतया पुरुषो का दिमाग ४६ से ५० या ५२ औंस तक का और स्त्रियो का ४४-४८ औंस तक का होता है। देश-विशेष के अनुसार इनमे कुछ न्यूनाधिकता भी पायी जाती है। अपवाद रूप असाधारण मानसिक शक्ति वालो का दिमाग औसत परिमाण से भी नीचे दर्जे का पाया गया है। पर साधारण नियमानुसार दिमाग के परिमाण और मानसिक विकास का सम्बन्ध रहता है।

३ ब्राह्मीघृत आदि विविध औषधियो से मानसिक विकास को सहारा मिलता है।

४ दिमाग पर आघात होने से स्मरण-शक्ति क्षीण हो जाती है।

५ दिमाग का एक विशेष भाग मानसिक शक्ति के साथ सबधित है, उसकी क्षति से मानस-शक्ति मे हानि होती है।

मानसिक क्रिया का शरीर पर प्रभाव

१ निरन्तर चिता एव दिमागी परिश्रम से शरीर थक जाता है।

२ सुख-दुःख का शरीर पर प्रभाव होता है।

३ उदासीन वृत्ति एव चिता से पाचन शक्ति मद हो जाती है, शरीर कृश हो जाता है। क्रोध आदि से रक्त विषाक्त बन जाता है।

इन घटनाओ के अवलोकन के बाद शरीर और मन के पारस्परिक सबध के बारे मे सदेह का कोई अवकाश नही रहता। इस प्रकार अन्योन्याश्रयवादी मानसिक एव शारीरिक सम्बन्ध के निर्णय तक पहुच गए। दोनो शक्तियो का पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर लिया। किंतु उनके सामने एक उलझन अब तक भी मौजद है। दो विसदृश पदार्थों के बीच कार्य-कारण का सबध कैसे? इसका वे अभी समाधान नही कर पाए है।

दो विसदृश पदार्थों (अरूप और सरूप) का सबध

आत्मा और शरीर—ये विजातीय द्रव्य हैं। आत्मा चेतन और अरूप है, शरीर अचेतन और सरूप। इस दशा मे दोनो का सबध कैसे हो सकता है? इसका समाधान जैन दर्शन मे किया गया है। ससारी आत्मा सूक्ष्म और

स्थूल, इन दो प्रकार के शरीरो से वेष्टित रहता है। एक जन्म से दूसरे जन्म मे जाने के समय स्थूल शरीर छूट जाता है, सूक्ष्म शरीर नही छूटता। सूक्ष्म शरीरधारी जीवो को एक के बाद दूसरे-तीसरे स्थूल शरीर का निर्माण करना पड़ता है। सूक्ष्म शरीरधारी जीव ही दूसरा शरीर धारण करते हैं, इसलिए अमूर्त जीव मूर्त शरीर मे कैसे प्रवेश करते हैं—यह प्रश्न ही नही उठता। सूक्ष्म शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अपश्चानुपूर्वी है। अपश्चानुपूर्वी उसे कहा जाता है, जहा पहले-पीछे का कोई विभाग नही होता—पौर्वापर्य नही निकाला जा सकता। तात्पर्य यह हुआ कि उनका सम्बन्ध अनादि है। इसी-लिए ससार-दशा मे जीव कथचित् मूर्त भी है। उनका अमूर्त रूप विदेहदशा मे प्रकट होता है। यह स्थिति बनने पर फिर उनका मूर्त द्रव्य से कोई सम्बन्ध नही रहता। किंतु ससार-दशा मे जीव और पुद्गल का कथचित् सादृश्य होता है, इसलिए उनका सम्बन्ध होना असभव नही। 'अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध नही हो सकता'—यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है, यह उचित है। इनमे क्रिया-प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध नही हो सकता।

अरूप (ब्रह्म) का सरूप (जगत्) के साथ सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता। अरूप ब्रह्म के रूप-प्रणयन की वेदान्त दर्शन के लिए एक जटिल समस्या है। सगति मे असगति (ब्रह्म से जगत्) और असगति से फिर सगति की ओर गति क्यो होती है ? यह उसे और अधिक जटिल बना देती है।

अमूर्त आत्मा के मूर्त शरीर के साथ सम्बन्ध की स्थिति जैन दर्शन के सामने वैसी ही उलझन भरी है, किन्तु वस्तुवृत्त्या वह उससे भिन्न है। जैन-दृष्टि के अनुसार अरूप का रूप-प्रणयन नही हो सकता। ससारी आत्माए अरूप नही होती। उनका विशुद्ध रूप अमूर्त होता है, किन्तु ससार-दशा मे उसकी प्राप्ति नही होती। उनकी अरूप-स्थिति मुक्त-दशा मे बनती है। उसके बाद उनका सरूप के घात-प्रत्याघातो से कोई लगाव नही होता।

विज्ञान और आत्मा

भौतिकवादी वैज्ञानिको की समीक्षा

बहुत से पश्चिमी वैज्ञानिक आत्मा को मन से अलग नही मानते। उनकी दृष्टि मे मन और मस्तिष्क-क्रिया एक है। दूसरे शब्दो मे मन और मस्तिष्क पर्यायवाची शब्द हैं। पावलोफ ने इसका समर्थन किया है कि स्मृति मस्तिष्क (cerebrum) की करोडो कोशिकाओ (cells) की क्रिया है। पावलोफ के सिद्धान्त को प्रवृत्तिवाद कहते है। उसका कहना है कि समस्त मानसिक क्रियाए शारीरिक प्रवृत्ति के साथ होती है। मानसिक क्रिया और

शारीरिक प्रवृत्ति अभिन्न ही है। बर्गसा जिस युक्ति के बल पर आत्मा के अस्तित्व की आवश्यकता अनुभव करता है, उसके मूलभूत तथ्य स्मृति को 'पावलोफ' मस्तिष्क के कोशिकाओ की क्रिया बतलाता है। फोटो के नेगेटिब प्लेट मे जिस प्रकार प्रतिबिम्ब खीचे हुए होते है, उसी प्रकार मस्तिष्क मे अतीत के चित्र प्रतिबिम्बत रहते हैं। जब उन्हे तदनुकूल सामग्री द्वारा नई प्रेरणा मिलती है, तब वे जागृत हो जाते हैं, निम्न स्तर से उपरी स्तर मे आ जाते हैं, इसी का नाम स्मृति है। इसके लिए भौतिक तत्त्वो से पृथक् अन्वयी आत्मा मानने की कोई आवश्यकता नही। भूताद्वैतवादी वैज्ञानिको ने भौतिक प्रयोग के द्वारा अभौतिक सत्ता का नास्तित्व सिद्ध करने की बहुमुखी चेष्टाए की है, फिर भी भौतिक प्रयोगो का क्षेत्र भौतिकता तक ही सीमित रहता है, अमूर्त आत्मा या मन का नास्तित्व सिद्ध करने मे उसका अधिकार सम्पन्न नही होता।

मन भौतिक और अभौतिक दोनो प्रकार का होता है। मनन, चिन्तन, तर्क, अनुमान, स्मृति 'तदेवेदम्' इस प्रकार संकलनात्मक ज्ञान—अतीत और वर्तमान ज्ञान को जोड करना, ये कार्य अभौतिक मन के है। भौतिक मन उसकी ज्ञानात्मक प्रवृत्ति का साधन है। इसे हम मस्तिष्क या 'औपचारिक ज्ञान तंतु' भी कह सकते है। मस्तिष्क शरीर का अवयव है। उस पर विभिन्न प्रयोग करने पर मानसिक स्थिति मे परिवर्तन पाया जाए, अर्ध-स्मरण या विस्मरण आदि मिले यह कोई आश्चर्यजनक घटना नही। क्योकि कारण के अभाव मे कार्य अभिव्यक्त नही होता यह निश्चित तथ्य हमारे सामने है। भौतिकवादी तो मस्तिष्क भी भौतिक है या और कुछ—इस समस्या मे उलझे हुए है। वे कहते है "मन सिर्फ भौतिक तत्त्व नही है। ऐसा होने पर उसके विचित्र गुण—चेतन-क्रियाओ की व्याख्या नही हो सकती। मन (मस्तिष्क) मे ऐसे नये गुण देखे जाते है, जो पहले भौतिक-तत्त्वो मे मौजूद न थे, इसलिए भौतिक-तत्त्वो और मन को एक नही कहा जा सकता। साथ ही भौतिक-तत्त्वो से मन इतना दूर भी नही है कि उसे बिल्कुल ही एक अलग तत्त्व माना जाए।'

इन पक्तियो से यह समझा जाता है कि वैज्ञानिक जगत् मन के विषय मे ही नही, किन्तु मन के साधनभूत मस्तिष्क के बारे मे भी कितना सदिग्ध है। मस्तिष्क को अतीत के प्रतिबिम्बो का वाहक और स्मृति का साधन मानकर स्वतंत्र चेतना का लोप नही किया जा सकता। मस्तिष्क फोटो के नेगेटिव प्लेट की भांति वर्तमान चित्रो को खीच सकता है, सुरक्षित रख सकता है, इस कल्पना के आधार पर उसे स्मृति का साधन भले ही माना जाए, किन्तु इस स्थिति मे वह भविष्य की कल्पना नही कर सकता। उसमे केवल घटनाए अंकित हो सकती है, पर उसके पीछे छिपे हुए कारण स्वतन्त्र चेतनात्मक व्यक्ति का अस्तित्व माने बिना नही जाने जा सकते। 'यह क्यो? यह है तो ऐसा

होना चाहिए, ऐसा नहीं होना चाहिए, यह नही हो सकता, यह वही है, इसका परिणाम यह होगा'—इत्यादि ज्ञान की क्रियाए अपना स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करती है। प्लेट की चित्रावली मे नियमन होता है। प्रतिबिम्बित चित्र के अतिरिक्त उसमे और कुछ भी नही होता। यह नियम मानव-मन पर लागू नही होता। वह अतीत की धारणाओ के आधार पर बड़े-बड़े निष्कर्ष निकालता है, भविष्य का मार्ग निर्णीत करता है। इसलिए इस दृष्टात की भी मानस-क्रिया मे सगति नही होती।

तर्कशास्त्र और विज्ञान-शास्त्र अकित प्रतिबिम्बो के परिणाम नही हैं। अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व वैज्ञानिक आविष्कार स्वतन्त्र मानस की तर्कणा के कार्य हैं, किसी दृष्ट-वस्तु के प्रतिबिम्ब नही। इसलिए हमे स्वतन्त्र चेतना का अस्तित्व और उसका विकास मानना ही होगा। हम प्रत्यक्ष मे आनेवाली चेतना की विशिष्ट क्रियाओ की किसी भी तरह अवहेलना नही कर सकते। इसके अतिरिक्त भौतिकवादी वैज्ञानिक 'चेतन और अचेतन का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?'—इस प्रश्न के द्वारा बगसा की आत्म-साधक युक्ति को व्यर्थ प्रमाणित करना चाहते हैं। बगसा के सिद्धात की अपूर्णता का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि बगसा जैसे दार्शनिक चेतना को भौतिक तत्त्वो से अलग ही एक रहस्यमय वस्तु साबित करना चाहते है। ऐसा साबित करने मे उनकी सबसे जबरदस्त युक्ति है 'स्मृति'। मस्तिष्क शरीर का अग होने से एक क्षणिक परिवर्तनशील वस्तु है। वह स्मृति को भूत से वर्तमान मे लाने का वाहन नही बन सकता। इसके लिए किसी अक्षणिक—स्थायी माध्यम की आवश्यकता है। इसे वह चेतना या आत्मा का नाम देते है। स्मृति को अतीत से वर्तमान और परे भी ले जाने की जरूरत है, लेकिन अमर चेतना का मरणधर्मा अचेतन से सबध कैसे होता है—यह आसान समस्या नही है। चेतन और अचेतन इतने विरुद्ध द्रव्यो का एक-दूसरे के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करना तेल मे पानी मिलाने जैसा है। इसलिए इस कठिनाई को दूर करने का तरीका ढूढा जा रहा है। इससे इतना साफ हो जाता है कि चेतना या स्मृति से ही हमारी समस्या हल नही हो सकती।

तज्जीवन्तच्छरीरवादी वर्ग ने आत्मवादी पाश्चात्य दार्शनिको की जिस कठिनाई को सामने रखकर सुख की सास ली है, उस कठिनाई को भारतीय दार्शनिको ने पहले से ही साफ कर अपना पथ प्रशस्त कर लिया था। ससार-दशा मे आत्मा और शरीर—ये दोनो सर्वथा भिन्न नही होते। गौतम स्वामी के प्रश्नो का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने आत्मा और शरीर का भेदाभेद बतलाया है—"आत्मा शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी। शरीर रूपी भी है और अरूपी भी तथा वह सचेतन भी है और अचेतन भी।" शरीर और आत्मा का क्षीर-नीरवत् अथवा अग्नि-लोह-पिण्डवत तादात्म्य होता है।

यह आत्मा की संसारावस्था है। इसमे जीव और शरीर का कथचित् (किसी एक अपेक्षा से) अभेद होता है। अतएव जीव के दस परिणाम होते हैं तथा इसमे वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि पौद्‌गलिक गुण भी मिलते है। शरीर से आत्मा का कथचित्-भेद होता है। इसलिए उसको अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श कहा जाता है। आत्मा और शरीर का भेदाभेद-स्वरूप जानने के पश्चात् 'अमर चेतना का मरणधर्मा अचेतन से सम्बन्ध कैसे होता है?—यह प्रश्न कोई मूल्य नही रखता। विश्ववर्ती चेतन सर्भ, पदार्थ परिणामी नित्य है। ऐकान्तिक रूप मे कोई भी पदार्थ मरणधर्मा या अमर नहीं। आत्मा स्वय नित्य भी है और अनित्य भी, सहेतुक भी है और निर्हेतुक भी। कर्म के कारण आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाए होती है, इसलिए वह अनित्य और सहेतुक है तथा उसके स्वरूप का कभी प्रच्यव (विनाश) नही होता, इसलिए वह नित्य और निर्हेतुक है। शरीरस्थ आत्मा ही भौतिक पदार्थों मे सम्बद्ध होती है, स्वरूपस्थ होने के बाद वह विशुद्ध चेतनावान् और सर्वथा अमूर्त बनती है, फिर उसका कभी अचेतन पदार्थ मे सबध नही होता। बद्ध आत्मा स्थूल-शरीर-मुक्त होने पर भी सूक्ष्म-शरीर-युक्त रहती है। स्थूल शरीर मे वह प्रवेश नही करती किन्तु सूक्ष्म-शरीरवान् होने के कारण स्वय उसका निर्माण करती है। अचेतन के साथ उसका अभूतपूर्व सम्बन्ध नही होता, किन्तु अनादिकालीन प्रवाह मे शरीर-पर्यायात्मक एक कडी और जुड जाती है। उसमे कोई विरोध नही आता। ससारी आत्मा अनादिकाल से कर्म से बधा हुआ है। वह कभी भी अपने रूप मे स्थित नही अतएव अमूर्त होने पर भी उसका मूर्त कर्म (अचेतन-द्रव्य) के साथ सम्बन्ध होने मे कोई आपत्ति नही होती।

आत्मा पर विज्ञान का प्रयोग

वैज्ञानिको ने प्राकृतिक मूल तत्त्व की सख्या ९२ मानी है। इनके अलावा कृत्रिम विधियो से निर्मित तत्त्वो को मिलाकर यह सख्या लगभग १०६ तक चली जाती है। वे सब मूर्तिमान है। उन्होने जितने प्रयोग किए हैं, वे सभी मूर्त द्रव्यो पर ही किए है। अमूर्त तत्त्व इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नही बनता। उस पर प्रयोग भी नही किए जा सकते। आत्मा अमूर्त है, इसलिए आज वैज्ञानिक, भौतिक साधन-सपन्न होते हुए भी उसका पता नही लगा सके। किन्तु भौतिक साधनो से आत्मा का अस्तित्व नही जाना जाता, तो उसका नास्तित्व भी नही जाना जाता। शरीर पर किए गए विविध प्रयोगो से आत्मा की स्थिति स्पष्ट नही होती। रूस के जीव-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् पावलोफ ने एक कुत्ते का दिमाग निकाल लिया। उससे वह शून्यवत् हो गया। उसकी चेष्टाए स्तब्ध हो गई। वह अपने मालिक तथा खाद्य तक को नही

पहचान पाता था। फिर भी वह मरा नही। इन्जेक्शनो द्वारा उसे खाद्य तत्त्व दिया जाता रहा। इस प्रयोग पर उन्होने यह बताया कि दिमाग ही चेतना है। उसके निकल जाने पर प्राणी मे कुछ भी चैतन्य नहीं रहता।

इस पर हमे अधिक कहने की कोई आवश्यकता नही। यहा सिर्फ इतना समझना ही पर्याप्त होगा कि दिमाग चेतना का उत्पादक नही, किन्तु वह मानस-प्रवृत्तियो के उपयोग का साधन है। दिमाग निकाल लेने पर उसकी मानसिक चेष्टाए रुक गईं, इसका अर्थ यह नही कि उसकी चेतना विलीन हो गई। यदि ऐसा होता तो वह जीवित नही रह पाता। खाद्य-स्वीकरण, रक्त-सचार, प्राणापान आदि चेतनावान् प्राणी मे ही होता है। बहुत सारे ऐसे भी प्राणी हैं, जिनके मस्तिष्क होता ही नही। वह केवल 'मानस-प्रवृत्ति वाले प्राणी' के ही होता है। वनस्पति भी आत्मा है। उनमे चेतना है, हर्ष, शोक, भय आदि प्रवृत्तिया हैं, पर उनके दिमाग नही होता। चेतना का सामान्य लक्षण स्वानुभव है। जिसम स्वानुभूति होती है, सुख-दुख का अनुभव करने की क्षमता होती है, वही आत्मा है। फिर चाहे वह अपनी अनुभूति व्यक्त कर सके या न कर सके, उसको व्यक्त करने के साधन मिले या न मिलें। वाणी-विहीन प्राणी को प्रहार स कष्ट नही होता, यह मानना यौक्तिक नही। उसके पास बोलने का साधन नही, इसलिए अपना कष्ट कह नही सकता। फिर भी वह कष्ट का अनुभव कैसे नही करेगा ? विकासशील प्राणी मूक होने पर भी अपनी अग-सचालन-क्रिया स पीडा जता सकते है। जिनमे यह शक्ति भी नहीं होती, वे किसी भी तरह अपनी स्थिति को स्पष्ट नही कर सकते। इससे स्पष्ट है कि बोलना, अग-सचालन होते दीखना, चेष्टाओ को व्यक्त करना, ये आत्मा के व्यापक लक्षण नही हैं। ये केवल विशिष्ट शरीरधारी यानी त्रसजातिगत आत्माओ के होते है। स्थावर जातिगत आत्माओ मे ये स्पष्ट लक्षण नही मिलते। इससे उनकी चेतनता और सुख-दुखानुभूति का लोप थोडे ही किया जा सकता है ! स्थावर जीवो की कष्टानुभूति की चर्चा करते हुए शास्त्रो मे लिखा है—"जन्मान्ध, जन्म-मूक, जन्म-बधिर एव रोगग्रस्त पुरुष के शरीर का कोई युवा पुरुष तलवार एव खड्ग से ३२ स्थानो का छेदन-भेदन करे, उस समय उसे जैसा कष्ट होता है, वैसा कष्ट पृथ्वी के जीवो को स्पर्श करने से होता है। तथापि सामग्री के अभाव मे वे बता नहीं सकते।" मानव प्रत्यक्ष प्रमाण का आग्रही है, इसलिए वह इस परोक्ष तथ्य को स्वीकार करने से हिचकता है। जो कुछ भी हो, इस विषय पर हमे इतना-सा स्मरण कर लेना होगा कि आत्मा अरूपी चेतन सत्ता है। वह किसी प्रकार भी चर्म-चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नही हो सकती।

आज से ढाई हजार वर्ष पहले कोशाम्बी-पति राजा प्रदेशी ने अपने जीवन के नास्तिक-काल मे शारीरिक अवयवो के परीक्षण द्वारा आत्म-

प्रत्यक्षीकरण के अनेक प्रयोग किए, किन्तु उसका वह समूचा प्रयास विफल रहा।

आज के वैज्ञानिक भी यदि वैसे ही असम्भव चेष्टाए करते रहेंगे, तो कुछ भी तथ्य नहीं निकलेगा। इसके विपरीत यदि वे चेतना का आनुमानिक एव स्व-संवेदनात्मक अन्वेषण करें, तो इस गुत्थी को अधिक सरलता से सुलझा सकते हैं।

चेतना का पूर्वरूप क्या है ?

निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति नही हो सकती—इस तथ्य को स्वीकार करनेवाले दार्शनिक चेतना तत्त्व को अनादि अनन्त मानते हैं। दूसरी श्रेणी उन दार्शनिको की है जो निर्जीव से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड की धारणा भी यही है कि जीवन का आरभ निर्जीव पदार्थ से हुआ। वैज्ञानिक जगत् मे भी इस विचार की दो धाराए हैं।

१ वैज्ञानिक लुई पाश्चर और टिंजल आदि निर्जीव से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते।

२ रूसी नारी वैज्ञानिक लेपेमिनस्काया, अणु-वैज्ञानिक डॉ० डेराल्ड यूरे और उनके शिष्य स्टैनले मिलर आदि निष्प्राण सत्ता से सप्राण सत्ता की उत्पत्ति मे विश्वास करते है।

चैतन्य को अचेतन की भांति अनुत्पन्न सत्ता या नैसर्गिक सत्ता स्वीकार करने वालो को 'चेतना का पूर्वरूप क्या है ?'—यह प्रश्न उलझन मे नही डालता।

दूसरी कोटि के लोग, जो अहेतुक या आकस्मिक चैतन्योत्पादवादी हैं, उन्हें यह प्रश्न झकझोर देता है। आदि-जीव किन अवस्थाओ मे कब और कैसे उत्पन्न हुआ—यह रहस्य आज भी उनके लिए कल्पना-मात्र है।

लुई पाश्चर और टिंजल ने वैज्ञानिक परीक्षण के द्वारा यह प्रमाणित किया कि निर्जीव से सजीव पदार्थ उत्पन्न नही हो सकते। यह परीक्षण यो है—

" एक काच के गोले मे उन्होने कुछ विशुद्ध पदार्थ रख दिया और उसके बाद धीरे-धीरे उसके भीतर से समस्त हवा निकाल दी। वह गोला और उसके भीतर रखा हुआ पदार्थ ऐसा था कि उसके भीतर कोई भी सजीव प्राणी या उसका अण्डा या वैसी ही कोई चीज रह न जाए, यह पहले ही अत्यन्त सावधानी से देख लिया गया। इस अवस्था में रखे जाने पर देखा गया कि चाहे जितने दिन भी रखा जाए, उसके भीतर इस प्रकार की अवस्था मे किसी प्रकार की जीव-सत्ता प्रकट नही होती। उसी पदार्थ को बाहर निकालकर रख देने पर कुछ दिनो मे ही उसमे कीडे, मकोडे, क्षुद्राकार बीजाणु

दिखाई देने लगते है । इससे यह सिद्ध हो गया कि बाहर की हवा मे रहकर ही बीजाणु या प्राणी का अण्डा या छोटे-छोटे विशिष्ट जीव इस पदार्थ मे जाकर उपस्थित होते हैं ।"

स्टैनले मिलर ने डॉ० यूरे के अनुसार जीवन की उत्पत्ति के समय जो परिस्थितिया थी, वे ही उत्पन्न कर दी । एक सप्ताह के बाद उसने अपने रासायनिक मिश्रण की परीक्षा की । उसमे तीन प्रकार के प्रोटीन मिले, परतु एक भी प्रोटीन जीवित नही मिला । मार्क्सवाद के अनुसार चेतना भौतिक सत्ता का गुणात्मक परिवर्तन है । पानी पानी है, परन्तु उसका तापमान थोडा बढा दिया जाए, तो एक निश्चित बिन्दु पर पहुचने के बाद वह भाप बन जाता है (ताप के जिस बिन्दु पर वह होता है, यह वायुमडल के दबाव के साथ बदलता रहता है) । यदि उसका तापमान कम कर दिया जाए तो वह बर्फ बन जाता है । जैसे भाप और बर्फ का पूर्व-रूप पानी है, उसका भाप या बर्फ के रूप मे परिणमन होने पर, गुणात्मक परिवर्तन होने पर, वह पानी नही रहता । वैसे चेतना का पहले रूप क्या था जो मिटकर चेतना को पैदा कर सका ? इसका कोई समाधान नही मिलता । "पानी को गर्म कीजिए तो बहुत समय तक वह पानी ही बना रहेगा । उसमे पानी के सभी साधारण गुण मौजूद रहेगे, केवल उसकी गर्मी बढती जाएगी । इसी प्रकार पानी को ठडा कीजिए तो एक हद तक वह पानी ही बना रहता है, लेकिन उसकी गर्मी कम हो जाती है । परन्तु एक बिन्दु पर परिवर्तन का यह क्रम यकायक टूट जाता है । शीत या उष्ण (वैज्ञानिक शब्दावली मे गलनाक और क्वथनाक) बिन्दु पर पहुचते ही पानी के गुण एकदम बदल जाते है । पानी पानी नही रहता, बल्कि बर्फ या भाप बन जाता है ।"

जैसे निश्चित बिन्दु पर पहुचने पर पानी भाप या बर्फ बनता है, वैसे ही भौतिकता का कौन-सा निश्चित बिन्दु है जहा पहुचकर भौतिकता चेतना के रूप मे परिवर्तित होती है ? मस्तिष्क के घटक तत्त्व है—हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन, फासफोरस आदि-आदि । इनमे से कोई एक तत्त्व चेतना का उत्पादक है या सबके मिश्रण से वह उत्पन्न होती है और कितने तत्त्वो की कितनी मात्रा बनने पर वह पैदा होती है ?—इसका कोई ज्ञान अभी तक नही हुआ है । चेतना भौतिक तत्त्वो के मिश्रण से पैदा होती है या वह भौतिकता का गुणात्मक परिवर्तन है, यह तब तक वैज्ञानिक सिद्धात नही बन सकता, जब तक भौतिकता के उस चरम-बिन्दु की, जहा पहुचकर यह चेतना के रूप मे परिवर्तित होता है, निश्चित जानकारी न मिले ।

इन्द्रिय और मस्तिष्क आत्मा नहीं

आंख, कान आदि नष्ट होने पर भी उनके द्वारा विज्ञात विषय की

स्मृति रहती है। इसका कारण यही है कि आत्मा देह और इन्द्रिय से भिन्न है। यदि ऐसा न होता तो इन्द्रिय के नष्ट होने पर उनके द्वारा किया हुआ ज्ञान भी चला जाता। इन्द्रिय के विकृत होने पर भी पूर्व-ज्ञान विकृत नहीं होता। इससे प्रमाणित होता है कि ज्ञान का अधिष्ठान इन्द्रिय से भिन्न है। वह आत्मा है। इस पर कहा जा सकता है कि इन्द्रिय बिगड जाने पर जो पूर्व-ज्ञान की स्मृति होती है, उसका कारण है मस्तिष्क, आत्मा नहीं। मस्तिष्क स्वस्थ होता है, तब तक स्मृति है। उसके बिगड जाने पर स्मृति नही होती। इसलिए "मस्तिष्क ही ज्ञान का अधिष्ठान है, उससे पृथक आत्मा नामक तत्त्व का स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं।" यह तर्क भी आत्मवादी के लिए नगण्य है। जैसे इन्द्रिया बाहरी वस्तुओ को जानने के साधन है, वैसे मस्तिष्क इन्द्रिय-ज्ञान विषयक चिंतन और स्मृति का साधन है। उसके विकृत होने पर यथार्थ स्मृति नही होती। फिर भी पागल व्यक्ति मे चेतना की क्रिया चालू रहती है, वह उससे भी परे की शक्ति की प्रेरणा है। साधना की कमी होने पर आत्मा की ज्ञान-शक्ति विकल हो जाती है, नष्ट नही होती। मस्तिष्क विकृत हो जाने पर अथवा उसे निकाल देने पर भी खाना-पीना, चलना-फिरना, हिलना-डुलना, श्वास-उच्छ्वास लेना आदि-आदि प्राण-क्रियाए होती रहती है। वे यह बताती है कि मस्तिष्क के अतिरिक्त जीवन की कोई दूसरी शक्ति है। उसी शक्ति के कारण शरीर के अनुभव और प्राण की क्रिया होती है। मस्तिष्क से चेतना का सम्बन्ध है। इसे आत्मवादी भी स्वीकार नही करते। 'तन्दुलवेयालिय' ग्रन्थ के अनुसार इस शरीर मे १६० ऊर्ध्वगामिनी और रसहारिणी शिराए है, जो नाभि से निकलकर ठेठ सिर तक पहुचती है। वे स्वस्थ होती है, तब तक आख, कान, नाक और जीभ का बल ठीक रहता है। भारतीय आयुर्वेद के मत मे भी मस्तक प्राण और इन्द्रिय का केन्द्र माना गया गया है। महर्षि चरक ने लिखा है—

> "प्राणा प्राणभृता यत्र, तथा सर्वेन्द्रियाणि च।
> यदुत्तमाङ्गमङ्गाना, शिरस्तदभिधीयते ॥"

मस्तिष्क चैतन्य-सहायक धमनियो का जाल है। इसलिए मस्तिष्क की अमुक शिरा काट देने से अमुक प्रकार की अनुभूति न हो, इससे यह फलित नही होता कि चेतना मस्तिष्क की उपज है।

कृत्रिम मस्तिष्क चेतन नहीं

कृत्रिम मस्तिष्क (computers or super-computer) जिनका बडे गणित के लिए उपयोग होता है, चेतनायुक्त नही हैं। वे चेतना-प्रेरित कार्यकारी यन्त्र है। उनकी मानव-मस्तिष्क से तुलना नही की जा सकती है। वास्तव मे ये मानव-मस्तिष्क की भाति सक्रिय और बुद्धि-युक्त नही होते। ये केवल शीघ्र

और तेजी से काम करने वाले होते हैं। यह मानव-मस्तिष्क की सुषुम्ना और मस्तिष्क-स्थित श्वेत मज्जा के मोटे काम ही कर सकता है और इस अर्थ मे यह मानव-मस्तिष्क का एक शताश भी नही। मानव-मस्तिष्क चार भागो मे बंटा हुआ है—

१ बृहन्-मस्तिष्क—जो सवेदना, विचार-शक्ति और स्मरण-शक्ति इत्यादि को प्रेरणा देता है।

२ लघु-मस्तिष्क।

३ सेतु।

४ सुषुम्ना।

यान्त्रिक मस्तिष्क केवल सुषुम्ना के ही कार्यों को कर सकता है, जो मानव-मस्तिष्क का एक अश है।

यान्त्रिक मस्तिष्क का गणन-यत्र मोटर मे लगे मीटर की तरह होता है, जिसमे मोटर के चलने की दूरी मीलो मे अकित होती चलती है। इस गणनयन्त्र का कार्य, 'एक' और 'शून्य' अक को जोडना अथवा एकत्र करना है। यदि गणन-यत्र से इन अको को निकाला जाता है तो इससे घटाने की क्रिया होती है और जोड-घटाव की दो क्रियाओ पर ही सारा गणित आधारित है।

आत्मा के प्रदेश और जीवकोश

आत्मा असख्य-प्रदेशी है। एक, दो, तीन प्रदेश जीव नही होते। परिपूर्ण असख्य प्रदेश के समुदाय का नाम जीव है। वह असख्य जीवकोषो का पिण्ड नही है। वैज्ञानिक असख्य जीवकोषो (cells) के द्वारा प्राणी-शरीर और चेतन का निर्माण होना बतलाते हैं। वे शरीर तक सीमित हैं। शरीर अस्थाई है—एक पौद्‌गलिक अवस्था है। उसका निर्माण होता है और वह रूपी है, इसलिए अगोपाग देखे जा सकते है। उनका विश्लेषण किया जा सकता है। आत्मा स्थायी और अभौतिक द्रव्य है। वह उत्पन्न नही होता और वह अरूपी है, किसी प्रकार भी इन्द्रिय-शक्ति से देखा नही जाता। अतएव जीव-कोषो के द्वारा आत्मा की उत्पत्ति बतलाना भूल है। प्रदेश भी आत्मा के घटक नही हैं। वे स्वय आत्मरूप हैं। आत्मा का परिमाण जानने के लिए उसमे उनका आरोप किया गया है। यदि वे वास्तविक अवयव होते तो उनमे सगठन, विघटन या न्यूनाधिक्य हुए बिना नहीं रहता। वास्तविक प्रदेश केवल पौद्‌गलिक स्कधो मे मिलते है। अतएव उनमे सघात या भेद होता रहता है। आत्मा अखण्ड द्रव्य है। उसमे सघात-विघात कभी नही होते और न उसके एक-दो-तीन आदि प्रदेश जीव कहे जाते हैं। आत्मा कृत्स्न, परिपूर्ण लोकाकाश तुल्य प्रदेश परिमाण वाली है। एक तन्तु भी पट का उपकारी

होता है। उसके बिना पट पूरा नही बनता। परन्तु एक तन्तु पट नही कहा जाता। एक रूप मे समुदित तन्तुओ का नाम पट है। वैसे ही जीव का एक प्रदेश जीव नही कहा जाता। असख्य चेतन प्रदेशो का एक पिण्ड है, उसी का नाम जीव है।

अस्तित्व-सिद्धि के दो प्रकार

प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व दो प्रकार से सिद्ध होता है—साधक प्रमाण से और बाधक प्रमाण के अभाव से। जैसे साधक प्रमाण अपनी सत्ता के माध्यम का अस्तित्व सिद्ध करता है, ठीक उसी प्रकार बाधक प्रमाण न मिलने से भी उसका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। आत्मा को सिद्ध करने के लिए साधक प्रमाण अनेक मिलते है, किन्तु बाधक प्रमाण एक भी ऐसा नही मिलता, जो आत्मा का निषेधक हो। इससे जाना जाता है कि आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है। हा, यह निश्चित है कि इन्द्रियो के द्वारा उसका ग्रहण नही होता। फिर भी आत्मा के अस्तित्व मे यह बाधक नही, क्योकि बाधक वह बन सकता है, जो उस विषय का जानने मे समर्थ हो और अन्य पूरी सामग्री होने पर भी उसे न जान सके। जैसे—आख घट, पट आदि को देख सकती है, पर जिस समय उचित सामीप्य एव प्रकाश आदि सामग्री होने पर भी वह उनको न देख सके, तब वह उस विषय की बाधक मानी जा सकती है। इन्द्रिया की ग्रहण-शक्ति परिमित है। वे सिर्फ पार्श्ववर्ती और स्थूल पौदगलिक पदार्थों को ही जान सकती है। आत्मा अपौद्गलिक (अभौतिक) पदार्थ है। इसलिए इन्द्रिया द्वारा आत्मा को न जान सकना नही कहा जा सकता। यदि हम बाधक प्रमाण का अभाव होने से किसी पदार्थ का सद्भाव माने, तब तो फिर पदार्थ-कल्पना की बाढ-सी आ जाएगी। उसका क्या उपाय होगा? ठीक है, यह सदेह हो सकता है, किन्तु बाधक प्रमाण का अभाव साधक प्रमाण के द्वारा पदार्थ का सद्भाव स्थापित कर देने पर ही कार्यकर होता है।

आत्मा के साधक प्रमाण मिलते है, इसलिए उसकी स्थापना की जाती है। उस पर भी यदि सदेह किया जाता है, तब आत्मवादियो को वह हेतु भी अनात्मवादियो के सामने रखना जरूरी हो जाता है कि आप यह तो बतलाए कि 'आत्मा नही है' इसका प्रमाण क्या है? 'आत्मा है' इसका प्रमाण चैतन्य की उपलब्धि है। चेतना हमारे प्रत्यक्ष है। उसके द्वारा अप्रत्यक्ष आत्मा का भी सद्भाव सिद्ध होता है। जैसे—धूम्र को देखकर मनुष्य अग्नि का ज्ञान कर लेता है आतप को देखकर सूर्योदय का ज्ञान कर लेता है—इसका कारण यही है कि धुआ अग्नि का, आतप सूर्योदय का अविनाभावी है—उसके बिना वे निश्चितरूपेण नही होते। चेतना भूत-समुदाय का कार्य या भूत-धर्म है, यह नही माना जा सकता, क्योकि भूत जड है। भूत और चेतना मे अत्यताभाव—

त्रिकालवर्ती विरोध होता है। चेतन कभी अचेतन और अचेतन कभी चेतन नही बन सकता। लोक-स्थिति का निरूपण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए, ऐसा न कभी हुआ, न होता है और न कभी होगा। इसलिए हमे आत्मा की जड वस्तु से भिन्न सत्ता स्वीकार करनी होती है। यद्यपि कई विचारक आत्मा को जड पदार्थ का विकसित रूप मानते है, किन्तु यह सगत नही। विकास अपने धर्म (स्वभाव) के अनुकूल ही होता है और हो सकता है। चैतन्यहीन जड पदार्थ मे चेतनावान् आत्मा का उपजना विकास नही कहा जा सकता। यह तो सर्वथा असत् कार्यवाद है। इसलिए जडत्व और चेतनत्व—इन दो विरोधी महाशक्तियो को एक मूल तत्त्वगत न मानना ही युक्तिसगत है।

स्वतन्त्र सत्ता का हेतु

द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व उसके विशेष गुण द्वारा सिद्ध होता है। अन्य द्रव्यो मे न मिलने वाला गुण जिसमे मिले, वह स्वतन्त्र द्रव्य होता है। सामान्य गुण जो कोई द्रव्यो मे मिले, उनसे पृथक द्रव्य की स्थापना नही होती। चैतन्य आत्मा का विशिष्ट गुण है। वह उसके सिवाय और कही नही मिलता। अतएव आत्मा स्वतत्र द्रव्य है और उसमे पदार्थ के व्यापक लक्षण—अर्थ-क्रियाकारित्व और सत्—दोनो घटित होते है। पदार्थ वही है, जो प्रतिक्षण अपनी क्रिया करता रहे। अथवा पदार्थ वही है जो सत हो यानी पूर्व-पूर्ववर्ती अवस्थाओ को त्यागता हुआ, उत्तर-उत्तरवर्ती अवस्थाओ को प्राप्त करता हुआ भी अपने स्वरूप को न त्यागे। आत्मा मे जानने की क्रिया निरतर होती रहती है। ज्ञान का प्रवाह एक क्षण के लिए भी नही रुकता और वह (आत्मा) उत्पाद, व्यय के स्रोत मे बहती हुई भी ध्रुव है। बाल्य, यौवन, जरा आदि अवस्थाओ एव मनुष्य, पशु आदि शरीरो का परिवर्तन होने पर भी उसका चैतन्य अक्षुण्ण रहता है। 'आत्मा मे रूप, आकार एव वजन नही, फिर वह द्रव्य ही क्या ?' यह निराधार शका है। क्योकि वे सब पुद्गल द्रव्य के अवान्तर-लक्षण है। सब पदार्थो मे उनका होना आवश्यक नही होना।

पुनर्जन्म

मृत्यु के पश्चात् क्या होगा ? क्या हमारा अस्तित्व स्थायी है या वह मिट जाएगा ? इस प्रश्न पर अनात्मवादी का उत्तर यह है कि 'वर्तमान जीवन समाप्त होने पर कुछ भी नही है। पाच भूतो से प्राण बनता है। उनके अभाव मे प्राण-नाश हो जाता है—मृत्यु हो जाती है। फिर कुछ भी बचा नही रहता।' आत्मवादी आत्मा को शाश्वत मानते हैं। इसलिए उन्होने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्थापना की। कर्म-लिप्त आत्मा का जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म होना निश्चित है। सक्षेप मे यही पुनर्जन्मवाद का

सिद्धान्त है।

जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म की परम्परा चलती है—यह विश्व की स्थिति है। जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्मान्तर करते हैं। पुनर्जन्म कर्म-सगी जीवो के ही होता है।

आयुष्य-कर्म के पुद्गल-परमाणु जीव मे ऊची-नीची, तिरछी-लम्बी और छोटी-बडी गति की शक्ति उत्पन्न करते हैं। इसी के अनुसार जीव नए जन्म-स्थान मे जा उत्पन्न होते हैं।

राग-द्वेष कर्म-बध के और कर्म जन्म-मृत्यु की परम्परा के कारण हैं। इस विषय मे सभी क्रियावादी एकमत हैं। भगवान् महावीर के शब्दो मे—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पुनर्जन्म के मूल को पोषण देने वाले है। गीता कहती है—जैसे फटे हुए कपडे को छोडकर मनुष्य नया कपडा पहनता है, वैसे ही पुराने शरीर को छोडकर प्राणी मृत्यु के बाद नये शरीर को धारण करते हैं। यह आवर्तन प्रवृत्ति से होता है। महात्मा बुद्ध ने अपने पैर मे चुभने वाले काटे को पूर्वजन्म मे किये हुए प्राणी-वध का विपाक बताया।

नव-शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि होते है। उसका कारण पूर्वजन्म के सस्कार है। जिस प्रकार युवक का शरीर बालक-शरीर की उत्तरवर्ती अवस्था है, वैसे ही बालक का शरीर पूर्वजन्म के बाद मे होने वाली अवस्था है। यह देह-प्राप्ति की अवस्था है। इसका जो अधिकारी है, वह आत्मा—देही है।

वर्तमान के सुख-दु ख अन्य सुख-दु खपूर्वक होते है। सुख-दु ख का अनुभव वही कर सकता है, जो पहले उनका अनुभव कर चुका है। नव शिशु को जो सुख-दु ख का अनुभव होता है, वह भी पूर्व अनुभव-युक्त है। जीवन का मोह और मृत्यु का भय पूर्वबद्ध सस्कारो का परिणाम है। यदि पूर्वजन्म मे इनका अनुभव न हुआ होता तो नवोत्पन्न प्राणियो मे ऐसी वृत्तिया नही मिलती। इस प्रकार भारतीय आत्मवादियो ने विविध युक्तियो से पूर्वजन्म का समर्थन किया है। पाश्चात्य दार्शनिक भी इस विषय में मौन नही हैं।

दार्शनिक प्लेटो ने कहा है कि—"आत्मा सदा अपने लिए नये-नये वस्त्र बुनती है तथा आत्मा मे एक ऐसी नैसर्गिक शक्ति है, जो ध्रुव रहेगी और अनेक बार जन्म लेगी।'

दार्शनिक शोपनहार के शब्दो मे पुनर्जन्म असदिग्ध तत्त्व है। जैसे—"मैंने यह भी निवेदन किया कि जो कोई पुनर्जन्म के बारे मे पहले-पहल सुनता है, उसे भी वह स्पष्ट-रूपेण प्रतीत हो जाता है।"

पुनर्जन्म की अवहेलना करने वाले व्यक्तियो की प्राय दो प्रधान शकाएं सामने आती है —

१ यदि हमारा पूर्वभव होता, तो हमे उसकी कुछ-न-कुछ स्मृतिया होतीं ।

२ यदि दूसरा जन्म होता, तो आत्मा की गति एव आगति हम क्यो नहीं देख पाते ?

पहली शका का हम बाल्य-जीवन से ही समाधान कर सकते हैं। बचपन की घटनावलिया हमे स्मरण नहीं आतीं, तो क्या इसका अर्थ होगा कि हमारी शैशव-अवस्था हुई नही थी ? एक-दो वर्ष के नव-शैशव की घटनाए स्मरण नहीं होती तो भी अपने बचपन में किसी को सदेह नहीं होता। वर्तमान जीवन की यह बात है, तब फिर पूर्वजन्म को हम इस युक्ति से कैसे हवा मे उडा सकते हैं ? पूर्वजन्म की भी स्मृति हो सकती है, यदि उतनी शक्ति जाग्रत हो जाए। जिसे 'जाति स्मृति ज्ञान' (पूर्वजन्म-स्मरण) हो जाता है, वह अनेक जन्मो की घटनाओ का साक्षात्कार कर सकता है।

परमनोविज्ञान (Parapsychology)के क्षेत्र मे ईयान स्टीवनसन आदि शोध-विद्वानो ने सैकडो बालको के जाति-स्मृति-ज्ञान का परीक्षण किया है और ऐसे सबूत एकत्रित किए हैं, जो पुनर्जन्म की अवधारणा को पुष्ट करते हैं। इसके लिए ईयान स्टीवनसन की पुस्तक "Twenty Cases Suggestive of Reincarnation" द्रष्टव्य है।

दूसरी शका एक प्रकार से नही के समान है। आत्मा का प्रत्यक्ष नही होता। उसके दो कारण हैं —

१ वह अमूर्त है, दृष्टिगोचर नही होता।

२ वह सूक्ष्म है, इसलिए शरीर मे प्रवेश करता हुआ या निकलता हुआ उपलब्ध नही होता।

नही दीखने मात्र से किसी वस्तु का अभाव नही होता। सूर्य के प्रकाश में नक्षत्र-गण नही देखा जाता। इससे इसका अभाव थोडे ही माना जा सकता है ? अन्धकार मे कुछ नही दीखता, क्या यह मान लिया जाए कि यहा कुछ भी नहीं है ? ज्ञान-शक्ति की एकदेशीयता से किसी भी सत्-पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार न करना उचित नही होता।

अब हमे पुनर्जन्म की सामान्य स्थिति पर भी कुछ दृष्टिपात कर लेना चाहिए। दुनिया मे कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो अत्यन्त असत् से सत् बन जाए—जिसका कोई भी अस्तित्व नहीं, वह अपना अस्तित्व बना ले। अभाव से भाव एव भाव से अभाव नहीं होता, तब फिर जन्म और मृत्यु, नाश और उत्पाद, यह क्या है ? परिवर्तन। प्रत्येक पदार्थ में परिवर्तन होता है। परिवर्तन से पदार्थ एक अवस्था को छोडकर दूसरी अवस्था मे चला जाता है, किन्तु न तो वह सर्वथा नष्ट होता है और न सर्वथा उत्पन्न भी। दूसरे-दूसरे पदार्थों मे भी परिवर्तन होता है, वह हमारे सामने है। प्राणियो मे भी

परिवर्तन होता है। वे जन्मते है, मरते हैं। जन्म का अर्थ अत्यत नयी वस्तु की उत्पत्ति नही और मृत्यु से जीव का अत्यत उच्छेद नही होता। केवल वैसा ही परिवर्तन है, जैसे यात्री एक स्थान को छोडकर दूसरे स्थान मे चले जाते है। यह एक ध्रुव सत्य है कि सत्ता से असत्ता एव असत्ता से सत्ता कभी नहीं होती। परिवर्तन को जोडने वाली कडी आत्मा है। वह अन्वयी है। पूर्वजन्म और उत्तर-जन्म दोनो उसकी अवस्थाए है। वह दोनो मे एकरूप रहती है। अतएव अतीत और भविष्य की घटनावलियो की शृखला जुडती है। शरीर-शास्त्र के अनुसार सात वर्ष के बाद शरीर के पूर्व परमाणु च्युत हो जाते हैं, सब अवयव नये बन जाते है। इस सर्वांगीण परिवर्तन मे आत्मा का लोप नही होता। तब फिर मृत्यु के बाद उसका अस्तित्व कैसे मिट जाएगा ?

अन्तर-काल

प्राणी मरता है और जन्मता है, एक शरीर को छोडता है और दूसरा शरीर बनाता है। मृत्यु और जन्म के बीच का समय अन्तर-काल कहा जाता है। उसका परिमाण एक, दो, तीन या चार 'समय' तक का है। अन्तर-काल मे स्थूल शरीर-रहित आत्मा की गति होती है। उसका नाम 'अन्तराल-गति' है। वह दो प्रकार की होती है—ऋजु और वक्र। मृत्यु-स्थान से जन्म स्थान सरल रेखा मे होता है, वहा आत्मा की गति ऋजु होती है। और वह विषम रेखा म होता है, वहा गति वक्र होती है। ऋजु गति मे सिर्फ एक समय लगता है। उसमे आत्मा को नया प्रयत्न नही करना पडता। क्योकि जब वह पूर्व-शरीर छोडता है, तब उसे पूर्व-शरीर-जन्य वेग मिलता है और वह धनुष से छूटे हुए बाण की तरह सीधे ही नये जन्म-स्थान मे पहुच जाता है। वक्र-गति मे घुमाव करने पडते हैं। उनके लिए दूसरे प्रयत्नो की आवश्यकता होती है। घूमने का स्थान आते ही पूर्व-देह-जनित वेग मद पड जाता है और सूक्ष्म शरीर (कार्मण शरीर) द्वारा जीव नया प्रयत्न करता है। इसलिए उसमे समय-सख्या बढ जाती है। एक घुमाव वाली वक्रगति मे दो समय, दो घुमाव वाली मे तीन समय और तीन घुमाव वाली मे चार समय लगते है।

आत्मा स्थूल शरीर के अभाव मे भी सूक्ष्म शरीर द्वारा गति करती है और मृत्यु के बाद वह दूसरे स्थूल शरीर मे प्रवेश नही करती, किन्तु स्वय उसका निर्माण करता है तथा ससार-अवस्था मे वह सूक्ष्म-शरीर-मुक्त कभी नही होती। अतएव पुनर्जन्म की प्रक्रिया मे कोई बाधा नही आती।

आत्मा मे ज्ञानेन्द्रिय की शक्ति अन्तरालगति मे भी होती है। त्वचा, नेत्र आदि सहायक इन्द्रिया नही होती। उसे स्व-सवेदन का अनुभव होता है। किन्तु सहायक इन्द्रियो के अभाव मे इन्द्रिय-शक्ति का उपयोग नही होता। सहायक इन्द्रियो का निर्माण स्थूल-शरीर-रचना के समय इन्द्रिय-ज्ञान की शक्ति

के अनुपात पर होता है। एक इन्द्रिय की योग्यता वाले प्राणी की शरीर-रचना मे त्वचा के सिवाय और इन्द्रियो की आकृतिया नही बनती। द्वीन्द्रिय आदि जातियो मे क्रमश रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र की रचना होती है। दोनो प्रकार की इन्द्रियो के सहयोग से प्राणी इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग करते हैं।

स्व-नियमन

जीव स्वय-चालित है। स्वय-चालित का अर्थ पर-सहयोग-निरपेक्ष नही, किन्तु सचालक-निरपेक्ष है। जीव अपने ही पुरुषार्थ यानी उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम से अपना सचालक होता है। उत्थान आदि शरीर से उत्पन्न है। शरीर जीव द्वारा निष्पन्न है। क्रम इस प्रकार बनता है—जीव से शरीर, शरीर से वीर्य, वीर्य से योग (मन, वाणी और कर्म) उत्पन्न होते हैं।

वीर्य दो प्रकार का होता है—लब्धि-वीर्य और करण-वीर्य। लब्धि-वीर्य सत्तात्मक शक्ति (potential energy) है। उसकी दृष्टि से सब जीव सवीर्य होते है। करण-वीर्य क्रियात्मक शक्ति (kinetic energy) है। यह जीव और शरीर दोनो के सहयोग से उत्पन्न होती है।

जीव मे सक्रियता होती है, इसलिए वह पौद्गलिक कर्म का सग्रह या स्वीकरण करता है। वह पौद्गलिक कर्म का सग्रहण करता है, इसलिए उससे प्रभावित होता है।

कर्तृत्व और फल-भोक्तृत्व एक ही शृखला के दो सिरे हैं। कर्तृत्व स्वय का और फल-भोक्तृत्व के लिए दूसरी सत्ता का नियमन—ऐसी स्थिति नही बनती।

फल-प्राप्ति इच्छा-नियन्त्रित नही, किंतु क्रिया-नियन्त्रित है। हिंसा, असत्य आदि क्रिया के द्वारा जीव कर्म-पुद्गलो का सचय करता है। इनकी विरक्ति करने वाला जीव कर्म-पुद्गलो का सचय नही करता।

कर्म-पुद्गलो को, उसे कहा ले जाना है, यह ज्ञान नही होता। किन्तु दूसरे जन्म के अनुरूप आयुष्य कर्म-पुद्गलो का जो सग्रह हुआ होता है, वह पकते ही अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देता है। पहले जीवन यानी वर्तमान आयुष्य के कर्म-परमाणुओ की क्रिया समाप्त होते ही अगले आयुष्य के कर्म-पुद्गल अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देते हैं। दो आयुष्य के कर्म-पुद्गल जीव को एक साथ प्रभावित नही करते। वे पुद्गल जिस स्थान के उपयुक्त बने हुए होते है, उसी स्थान पर जीव को नोदन (propel) कर ले जाते हैं। उन पुद्गलो की गति उनकी रासायनिक क्रिया (रस-बन्ध या अनुभाव-बन्ध) के अनुरूप होती है। जीव उनसे बद्ध होता है, इसलिए उसे भी वही जाना पड़ता है। इस प्रकार एक जन्म से दूसरे जन्म मे गति और आगति स्व-नियमन से ही होती है।

अभ्यास

१ विभिन्न भारतीय दर्शनो मे "आत्मा" के विषय मे क्या अवधारणाए रही हैं ? उनकी परस्पर तुलना करें ।

२ भारतीय आस्तिक दर्शनो मे आत्मा को सिद्ध करने के लिए क्या-क्या प्रमाण दिए गए हैं ?

३ जैन दर्शन मे प्रतिपादित आत्मा के स्वरूप को विस्तार से समझाइए ।

४ शरीर और आत्मा के सम्बन्ध को समझाने वाले वादो को स्पष्ट करें ।

५ मृत्यु के पश्चात् जीव कहां और कैसे जाता है ? जैन दर्शन ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है, इसे समझाइए ।

६ आत्मा के सम्बन्ध मे वैज्ञानिको के द्वारा प्रस्तुत सिद्धात और प्रयोग की समीक्षा करें ।

: ८ :

मैं हूं अपने भाग्य का निर्माता

जगत्‍वैचित्र्य का हेतु

भारत के सभी आस्तिक दर्शनो ने जीव जगत् की विभक्ति या विचित्रता को स्वीकार किया है। उसे सहेतुक माना है। उस हेतु को वेदान्ती 'अविद्या', बौद्ध 'वासना', सांख्य 'क्लेश' और न्याय-वैशेषिक 'अदृष्ट' तथा जैन 'कर्म' कहते हैं। कई दर्शन कर्म का सामान्य निर्देश-मात्र करते हैं और कई उसके विभिन्न पहलुओ पर विचार करते-करते बहुत आगे बढ़ जाते हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार अदृष्ट आत्मा का गुण है। अच्छे-बुरे कर्मों का आत्मा पर सस्कार पडता है, वह अदृष्ट है। जब तक उसका फल नही मिल जाता, तब तक वह आत्मा के साथ रहता है, उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है। कारण कि यदि ईश्वर कर्म-फल की व्यवस्था न करे, तो कर्म निष्फल हो जाए। सांख्य कर्म को प्रकृति का विकार मानता है। अच्छी-बुरी प्रवृत्तियो का प्रकृति पर सस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत-सस्कार से ही कर्मों के फल मिलते हैं। बौद्धो ने चित्तगत वासना को कर्म माना है। यही कार्य-कारण-भाव के रूप मे सुख-दु ख का हेतु बनती है।

जैन-दर्शन कर्म को स्वतंत्र तत्त्व मानता है। कर्म अनन्त परमाणुओ के स्कन्ध हैं। वे समूचे लोक मे जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियो के द्वारा उसके साथ बध जाते हैं, यह उनकी बध्यमान (बंध) अवस्था है। बंधने के बाद वे तुरन्त फल न देकर पकते हैं यानी उनका परिपाक होता है, यह सत् (सत्ता) अवस्था है। परिपाक के बाद उनसे सुख-दु ख रूप तथा आवरण रूप फल मिलता है, वह उदयमान (उदय) अवस्था है। अन्य दर्शनो मे कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध—ये तीन अवस्थाए बताई गई हैं। वे ठीक क्रमश बन्ध, सत् और उदय की समानार्थक हैं।

क्या कर्म का फल शीघ्र मिल सकता है? क्या कर्म की अवधि (कालमान) या तीव्रातीव्रता मे कमी-बेशी की जा सकती है? क्या कर्मों का रूपान्तरण किया जा सकता है? बन्ध के कारण क्या हैं? बधे हुए कर्मों का फल निश्चित होता है या अनिश्चित? कर्म जिस रूप मे बधते हैं, उस रूप मे उनका फल मिलता है या अन्यथा? धर्म करने वाला दु खी और अधर्म करने वाला सुखी कैसे? आदि-आदि विषयों पर जैन ग्रन्थकारो ने

विस्तृत विवेचन किया है।

आत्मा का आंतरिक वातावरण

आत्मा की आंतरिक योग्यता की न्यूनाधिकता का कारण कर्म है। कर्म के संयोग से वह (आंतरिक योग्यता) आवृत होती है या विकृत होती है। कर्म के विलय (संयोग) से उसका स्वभावोदय होता है। बाहरी स्थिति आंतरिक स्थिति को उत्तेजित कर आत्मा पर प्रभाव डाल सकती है, पर सीधा प्रभाव नहीं डाल सकती। शुद्ध या कर्म-मुक्त आत्मा पर बाहरी परिस्थिति का कोई भी असर नहीं होता। अशुद्ध या कर्म-बद्ध आत्मा पर ही उसका प्रभाव होता है, वह भी अशुद्धि की मात्रा के अनुपात से। शुद्धि की मात्रा बढ़ती है, बाहरी वातावरण का असर कम होता है। शुद्धि की मात्रा कम होती है, बाहरी वातावरण छा जाता है। परिस्थिति ही प्रधान होती, तो शुद्ध और अशुद्ध पदार्थ पर समान असर होता, किन्तु ऐसा नहीं होता है। परिस्थिति उत्तेजक है, कारण नहीं।

विजातीय संबंध विचारणा की दृष्टि से आत्मा के साथ सर्वाधिक घनिष्ठ संबंध कर्म पुद्गलों का है। समीपवर्ती का जो प्रभाव पड़ता है, वह दूरवर्ती का नहीं पड़ता। परिस्थिति दूरवर्ती घटना है। वह कर्म की उपेक्षा कर आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकती। उसकी पहुंच कर्म-संघटना तक ही है। उससे कर्म-संघटना प्रभावित होती है फिर उससे आत्मा। जो परिस्थिति कर्म-संस्थान को प्रभावित न कर सके, उसका आत्मा पर कोई असर नहीं होता।

बाहरी परिस्थिति सामूहिक होती है। कर्म को वैयक्तिक परिस्थिति कहा जा सकता है। यही कर्म की सत्ता का स्वयंभू-प्रमाण है।

परिस्थिति

काल (time), क्षेत्र (space) स्वभाव (nature), पुरुषार्थ (effort), नियति (universal law) और कर्म की सह-स्थिति का नाम ही परिस्थिति है।

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से ही सब कुछ होता है, यह एकांगी दृष्टिकोण मिथ्या है।

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से भी कुछ होता है, यह सापेक्ष दृष्टिकोण सत्य है।

वर्तमान के जन-मानस में काल-मर्यादा, क्षेत्र-मर्यादा, स्वभाव-मर्यादा, पुरुषार्थ-मर्यादा और नियति-मर्यादा का जैसा स्पष्ट विवेक या अनेकान्त-दर्शन है, वैसा कर्म-मर्यादा का नहीं रहा है। जो कुछ होता है, वह कर्म से ही होता है—ऐसा घोष साधारण हो गया है। यह एकांतवाद सच नहीं है। आत्म-गुण

का विकास कर्म से नही होता, कर्म के विलय (आत्मा से कर्म के दूर होने) से होता है। परिस्थितिवाद के एकात आग्रह के प्रति जैन-दृष्टि यह है—रोग देश-काल की स्थिति से ही पैदा नहीं होता, किन्तु देश-काल की स्थिति से कर्म-उत्तेजना (उदीरणा) होती है और उत्तेजित कर्म-पुद्गल रोग पैदा करते है। इस प्रकार जितनी भी बाहरी परिस्थितिया हैं, वे सब कर्म-पुद्गलो में उत्तेजना लाती है। उत्तेजित कर्म-पुद्गल आत्मा मे विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाते हैं। परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। वह सयोग-कृत होता है, तब विभाव रूप होता है और यदि दूसरे के सयोग से नही होता, तब उसकी परिणति स्वाभाविक हो जाती है।

कर्म की पौद्गलिकता

अन्य दर्शन कर्म को जहा सस्कार या वासनारूप मानते हैं, वहां जैन-दर्शन उसे पौद्गलिक मानता है। 'जिस वस्तु का जो गुण होता है, वह उसका विघातक नही बनता।' आत्मा का गुण उसके लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दु ख का हेतु कैसे बने ?

कर्म जीवात्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दु खो का हेतु है, गुणो का विघातक है। इसलिए वह आत्मा का गुण नही हो सकता।

बेडी से मनुष्य बधता है। सुरापान से पागल बनता है। क्लोरोफार्म से बेभान बनता है। ये सब पौद्गलिक वस्तुए है। ठीक उसी प्रकार कर्म के सयोग से भी आत्मा की ये दशाए बनती हैं, इसलिए वह भी पौद्गलिक है। ये बेडी आदि बाहरी बधन अल्प सामर्थ्य वाली वस्तुए है। कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए तथा अधिक सामर्थ्य वाले सूक्ष्म पुद्गल है। इसलिए बाहरी बेडी आदि बधनो की तुलना मे कर्म-परमाणुओ का जीवात्मा पर गहरा और आतरिक प्रभाव पडता है।

शरीर पौद्गलिक है, उसका कारण कर्म है। इसलिए वह भी पौद्गलिक है। पौद्गलिक कार्य का समवायी कारण पौद्गलिक होता है। मिट्टी भौतिक है, तो उससे बनने वाला पदार्थ भौतिक ही होगा।

आहार आदि अनुकूल सामग्री से सुखानुभूति और शस्त्र-प्रहार आदि से दु खानुभूति होती है। आहार और शस्त्र पौद्गलिक हैं, इसी प्रकार सुख-दु ख के हेतुभूत कर्म भी पौद्गलिक हैं।

बन्ध की अपेक्षा से जीव और पुद्गल अभिन्न हैं—एकमेक हैं। लक्षण की दृष्टि से वे भिन्न हैं। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन, जीव अमूर्त है और पुद्गल मूर्त।

इन्द्रिय के विषय स्पर्श आदि मूर्त हैं। उनको भोगने वाली इन्द्रियां मूर्त हैं। उनसे होनेवाला सुख-दु ख मूर्त है। इसलिए उनके कारण-भूत कर्म

भी मूर्त हैं। मूर्त ही मूर्त को स्पर्श करता है। मूर्त ही मूर्त से बधता है।

गीता, उपनिषद् आदि मे अच्छे-बुरे कार्यों को जैसे कर्म कहा है, वैसे जैन-दर्शन मे कर्म शब्द क्रिया का वाचक नही है। उसके अनुसार वह (कर्म-शब्द) आत्मा पर लगे हुए सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ का वाचक है। आत्मा की प्रत्येक सूक्ष्म और स्थूल मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के द्वारा उसका आकर्षण होता है। इसके बाद स्वीकरण (आत्मीकरण या जीव और कर्म-परमाणुओं का एकीभाव) होता है। कर्म के हेतुओ को भाव-कर्म या 'मल' और कर्म-पुद्गलो को द्रव्य-कर्म या 'रज' कहा जाता है। इनमे निमित्त-नैमित्तिक भाव है। भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म का सग्रह और द्रव्य-कर्म के उदय से भाव-कर्म तीव्र होता है।

आत्मा और कर्म का सबध

आत्मा अमूर्त है, तब उसका मूर्त कर्म से सम्बन्ध कैसे हो सकता है? यह भी कोई जटिल समस्या नही है। प्राय सभी आस्तिक दर्शनो ने ससार और जीवात्मा को अनादि माना है। वह अनादिकाल से ही कर्मबद्ध और विकारी है। कर्मबद्ध आत्माए कथंचित् (किसी एक अपेक्षा से) मूर्त हैं अर्थात् निश्चय दृष्टि के अनुसार स्वरूपत अमूर्त होते हुए भी वे ससार-दशा मे मूर्त होती हैं। जीव दो प्रकार के हैं—रूपी और अरूपी। मुक्त जीव अरूपी हैं और ससारी जीव रूपी।

कर्म-मुक्त आत्मा के फिर कभी कर्म का बन्ध नही होता। कर्म-बद्ध आत्मा के ही कर्म बधते हैं—उन दोनो का अपश्चानुपूर्वी (न पहले और न पीछे) रूप से अनादिकालीन सम्बन्ध चला आ रहा है।

अमूर्त ज्ञान पर मूर्त मादक द्रव्यो का असर होता है, वह अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध हुए बिना नही हो सकता। इससे जाना जाता है कि विकारी अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त का सम्बन्ध होने मे कोई आपत्ति नही आती।

बंध के हेतु

कर्म-सबध के अनुकूल आत्मा की परिणति या योग्यता ही बन्ध का हेतु है। बन्ध के हेतुओ का निरूपण अनेक रूपो मे हुआ है। उसके दो मुख्य हेतु हैं—प्रमाद और योग।

जीव शरीर का निर्माता है। क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है। शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म का बन्ध करता है। कर्म-बन्ध के क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कारण भी बतलाए हैं।

बध का अर्थ है—आत्मा और कर्म का सयोग और कर्म का निर्मापण—व्यवस्थाकरण। बध आत्मा और कर्म के सम्बन्ध की पहली अवस्था है।

बन्ध चार प्रकार का है—प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग (या अनुभाव)।

१ प्रदेश—ग्रहण के समय कर्म-पुद्गल अविभक्त होते हैं। ग्रहण के पश्चात् वे आत्मप्रदेशो के साथ एकीभूत होते है। यह प्रदेश-बध (या एकीभाव की व्यवस्था) है।

२ प्रकृति—वे कर्म-परमाणु कार्य-भेद के अनुसार आठ वर्गों में बट जाते है। इसका नाम प्रकृति-बध (स्वभाव-व्यवस्था) है। कर्म की मूल प्रकृतिया (स्वभाव) आठ हैं—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयुष्य, ६ नाम, ७ गोत्र, ८ अन्तराय। (ये क्या करते हैं, इसकी चर्चा आगे की जाएगी)।

३ स्थिति—यह काल-मर्यादा की व्यवस्था है। प्रत्येक कर्म आत्मा के साथ निश्चित समय तक ही रह सकता है। स्थिति पकने पर वह उदय मे आकर आत्मा से अलग हो जाता है। यह अवधि (कालमान) का निर्धारण स्थिति-बध है।

४ अनुभाग—यह फलदान-शक्ति की व्यवस्था है। इसके अनुसार उन पुद्गलो मे रस की तीव्रता और मदता का निर्माण होता है। यह तीव्रता-मंदता का निर्धारण अनुभाग-बन्ध है। इसे रस या विपाक-बन्ध भी कहते हैं।

बध के चारो प्रकार एक साथ ही होते हैं। कर्म की व्यवस्था के ये चारो प्रधान अग हैं। आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलो के आश्लेष या एकीभाव की दृष्टि से 'प्रदेश-बध' सबसे पहला है। इसके होते ही उनमे स्वभाव-निर्माण, काल-मर्यादा और फलशक्ति का निर्माण हो जाता है। इसके बाद अमुक-अमुक स्वभाव, स्थिति और रस-शक्ति वाला पुद्गल-समूह अमुक-अमुक परिमाण (मात्रा या quantity) मे बट जाता है। यह परिमाण-विभाग भी प्रदेश-बध है। बध के वर्गीकरण का मूल बिन्दु स्वभाव-निर्माण है। स्थिति और रस का निर्माण उसके साथ-साथ हो जाता है। परिमाण-विभाग इसका अतिम विभाग है।

कर्म : स्वरूप और कार्य

इसमे चार कोटि की पुद्गल-वर्गणाए चेतना और आत्मशक्ति की आवारक (ढकने वाली), विकारक (विकृत करने वाली) और प्रतिरोधक (रोकने वाली) हैं। चेतना के दो रूप हैं—

१ ज्ञान—जानना, वस्तु-स्वरूप का विमर्श करना।

२ दर्शन—साक्षात् करना, वस्तु का स्वरूप ग्रहण (perceive) करना।

ज्ञान और दर्शन के आवारक पुद्गल क्रमश 'ज्ञानावरण' और 'दर्शनावरण' कहलाते हैं। इनसे क्रमश ज्ञान और दर्शन का निरोध होता है।

आत्मा को विकृत बनाने वाले पुद्गलों की संज्ञा 'मोहनीय' है। इसके दो उपभेद हैं—

१ **दर्शन मोह**—श्रद्धा को विकृत (विपरीत) करने वाला।

२ **चारित्र मोह**—कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) के द्वारा आत्मा के चारित्र-गुण को विकृत बनाने वाला।

आत्म-शक्ति का प्रतिरोध करने वाले पुद्गल अन्तराय कहलाते हैं। ये चार घात्यकर्म हैं।

वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु—ये चार अघात्यकर्म है।

घात्यकर्म के क्षय के लिए आत्मा को तीव्र प्रयत्न करना होता है। ये चारो कर्म अशुभ (पाप) ही होते है। इसके आंशिक क्षय या उपशम से आत्मा का स्वरूप आंशिक मात्रा मे उदित होता है। इनके पूर्ण क्षय से आत्म-स्वरूप का पूर्ण विकास होता है—क्रमश अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र और अनन्त शक्ति प्राप्त होती है।

वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये चार कर्म शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के होते है। अशुभकर्म अनिष्ट-संयोग और शुभकर्म इष्ट-संयोग के निमित्त बनते हैं। इन दोनो का जो संगम है, वह संसार है। पुण्य-परमाणु सुख-सुविधा के निमित्त बन सकते है, किन्तु उनसे आत्मा की मुक्ति नही होती। ये पुण्य और पाप—दोनो बन्धन है। मुक्ति इन दोनो के क्षय से होती है।

वेदनीय कर्म का कार्य है—सुख-दुःख का वेदन—अनुभूति कराना। वेदनीय कर्म के दो प्रकार है—सात वेदनीय और असात वेदनीय। ये क्रमश सुखानुभूति और दुःखानुभूति के निमित्त बनते है। इनका क्षय होने पर अनन्त आत्मिक आनन्द का उदय होता है।

नाम कर्म—शरीर से सम्बन्धित समग्र सामग्री के लिए जिम्मेवार है। नाम कर्म के दो प्रकार है—शुभ नाम और अशुभ नाम। शुभ नाम के उदय से व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से यशस्वी और विशाल व्यक्तित्व वाला होता है तथा अशुभ नाम के उदय से इसके विपरीत होता है। इनके क्षय होने पर आत्मा अपने नैसर्गिक भाव—अमूर्तिक-भाव मे स्थित हो जाता है।

गोत्र कर्म के दो प्रकार हैं—उच्च गोत्र और नीच गोत्र। ये क्रमश उच्चता और नीचता, सम्मान और असम्मान के निमित्त बनते है। इनके क्षय से आत्मा अगुरु-लघु—पूर्ण सम बन जाता है।

आयुष्य कर्म चार प्रकार की गतियो मे से किसी एक मे जीव को जन्म दिलाता है। आयुष्य के दो प्रकार है—शुभ आयु और अशुभ आयु। ये क्रमश देवत्व, मनुष्यत्व, नारकत्व, अमानुषत्व (पशुत्व) के निमित्त बनते है। इसके क्षय से आत्मा अ-मृत और अ-जन्मा बन जाता है।

चार अघात्य कर्म-परमाणुओ का विलय मुक्ति होने के समय एक साथ होता है।

बन्ध की प्रक्रिया

आत्मा मे अनन्त वीर्य (सामर्थ्य) होता है, उसे लब्धि-वीर्य कहा जाता है। यह शुद्ध आत्मिक सामर्थ्य है। इसका बाह्य जगत् मे कोई प्रयोग नही होता। आत्मा का बहिर्-जगत् के साथ जो सम्बन्ध है, उसका माध्यम शरीर है। वह पुद्गल-परमाणुओ का सगठित पुज है। आत्मा और शरीर—इन दोनो के सयोग से जो सामर्थ्य पैदा होता है उसे करण-वीर्य या क्रियात्मक शक्ति कहा जाता है। शरीरधारी जीव मे यह सतत बनी रहती है। इसके द्वारा जीव मे भावनात्मक या चैतन्य-प्रेरित क्रियात्मक कम्पन होता रहता है। कम्पन अचेतन वस्तुओ मे भी होता है, किन्तु वह स्वाभाविक होता है। उनमे चैतन्य-प्रेरित कम्पन नही होता। चेतन मे कम्पन का प्रेरक गूढ चैतन्य होता है। इसलिए इसके द्वारा विशेष स्थिति का निर्माण होता है। शरीर की आन्तरिक वर्गणा द्वारा निर्मित कम्पन मे बाहरी पौद्गलिक धाराए मिलकर आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा परिवर्तन करती रहती है।

क्रियात्मक शक्ति-जनित कम्पन के द्वारा आत्मा और कर्म-परमाणुओ का सयोग होता है। इस प्रक्रिया को आस्रव कहा जाता है।

आत्मा के साथ सयुक्त कर्म-योग्य परमाणु कर्म-रूप मे परिवर्तित होते है। इस प्रक्रिया को बध कहा जाता है।

आत्मा और कर्म-परमाणुओ का फिर वियोग होता है। इस प्रक्रिया को निर्जरा कहा जाता है।

बध आस्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति है। आस्रव के द्वारा बाहरी पौद्गलिक धाराए शरीर मे आती है। निर्जरा के द्वारा वे फिर शरीर के बाहर चली जाती है। कर्म-परमाणुओ के शरीर मे आने और फिर से चले जाने के बीच की दशा को सक्षेप मे बध कहा जाता है।

शुभ और अशुभ परिणाम आत्मा की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाह हैं। ये अजस्र रहते है। दोनो एक साथ नही, एक अवश्य रहता है।

कर्म-शास्त्र की भाषा मे शरीर-नाम-कर्म के उदय-काल मे चचलता रहती है। मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रिया से आत्म-प्रदेशो मे कम्पन होता है। उसके द्वारा कर्म-परमाणुओ का आकर्षण होता है। शुभ परिणति के समय शुभ और अशुभ परिणति के समय अशुभ कर्म-परमाणुओ का आकर्षण होता है।

कर्म कौन बांधता है ?

अकर्म के कर्म का बन्ध नही होता। पूर्व-कर्म से बधा हुआ जीव ही

नये कर्मों का बन्ध करता है। मोह-कर्म के उदय से जीव राग-द्वेष मे परिणत होता है तब वह अशुभ कर्मों का बंध करता है। मोह-रहित प्रवृत्ति करते समय शरीर-नाम-कर्म के उदय से जीव शुभ कर्म का बंध करता है। नये-बंधन का हेतु पूर्व-बन्धन न हो, तो अबद्ध (मुक्त) जीव भी कर्म से बंधे बिना नहीं रह सकता। इस दृष्टि से यह सही है कि बंधा हुआ ही बंधता है, नये सिरे से नहीं।

कर्म-बंध कैसे ?

गौतम—भगवन् ! जीव कर्म-बंध कैसे करता है ?

भगवान्—गौतम ! ज्ञानावरण के तीव्र उदय से दर्शनावरण का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरण के तीव्र उदय से दर्शन-मोह का तीव्र उदय होता है। दर्शन-मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है। मिथ्यात्व के उदय से जीव के आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध होता है।

कर्म-बंध का मुख्य हेतु कषाय है। संक्षेप मे कषाय के दो भेद हैं—राग और द्वेष। विस्तार मे उसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ।

फल-विपाक

एक समय की बात है। भगवान् राजगृह के गुणशील नामक चैत्य मे समवसृत थे। उस समय कालोदायी अनगार भगवान् के पास आये। वन्दना-नमस्कार कर बोले—'भगवन् ! क्या जीवो के किये हुए पाप-कर्मों का परिपाक पापकारी होता है ?'

भगवान्—'कालोदायी ! होता है।'

कालोदायी—'भगवन् ! यह कैसे होता है ?'

भगवान्—'कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक-शुद्ध (परिपक्व), अठारह प्रकार के व्यजनो से परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है, वह (भोजन) आपातभद्र (खाते समय अच्छा) होता है, किन्तु ज्यो-ज्यो उसका परिणमन होता है, त्यो-त्यो उसमे दुर्गन्ध पैदा होती है—वह परिणाम-भद्र नही होता। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य (अठारह प्रकार के पाप-कर्म) आपात-भद्र और परिणाम-विरस होते हैं। कालोदायी ! इस प्रकार पाप-कर्म पाप-विपाक वाले होते हैं।'

कालोदायी—'भगवन् ! क्या जीवो के किए हुए कल्याण-कर्मों का परिपाक कल्याणकारी होता है ?'

भगवान्—'कालोदायी ! होता है।'

कालोदायी—'भगवन् ! यह कैसे होता है ?'

भगवान्—'कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक-शुद्ध (परिपक्व), अठारह प्रकार के व्यजनो से परिपूर्ण, औषध-मिश्रित भोजन

करता है, वह आपात-भद्र नही लगता, किन्तु ज्यो-ज्यो उसका परिणमन होता है, त्यो-त्यो उसमे सुरूपता, सुवर्णता और सुखानुभूति उत्पन्न होती है। वह परिणाम-भद्र होता है। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात-विरति यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य-विरति आपातभद्र नहीं लगती, किन्तु परिणाम-भद्र होती है। कालोदायी ! इस प्रकार कल्याण-कर्म कल्याण-विपाक वाले होते हैं।'

कर्म के उदय से क्या होता है ?

१ ज्ञानावरण के उदय से जीव ज्ञातव्य विषय को नही जानता, जिज्ञासु होने पर भी नही जानता। जानकर भी नहीं जानता—पहले जानकर फिर नही जानता। उसका ज्ञान आवृत हो जाता है।

२ दर्शनावरण के उदय से जीव द्रष्टव्य विषय को नही देखता, देखने का इच्छुक होने पर भी नही देखता। उसका दर्शन आच्छन्न हो जाता है। निद्रा दर्शनावरण के उदय से आती है।

३ सातवेदनीय कर्म के उदय से जीव सुख की अनुभूति करता है। मनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, मन सुखता, वाक्-सुखता, काय-सुखता—ये इसके उदय से प्राप्त होते है।

असातवेदनीय कर्म के उदय से जीव दुख की अनुभूति करता है। इसके परिणाम स्वरूप आठ बातें प्राप्त होती है—अमनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श, मनोदुखता, वाक्-दुखता, काय-दुखता।

४ मोह कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि और चारित्रहीन बनता है। इसके पाच परिणाम हैं—सम्यक्त्व-वेदनीय, मिथ्यात्व-वेदनीय, सम्यग्-मिथ्यात्व-वेदनीय, कषाय-वेदनीय, नोकषाय-वेदनीय।

५ आयु-कर्म के उदय से जीव अमुक समय तक अमुक प्रकार का जीवन जीता है। इसके अनुभाव (परिणाम) चार है— नैरयिकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु।

६ शुभ नामकर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक उत्कर्ष पाता है। इसके अनुभाव चौदह है—इष्ट शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, गति स्थिति, लावण्य, यश-कीर्ति, उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषाकार-पराक्रम तथा मनोज्ञ स्वरता।

अशुभ नामकर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक अपकर्ष पाता है। इसके अनुभाव चौदह है—अनिष्ट शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, गति, स्थिति, लावण्य यशो-कीर्ति, उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषाकार-पराक्रम और अमनोज्ञ स्वरता।

७ उच्च-गोत्र-कर्म के उदय से जीव विशिष्ट बनता है। इसके अनुभाव आठ है—जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ और ऐश्वर्य—इन आठो की विशिष्टता।

नीच-गोत्र-कर्म के उदय से जीव हीन बनता है। इसके अनुभाव आठ हैं—उपर्युक्त आठ की विहीनता।

८ अन्तराय कर्म के उदय से आत्म-शक्ति का प्रतिघात होता है। इसके अनुभाव पाच है—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य मे अन्तराय (प्रतिघात)।

फल की प्रक्रिया

कर्म जड – अचेतन है, तब वह जीव को नियमित फल कैसे दे सकता है? यह प्रश्न न्याय-दर्शन के प्रणेता गौतम ऋषि के 'ईश्वर' के अभ्युपगम का हेतु बना। इसीलिए उन्होने ईश्वर को कर्म-फल का नियन्ता बताया, जिसका उल्लेख कुछ पहले किया जा चुका है। जैन-दर्शन कर्म-फल का नियमन करने के लिए ईश्वर को आवश्यक नही समझता। कर्म-परमाणुओ मे जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम होता है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति, स्थिति, पुद्गल-परिणाम आदि उदयानुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन मे समर्थ हो जीवात्मा के सस्कारो को विकृत करता है, उससे उनका फलोपभोग होता है। सही अर्थ मे आत्मा अपने किये का अपने आप फल भोगता है, कर्म-परमाणु सहकारी या सचेतक का कार्य करते हैं। विष और अमृत, अपथ्य और पथ्य भोजन को कुछ भी ज्ञान नही होता, फिर भी जीव का सयोग पा उनकी वैसी परिणति हो जाती है। उनका परिपाक होते ही खाने वाले को इष्ट या अनिष्ट फल मिलता है। विज्ञान के क्षेत्र मे परमाणु की विचित्र शक्ति और उसके नियमन के विविध प्रयोगो के अध्ययन के बाद कर्मों की फलदान-शक्ति के बारे मे कोई सन्देह नही रहता।

उदय

कर्म का बन्ध होते ही उसमे विपाक-प्रदर्शन की शक्ति नही हो जाती। वह निश्चित अवधि के पश्चात् ही पैदा होती है। बन्धे हुए कर्म-पुद्गल अपना कार्य करने मे समर्थ हो जाते हैं, तब उनके निषेक (कर्म-पुद्गलो की एक काल मे उदय होने योग्य रचना-विशेष) प्रकट होने लगते हैं, वह उदय है।

कर्म का उदय दो प्रकार का होता है—

१ प्राप्त-काल कर्म का उदय—बधी हुई स्थिति के अनुसार उचित समय पर स्वत कर्म उदय मे आते हैं।

२ अप्राप्त-काल कर्म का उदय—काल प्राप्त होने से पूर्व ही परि-स्थिति या प्रयत्न-विशेष के द्वारा कर्म का उदय मे आना।

कर्म की वह अवस्था 'अबाधा' कहलाती है, जिसमे कर्म बन्धने के बाद उदयावस्था को प्राप्त नही करते। उस समय कर्म की सत्ता होती है, किन्तु

उसका कर्तृत्व प्रकट नही होता। इसलिए वह कर्म का अवस्थान काल (अबाधाकाल) है। 'अबाधा' का अर्थ है—अन्तर। बन्ध और उदय के अतर का जो काल है, वह 'अबाधाकाल' है।

काल-मर्यादा पूर्ण होने पर कर्म का वेदन या भोग प्रारम्भ होता है। वह 'प्राप्त-काल उदय' है। यदि स्वाभाविक पद्धति से ही कर्म उदय मे आयें, तो आकस्मिक घटनाओ की सम्भावना तथा तपस्या की प्रयोजकता ही नष्ट हो जाती है। किन्तु अपवर्तना (कर्म की स्थिति को कम करने) के द्वारा कर्म की उदीरणा या 'अप्राप्त-काल उदय' होता है।

सहेतुक और निर्हेतुक उदय –

कर्म का परिपाक और उदय अपने-आप भी होता है और दूसरो के द्वारा भी, सहेतुक भी होता है और निर्हेतुक भी। कोई बाहरी कारण नही मिला, क्रोध-वेदनीय पुद्‌गलो के तीव्र विपाक से अपने-आप क्रोध आ गया—यह उनका निर्हेतुक उदय है। इसी प्रकार हास्य, भय, वेद (काम-विकार) और कषाय के पुद्‌गलो का भी दोनो प्रकार का उदय होता है।

अपने आप उदय मे आने वाले कर्म के हेतु

गति-हेतुक उदय—नरक गति मे असात (असुख) का उदय तीव्र होता है। यह गति-हेतुक विपाक-उदय है।

स्थिति-हेतुक उदय—मोह कर्म की सर्वोत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्वमोह का तीव्र उदय होता है। यह स्थिति-हेतुक विपाक उदय है।

भव-हेतुक उदय—दर्शनावरण (जिसके उदय मे नींद आती है) सबके होता है, फिर भी नींद मनुष्य और तिर्यंच दोनो को आती है, देव और नारक को नही आती। यह भव (जन्म) हेतुक विपाक-उदय है।

गति-स्थिति और भव के निमित्त से कई कर्मों का अपने-आप विपाक-उदय हो आता है।

दूसरो द्वारा उदय मे आने वाले कर्म-हेतु

पुद्‌गल-हेतुक उदय—किसी ने पत्थर फेंका, चोट लगी, असात का उदय हो आया—यह दूसरो के द्वारा किया हुआ असात-वेदनीय का पुद्‌गल-हेतुक विपाक-उदय है।

किसी ने गाली दी, क्रोध आ गया—यह क्रोध-वेदनीय-पुद्‌गलो का सहेतुक विपाक-उदय है।

पुद्‌गल-परिणाम (physical/chemical change) के द्वारा होने वाला उदय—भोजन किया, वह पचा नही, अजीर्ण हो गया। उससे रोग पैदा हुआ। यह असात-वेदनीय का विपाक उदय है। मदिरा पी, उन्माद छा गया

—ज्ञानावरण का विपाक-उदय हुआ। यह पुद्गल-परिणमन-हेतुक विपाक-उदय है।

इस प्रकार अनेक हेतुओ से कर्मों का विपाक-उदय होता है। अगर ये हेतु नही मिलते, तो उन कर्मों का विपाक-रूप मे उदय नहीं होता। उदय का एक दूसरा प्रकार और है। वह है प्रदेश-उदय। उसमे कर्म-फल का स्पष्ट अनुभव नही होता। यह कर्म-वेदन की अस्पष्टानुभूति वाली दशा है। पर जो कर्म-बन्ध होता है, वह अवश्य भोगा जाता है, चाहे प्रदेश-उदय ही हो।

पुण्य-पाप

मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रिया शुभ होती है तो शुभ-कर्म परमाणु और वह अशुभ होती है तो अशुभ-कर्म परमाणु आत्मा के साथ चिपकते हैं। शुभ कर्म परमाणु पुण्य और अशुभ कम परमाणु पाप कहलाते हैं। पुण्य और पाप—दोनो विजातीय तत्त्व हैं। इसलिए ये दोनो आत्मा की परतन्त्रता के हेतु है। आचार्यों ने पुण्य कर्म की सोने और पाप-कर्म की लोहे की बेडी से तुलना की है। स्वतन्त्रता के इच्छुक मुमुक्षु के लिए ये दोनो हेय हैं। मोक्ष का हेतु रत्नत्रयी (सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र) है। जो व्यक्ति इस तत्त्व को नही जानता, वही पुण्य को उपादेय और पाप को हेय मानता है। निश्चय-दृष्टि से ये दोनो हेय हैं।

पुण्य की हेयता के बारे मे जैन-परम्परा एकमत है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य और पाप का आकर्षण करने वाली विचारधारा को पर-समय अर्थात् जैन-सिद्धान्त से परे माना है।

पुण्य काम्य नही है। योगीन्दु के शब्दो मे—"वे पुण्य किस काम के जो राज्य देकर जीव को दुःख-परम्परा की ओर ढकेल दें। आत्म-दर्शन की खोज मे लगा हुआ व्यक्ति मर जाए, यह अच्छा है, किन्तु आत्म-दर्शन से विमुख होकर पुण्य चाहे, वह अच्छा नही है।"

आचार्य भिक्षु ने कहा है -"पुण्य की इच्छा करने से पाप का बन्ध होता है।" आगम कहते हैं—"इहलोक, परलोक, पूजा-श्लाघा आदि के लिए धर्म मत करो, केवल आत्म-शुद्धि के लिए धर्म करो।"

यही बात वेदात के आचार्यो ने कही है कि "मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध कर्म मे प्रवृत्त नही होना चाहिए।" क्योकि आत्म-साधक का लक्ष्य मोक्ष होता है और पुण्य ससार-भ्रमण के हेतु हैं।

भगवान् महावीर ने कहा है- "पुण्य और पाप—इन दोनो के क्षय से मुक्ति मिलती है। जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा ससार मे परिभ्रमण करता है।"

गीता भी यही कहती है—"बुद्धिमान् सुकृत और दुष्कृत दोनो को

छोड देता है।"

अभयदेवसूरि ने आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप को ससार-भ्रमण का हेतु कहा है।

आचार्य भिक्षु ने इस प्रकार समझाया है—"पुण्य से भोग मिलते हैं। जो पुण्य की इच्छा करता है, वह भोगो की इच्छा करता है। भोग की इच्छा से ससार बढ़ता है।"

इसका निगमन यह है कि अयोगी-अवस्था (पूर्ण-समाधि-दशा) से पूर्व सत्प्रवृत्ति के साथ पुण्य-बन्ध अनिवार्य रूप से होता है। फिर भी पुण्य की इच्छा से कोई भी सत्प्रवृत्ति नही करनी चाहिए। प्रत्येक सत्प्रवृत्ति का लक्ष्य होना चाहिए —मोक्ष—आत्म-विकास। भारतीय दर्शनो का यही चरम लक्ष्य है। 'लौकिक अभ्युदय' धर्म का आनुषगिक फल है—धर्म के साथ अपने आप फलने वाला है। यह शाश्वतिक या चरम लक्ष्य नही है।

मिश्रण नहीं होता

पुण्य और पाप के परमाणुओ के आकर्षण-हेतु अलग-अलग हैं। एक ही हेतु से दोनो के परमाणुओ का आकर्षण नही होता। आत्मा के परिणाम या तो शुभ होते हैं या अशुभ, किन्तु शुभ और अशुभ दोनो एक साथ नही होते।

धर्म और पुण्य

जैन दर्शन मे धर्म और पुण्य—ये दो पृथक् तत्त्व हैं। शाब्दिक-दृष्टि से पुण्य शब्द धर्म के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है, किन्तु तत्त्व-मीमासा मे ये कभी एक नही होते। धर्म आत्मा की राग-द्वेष-हीन परिणति है और पुण्य शुभकर्ममय पुद्गल है। दूसरे शब्दो मे—धर्म आत्मा की पर्याय है और पुण्य पुद्गल की पर्याय है।

दूसरी बात—निर्जरा-धर्म सत्क्रिया है और पुण्य उसका फल है।

तीसरी बात—धर्म आत्म-शुद्धि (आत्म-मुक्ति) का साधन है और पुण्य आत्मा के लिए बन्धन है।

अधर्म और पाप की भी यही स्थिति है। वे दोनो धर्म और पुण्य के ठीक प्रतिपक्षी हैं। जैसे सत्प्रवृत्ति रूप धर्म के साहचर्य से पुण्य की उत्पत्ति होती है, वैसे अधर्म और पाप के साहचर्य से पाप की उत्पत्ति होती है। पुण्य-पाप फल है—जीव की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति से उनके साथ चिपटने वाले पुद्गल हैं और ये दोनो धर्म और अधर्म के लक्षण हैं।

जीव की क्रिया दो भागो मे विभक्त होती है—धर्म या अधर्म, सत् या असत्। अधर्म से आत्मा के सस्कार विकृत होते है, पाप का बन्ध होता है। धर्म से आत्म शुद्धि होती है और उसके साथ-साथ पुण्य का बन्ध होता है। पुण्य-पाप कर्म का ग्रहण होना या न होना आत्मा के अध्यवसाय—परिणाम

पर निर्भर है। शुभयोग तपस्या-धर्म है और वही शुभयोग पुण्य का आस्रव है।

पुरुषार्थ भाग्य को बदल सकता है

वर्तमान की दृष्टि से पुरुषार्थ अवध्य (निष्फल) कभी नहीं होता। अतीत की दृष्टि से उसका महत्त्व है भी और नही भी। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से दुर्बल होता है, तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा नही कर सकता। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से प्रबल होता है, तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा भी कर सकता है।

कर्म की बन्धन और उदय--ये दो ही अवस्थाए होती, तो कर्मो का बन्ध होता और वेदना के बाद वे निर्वीर्य हो आत्मा से अलग हो जाते। परिवर्तन को कोइ अवकाश नही मिलता। कर्म की अवस्थाए इन दो के अतिरिक्त और भी है—

१ अपवर्तन के द्वारा कर्म-स्थिति का अल्पीकरण (स्थिति-घात) और रस का मन्दीकरण (रस-घात) होता है।

२ उद्वर्तना के द्वारा कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण और रस का तीव्रीकरण होता है।

३ उदीरणा के द्वारा लम्बे समय के बाद तीव्र भाव से उदय मे आनेवाले कर्म तत्काल और मन्द-भाव से उदय मे आ जाते है।

४ एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है, उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है, उसका विपाक शुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है। जो कर्म शुभ रूप मे ही बधता है और शुभ रूप मे ही उदित होता है, वह शुभ और शुभ-विपाक वाला होता है। जो कर्म शुभ रूप मे बधता है और अशुभ रूप मे उदित होता है, वह शुभ और अशुभ विपाक वाला होता है। जो कर्म अशुभ रूप मे बधता है और शुभ रूप मे उदित होता है, वह अशुभ और शुभ-विपाक वाला होता है, जो कर्म अशुभ रूप मे बधता है और अशुभ रूप मे ही उदित होता है, वह अशुभ और अशुभ-विपाक वाला है। कर्म के बध और उदय मे जो यह अन्तर आता है, उसका कारण सक्रमण (बध्यमान कर्म मे कर्मान्तर का प्रवेश) है।

जिस अध्यवसाय (आतरिक परिणाम) से जीव कर्म-प्रकृति का बध करता है, उसकी तीव्रता के कारण वह पूर्वबद्ध सजातीय प्रकृति के दलिको को बध्यमान प्रकृति के दलिको के साथ सक्रात कर देता है, परिणत या परिवर्तित कर देता है--वह सक्रमण है।

सक्रमण के चार प्रकार है—१ प्रकृति-सक्रम, २ स्थिति-सक्रम,

३ अनुभाव-सक्रम, ४ प्रदेश-सक्रम ।

प्रकृति-सक्रम से पहले बधी हुई प्रकृति (कर्म-स्वभाव) वर्तमान मे बधने वाली प्रकृति के रूप मे बदल जाती है । इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव और प्रदेश का परिवर्तन होता है ।

अपवर्तन, उद्वर्तन, उदीरणा और सक्रमण—ये चारो उदयावलिका (उदयक्षण) के बहिर्भूत कर्म-पुद्गलो के ही होते हैं । उदयावलिका मे प्रविष्ट कर्म-पुद्गल के उदय मे कोई परिवर्तन नही होता । अनुदित कर्म के उदय मे परिवर्तन होता है । पुरुषार्थ के सिद्धात का यही ध्रुव आधार है । यदि यह नही होता, तो कोरा नियतिवाद ही होता ।

आत्मा स्वतत्र है या कर्म के अधीन ?

कर्म की मुख्य दो अवस्थाए है—बन्ध और उदय । दूसरे शब्दो मे ग्रहण और फल । "कर्म ग्रहण करने मे जीव स्वतत्र है और उसका फल भोगने मे परतत्र । जैसे कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढता है, वह चढने मे स्वतत्र है—इच्छानुसार चढता है । प्रमाद-वश गिर जाए तो वह गिरने मे स्वतत्र नही है ।" इच्छा से गिरना नही चाहता, फिर भी गिर जाता है, इसलिए गिरने मे परतत्र है । इसी प्रकार विष खाने मे स्वतत्र है और उसका परिणाम भोगने मे परतत्र । एक रोगी व्यक्ति भी गरिष्ठ से गरिष्ठ पदार्थ खा सकता है, किंतु उसके फलस्वरूप होनेवाले अजीर्ण से नही बच सकता । कर्म-फल भोगने मे जीव स्वतत्र नही है, यह कथन प्रायिक है । कहीं-कहीं जीव उसमे स्वतत्र भी होते है । जीव और कर्म का सघर्ष चलता रहता है । जीव के काल आदि लब्धियो की अनुकूलता होती है, तब वह कर्मो को पछाड देता है और कर्मों की बहुलता होती है, तब जीव उनसे दब जाता है । इसलिए यह मानना होता है कि कही जीव कर्म के अधीन है और कहीं कर्म जीव के अधीन ।

कर्म दो प्रकार के होते है—

१ निकाचित—जिनका विपाक अन्यथा नही हो सकता है ।

२ दलिक—जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है ।

दूसरे शब्दो मे १ निरुपक्रम—इसका कोई प्रतिकार नही होता, इसका उदय अन्यथा नही हो सकता । २ सोपक्रम—यह उपचार-साध्य होता है ।

निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा से जीव कर्म के अधीन ही होता है । दलिक की अपेक्षा से दोनो बाते हैं—जहा जीव उसको अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नही करता, वहा वह उस कर्म के अधीन होता है और जहा जीव प्रबल धृति, मनोबल, शरीर-बल आदि सामग्री की सहायता से सत्प्रयत्न करता है । वहा कर्म उसके अधीन होता है । उदय-काल से पूर्व कर्म को उदय मे ला, तोड डालना, उसकी स्थिति और रस को मद कर देना, यह सब इस स्थिति मे

हो सकता है। यदि यह न होता, तो तपस्या करने का कोई अर्थ नहीं रहता। पहले बंधे हुए कर्मों की स्थिति और फल-शक्ति नष्ट कर, उन्हें शीघ्र तोड डालने के लिए ही तपस्या की जाती है। पातजल-योगभाष्य मे भी अदृष्ट-जन्म-वेदनीय कर्म की तीन गतिया बताई हैं। उनमे से एक गति है—कई कर्म बिना फल दिए ही प्रायश्चित्त आदि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। इसी को जैन-दृष्टि मे उदीरणा कहा है।

उदीरणा

१ उदीर्ण कर्म-पुद्गलो की फिर से उदीरणा करे तो उस उदीरणा की कहीं भी परिसमाप्ति नही होती। इसलिए उदीर्ण की उदीरणा का निषेध किया गया है।

२ जिन कर्म-पुद्गलो की उदीरणा सुदूर भविष्य मे होने वाली है, अथवा जिनकी उदीरणा नही भी होने वाली है, उन अनुदीर्ण-कर्म-पुद्गलो की भी उदीरणा नही हो सकती।

३ जो कम-पुद्गल उदय मे आ चुके हैं, वे सामर्थ्य-हीन बन गए, इस-लिए उनकी भी उदीरणा नही होती।

४ जो कर्म-पुद्गल वर्तमान मे उदीरणा-योग्य (अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा योग्य) है, उन्ही की उदीरणा होती है।

उदीरणा का हेतु

कर्म के स्वाभाविक उदय मे नये पुरुषार्थ की आवश्यकता नही होती। अबाधाकाल पूरा होता है, कर्म-पुद्गल अपने-आप उदय मे आ जाते हैं। उदीरणा द्वारा उन्हे प्रयत्नपूर्वक स्थिति-क्षय से पहले उदय मे लाया जाता है। इसलिए इसमे विशेष प्रयत्न या पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

यह भाग्य और पुरुषार्थ का समन्वय है। पुरुषार्थ द्वारा कर्म मे परि-वतन किया जा सकता है, यह स्पष्ट है।

कर्म की उदीरणा 'करण' के द्वारा होती है। 'करण' का अर्थ है 'योग'। योग के तीन प्रकार हैं—

१ शारीरिक प्रवृत्ति।
२ वाचिक प्रवृत्ति।
३ मानसिक प्रवृत्ति।

योग शुभ और अशुभ—दोनो प्रकार का होता है। आस्रव-चतुष्टय मे अप्रवृत्ति शुभ योग है और आस्रव-चतुष्टय मे प्रवृत्ति अशुभ योग है। शुभ योग तपस्या है, सत् प्रवृत्ति है। वह उदीरणा का हेतु है। क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्ति अशुभ योग है। उससे भी उदीरणा होती है।

निर्जरा

संयोग का अन्तिम परिणाम वियोग है। आत्मा और परमाणु—ये दोनो भिन्न हैं। वियोग मे आत्मा आत्मा है और परमाणु परमाणु। इनका सयोग होता है, तब आत्मा रूपी कहलाती है और परमाणु कर्म।

कर्म-प्रायोग्य परमाणु आत्मा से चिपट कर्म बन जाते है। उस पर अपना प्रभाव डालने के बाद वे अकर्म बन जाते हैं। अकर्म बनते ही वे आत्मा से विलग हो जाते हैं। इस विलगाव की दशा का नाम है—निर्जरा।

निर्जरा कर्मों की होती है—यह औपचारिक सत्य है। वस्तु-सत्य यह है कि कर्मों की वेदना—अनुभूति होती है, निर्जरा नही होती। निर्जरा अकर्म की होती है। वेदना के बाद कर्म-परमाणुओ का कर्मत्व नष्ट हो जाता है, फिर निर्जरा होती है।

कोई फल डाली पर पककर टूटता है और किसी फल को प्रयत्न से पकाया जाता है। पकते दोनो हैं, किंतु पकने की प्रक्रिया दोनो की भिन्न है। जो सहज गति से पकता है, उसका पाक-काल लम्बा होता है और जो प्रयत्न से पकता है, उसका पाक-काल छोटा हो जाता है। कर्म का परिपाक भी ठीक इसी प्रकार होता है। निश्चित काल-मर्यादा से कर्म-परिपाक होता है, उसकी निर्जरा को विपाकी-निर्जरा कहा जाता है। यह अहेतुक निर्जरा है। इसके लिए कोई नया प्रयत्न नही करना पडता, इसलिए इसका हेतु न धर्म होता है और न अधर्म।

निश्चित काल-मर्यादा से पहले शुभ-योग के व्यापार से कर्म का परिपाक होकर जो निर्जरा होती है, उसे अविपाकी निर्जरा कहा जाता है। यह सहेतुक निर्जरा है। इसका हेतु शुभ प्रयत्न है। वह धर्म है। मोक्ष इसी का उत्कृष्ट रूप है। कर्म की पूर्ण निजरा (विलय) जो है, वही मोक्ष है। कर्म का अपूर्ण विलय निर्जरा है। दोनो मे मात्रा-भेद है, स्वरूप-भेद नही। निर्जरा का अर्थ है—आत्मा का विकास या स्वभावोदय। अभेदोपचार की दृष्टि से स्वभावोदय के साधनो को भी निर्जरा कहा जाता है।

कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया

कर्म परमाणुओ के विकर्षण के साथ-साथ दूसरे कर्म-परमाणुओ का आकर्षण होता रहता है। किन्तु इससे मुक्ति होने मे कोई बाधा नही आती।

कर्म-सबध के प्रधान साधन दो हैं—कषाय और योग। कषाय प्रबल होता है, तब कर्म-परमाणु आत्मा के साथ अधिक काल तक चिपके रहते हैं और तीव्र फल देते हैं। कषाय के मद होते ही उनकी स्थिति कम और फल-शक्ति मद हो जाती है।

जैसे-जैसे कषाय मन्द होता है, वैसे-वैसे निर्जरा अधिक होती है और

पुण्य का बन्ध शिथिल होता जाता है। वीतराग (आत्म-विकास की ११ वी, १२ वी, १३ वी भूमिका मे) के केवल दो समय की स्थिति का बंध होता है। पहले समय मे कर्म-परमाणु उसके साथ संबध करते है, दूसरे समय मे भोग लिए जाते हैं और तीसरे समय मे वे उससे बिछुड जाते है।

चौदहवी भूमिका मे मन, वाणी और शरीर की सारी प्रवृत्तिया रुक जाती हैं। वहा केवल पूर्व-संचित कर्म का निर्जरण होता है, नये कर्म का बन्ध नही होता। अबन्ध-दशा मे आत्मा शेष कर्मों को खपा मुक्त हो जाती है।

मुक्त होने वाले साधक एक ही श्रेणी के नही होते। स्थूल-दृष्टि से उनकी चार श्रेणिया प्रतिपादित हैं--

१ प्रथम श्रेणी के साधको के कर्म का भार अल्पतर होता है। उनका साधना-काल दीर्घ हो सकता है। पर उनके लिए कठोर तप करना आवश्यक नही होता और न उन्हे असह्य कष्ट सहना होता है। वे सहज जीवन बिता मुक्त हो जाते है। इस श्रेणी के साधको मे भरत चक्रवर्ती का नाम उल्लेखनीय है।

२ दूसरी श्रेणी के साधको के कर्म का भार अल्पतर होता है। उनका साधना-काल भी अल्पतर होता है। वे अत्यल्प तप और अत्यल्प कष्ट का अनुभव कर सहज भाव मे मुक्त हो जाते है। इस श्रेणी के साधको मे भगवान् ऋषभ की माता मरुदेवा का नाम उल्लेखनीय है।

३ तीसरी श्रेणी के साधको के कर्म-भार अधिक होता है। उनका साधना-काल अल्प होता है। वे घोर तप और घोर कष्ट का अनुभव कर मुक्त होते है। इस श्रेणी के साधको मे मुनि गजसुकुमार का नाम उल्लेखनीय है।

४ चौथी श्रेणी के साधको के कर्म-भार अत्यधिक होता है। उनका साधना-काल दीर्घतर होता है। वे घोर तप और कष्ट सहन कर मुक्त होते हैं। इस श्रेणी के साधको मे सनत्कुमार चक्रवर्ती का नाम उल्लेखनीय है।

अनादि का अन्त कैसे ?

जो अनादि होता है, उसका अन्त नही होता, ऐसी दशा मे अनादि-कालीन कर्म-सम्बन्ध का अन्त कैसे हो सकता है ? यह ठीक है, किन्तु इसमे बहुत कुछ समझने जैसा है। अनादि का अन्त नही होता, यह सामुदायिक नियम है और जाति से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति-विशेष पर यह लागू नही भी होता। प्रागभाव अनादि है, फिर भी उसका अन्त होता है। स्वर्ण और मृत्तिका का, घी और दूध का सम्बन्ध अनादि है, फिर भी वे पृथक् होते हैं। ऐसे ही आत्मा और कर्म के अनादि-सम्बन्ध का अन्त होता है। यह ध्यान रहे कि इसका सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है, व्यक्तिश नही। आत्मा से जितने कर्म पुद्गल चिपटते है, वे सब अवधि-सहित होते हैं। कोई भी एक

कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ घुल-मिलकर नही रहता । आत्मा मोक्षोचित्त सामग्री पा अनास्रव बन जाती है, तब नये कर्मों का प्रवाह रुक जाता है, सचित कर्म तपस्या द्वारा टूट जाते हैं, आत्मा मुक्त बन जाती है ।

लेश्या

लेश्या का अर्थ है—पुद्गल-द्रव्य के ससर्ग से उत्पन्न होने वाला जीव का अध्यवसाय—परिणाम, विचार । आत्मा चेतन है, अचेतन स्वरूप से सर्वथा पृथक् है, फिर भी ससार-दशा मे इसका अचेतन (पुद्गल) के साथ गहरा ससर्ग रहता है, इसीलिए अचेतन द्रव्य से उत्पन्न परिणामो का जीव पर असर हुए बिना नहीं रहता । जिन पुद्गलो से जीव के विचार प्रभावित होते हैं, वे भी लेश्या कहलाते हैं । लेश्याए पौद्गलिक हैं, इसलिए इनमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होते हैं । लेश्याओ का नामकरण पौद्गलिक लेश्याओ के रग के आधार पर हुआ है, जैसे—कृष्णलेश्या, नीललेश्या आदि-आदि ।

लेश्याए छ है—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या । पहली तीन लेश्याए अप्रशस्त लेश्याए हैं । इनके वर्ण आदि चारो गुण अशुभ होते हैं । उत्तरवर्ती तीन लेश्याओ के वर्ण आदि शुभ होते हैं, इसलिए वे प्रशस्त होती हैं ।

खान-पान, स्थान और बाहरी वातावरण एव वायुमडल का शरीर और मन पर असर होता है, यह प्राय सर्वसम्मत-सी बात है । 'जैसा अन्न वैसा मन' यह उक्ति निराधार नही है । शरीर और मन, दोनो परस्परापेक्ष हैं । इनमे एक-दूसरे की क्रिया का एक-दूसरे पर असर हुए बिना नही रहता । 'जिस लेश्या के द्रव्य ग्रहण किये जाते है, उसी लेश्या का परिणाम हो जाता है'—इस सिद्धात से उक्त विषय की पुष्टि होती है । व्यावहारिक जगत् मे भी यही बात पाते हैं । प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली मे मानस-रोगी को सुधारने के लिए विभिन्न रगो की किरणो का या विभिन्न रगो की बोतलो के जलो का प्रयोग किया जाता है । योग-प्रणाली मे पृथ्वी, जल आदि तत्त्वो के रगो के परिवर्तन के अनुसार मानस-परिवर्तन का क्रम बतलाया गया है ।

पौद्गलिक विचार (द्रव्यलेश्या) के साथ चैतसिक विचार (भावलेश्या) का गहरा सबध है । चैतसिक विचार के अनुरूप पौद्गलिक विचार होते है अथवा पौद्गलिक विचार के अनुरूप चैतसिक विचार होते हैं, यह एक जटिल प्रश्न है । इसके समाधान के लिए हमे लेश्या की उत्पत्ति पर ध्यान देना होगा । चैतसिक विचार की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—मोह के उदय से या उसके विलय से । औदयिक चैतसिक विचार अप्रशस्त होते हैं और विलय-जनित चैतसिक विचार प्रशस्त होते है ।

पौद्गलिक विकारो (द्रव्य लेश्याओ) के वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श का विवरण इस प्रकार है—

लेश्या	वर्ण	रस	गन्ध	स्पर्श
कृष्ण	काजल के समान काला	नीम से अनन्त-गुण कटु	मृत सर्प की गन्ध से अनन्त गुण अनिष्ट गन्ध	गाय की जीभ से अनन्त गुण कर्कश
नील	नीलम के समान नील	सोठ से अनन्त गुण तीक्ष्ण		
कपोत	कबूतर के गले के समान रग	कच्चे आम के रस से अनन्तगुण तिक्त		
तेजस्	हिंगुल-सिन्दूर के समान रक्त	पके आम के रस से अनन्तगुण मधुर	सुरभि-कुसुम की गन्ध से अनन्तगुण इष्ट गन्ध	मक्खन से अनन्तगुण सुकुमार
पद्म	हल्दी के समान पीला	मधु से अनन्तगुण मिष्ट		
शुक्ल	शख के समान सफेद	मिसरी से अनन्त गुण मिष्ट		

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अप्रशस्त तथा तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्याए है। पहली तीन लेश्याए बुरे अध्यवसाय वाली हैं, इसलिए वे दुर्गति की हेतु है। उत्तरवर्ती तीन लेश्याए भले अध्यवसाय वाली हैं, इसलिए वे सुगति की हेतु है।

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अधर्म लेश्याए तथा तेज, पद्म और शुक्ल —ये तीन धर्म लेश्याए है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के भले और बुरे अध्यवसाय होने का मूल कारण मोह का अभाव या भाव है। कृष्ण आदि पुद्गल-द्रव्य भले-बुरे अध्यवसायो के सहकारी कारण बनते है। मात्र काले, नीले आदि पुद्गलो से ही आत्मा के परिणाम बुरे-भले नही बनते। केवल पौद्गलिक विचारो के अनुरूप ही चैतसिक विचार नही बनते। मोह का भाव-अभाव तथा पौद्गलिक विचार—इन दोनो के कारण आत्मा के बुरे या भले परिणाम बनते है।

जैनेतर ग्रथो मे भी कर्म की विशुद्धि या वर्ण के आधार पर जीवो की कई अवस्थाए बतलाई गई है। पातजलयोग मे वर्णित कर्म की कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल और अशुक्ल-अकृष्ण—ये चार जातिया भाव-लेश्या की श्रेणी मे आती है। सास्यदर्शन तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् मे रज, सत्त्व और तमोगुण को लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा गया है। यह द्रव्यलेश्या का रूप है। रजोगुण मन को मोहरजित करता है, इसलिए वह लोहित है। सत्त्व गुण मे मन मल-रहित होता है, इसलिए वह शुक्ल है। तमोगुण ज्ञान को आवृत करता है, इसलिए वह कृष्ण है।

कर्मों का सयोग और वियोग आध्यात्मिक विकास और ह्रास

इस विश्व मे जो कुछ है, वह होता रहता है। 'होना' वस्तु का स्वभाव है। 'नही होना' ऐसा जो है, वह वस्तु ही नही है। वस्तुएं तीन प्रकार की है—

१ अचेतन और अमूर्त—धम, अधर्म, आकाश, काल।

२ अचेतन और मूर्त—पुद्गल।

३ चेतन और अमूर्त- -जीव।

पहली प्रकार की वस्तुओ का होना—परिणमन—स्वाभाविक ही होता है और वह सतत प्रवहमान रहता है।

पुद्गल मे स्वाभाविक परिणमन के अतिरिक्त जीव-कृत प्रायोगिक परिणमन भी होता है, उसे अजीवोदय-निष्पन्न कहा जाता है। शरीर और उसके प्रयोग मे परिणत पुद्गल वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये अजीवोदय-निष्पन्न है। यह जितना दृश्य ससार है, वह सब या तो जीवत्-शरीर है या

जीव-मुक्त शरीर। जीव मे स्वाभाविक और पुद्गलकृत प्रायोगिक परिणमन होता है।

स्वाभाविक परिणमन अजीव और जीव दोनो मे समरूप होता है। पुद्गल मे जीवकृत परिवर्तन होता है, वह केवल उसके सस्थान—आकार का होता है। वह चेतनाशील नही, इसलिए इससे उसके विकास-ह्रास, उन्नति-अवनति का क्रम नही बनता। पुद्गल जैविक परिवर्तन पर आत्मिक विकास-ह्रास, आरोह-पतन का क्रम अवलम्बित रहता है। इसी प्रकार उससे नाना-विध अवस्थाए और अनुभूतिया बनती हैं। यह दार्शनिक चिन्तन का एक मौलिक विषय बन जाता है।

अभ्यास

१ "कर्म" को विभिन्न दर्शनो ने क्या-क्या नाम दिए ? जैन दर्शन के अनुसार कर्म क्या है ?
२ कर्म को मानने के क्या आधार हैं ?
३ आत्मा और कर्म का सबध क्यो और कैसे होता है ?
४ कर्म की अवस्थाए कितनी हैं ? उनको समझाइए।
५ कर्म के उदय से क्या-क्या होता है ?
६ क्या पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य को बदला जा सकता है ? जैन दर्शन की दृष्टि से उत्तर दें।
७ कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया को सरल शब्दो मे स्पष्ट करें।
८ निम्नलिखित शब्दो पर टिप्पणी लिखें—लेश्या, निर्जरा, बंध उदीरणा, पुण्य-पाप।

: ६ :

जैन दर्शन का सापेक्षवाद : स्याद्वाद

स्याद्वाद

जैन दर्शन के चिन्तन की शैली का नाम अनेकान्त-दृष्टि और प्रतिपादन की शैली का नाम स्यादवाद है। जानना ज्ञान का काम है, बोलना वाणी का। ज्ञान की शक्ति अपरिमित है, वाणी की परिमित। ज्ञेय अनन्त, ज्ञान अनन्त, किन्तु वाणी अनन्त नही, क्योंकि एक क्षण मे अनन्त ज्ञान अनन्त ज्ञेयो को जान सकता है, किन्तु वाणी के द्वारा कह नही सकता। एक तत्त्व (परमार्थ सत्य) अभिन्न सत्यो की समष्टि होता है। एक शब्द एक क्षण मे एक सत्य को बता सकता है।

प्रज्ञापनीय भावो का निरूपण वाणी के द्वारा होता है। यह श्रोता के ज्ञान का साधन बनता है। यहा एक समस्या उत्पन्न होती है—हम जानें कुछ और ही और कहे कुछ और ही अथवा सुने कुछ और ही और जानें कुछ और ही, यह कैसे ठीक हो सकता है ?

इसका उत्तर जैनाचार्य 'स्यात्' शब्द के द्वारा देते है। 'मनुष्य स्यात् है'--इस शब्दावली मे सत्ता धर्म की अभिव्यक्ति है। मनुष्य केवल 'अस्ति-धर्म'—मात्र नही है। उसमे 'नास्ति-धर्म' भी है। 'स्यात्' शब्द यह बताता है कि अभिव्यक्त सत्याश को ही पूर्ण सत्य मत समझो। अनन्त धर्मात्मक वस्तु ही सत्य है। ज्ञान अपने आप मे सत्य ही है। उसके सत्य और असत्य—ये दो रूप प्रमेय के सम्बन्ध से बनते हैं। शब्द न सत्य है और न असत्य। वक्ता दिन को दिन कहता है, तब वह यथार्थ होने के कारण सत्य होता है और यदि रात को दिन कहे तब वही अयथार्थ होने के कारण असत्य बन जाता है। 'स्यात्' शब्द पूर्ण सत्य के प्रतिपादन का माध्यम है। एक धर्म की मुख्यता से वस्तु को बताते हुए भी हम उसकी अनन्तधर्मात्मकता को ओझल नही करते। इस स्थिति को सभालने वाला 'स्यात्' शब्द है। यह प्रतिपाद्य धर्म के साथ शेष अप्रतिपाद्य धर्मों की एकता बनाए रखता है। इसलिए इसे प्रमाण-वाक्य या सकलादेश कहा जाता है।

स्याद्वाद : स्वरूप

'स्यात्' शब्द तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है। इसके प्रशसा, अस्तित्व, विवाद, विचारण, अनेकान्त, सशय, प्रश्न आदि अनेक अर्थ होते है। जैन

दर्शन मे इसका प्रयोग अनेकान्त के अर्थ मे होता है। स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तात्मक वाक्य।

स्याद्वाद की नीव है अपेक्षा। अपेक्षा वहा होती है, जहां वास्तविक एकता और ऊपर से विरोध दीखे। विरोध वहा होता है, जहा निश्चय होता है। दोनो संशयशील हो, उस दिशा मे विरोध नहीं होता। स्याद् का अर्थ है—कथंचिद्—किसी एक अपेक्षा से।

स्याद्वाद का उद्गम अनेकान्त वस्तु है। तत्स्वरूप वस्तु के यथार्थ-ग्रहण के लिए अनेकान्त-दृष्टि है। स्याद्वाद उस दृष्टि को वाणी द्वारा व्यक्त करने की पद्धति है। वह निमित्तभेद या अपेक्षाभेद से निश्चित विरोधी धर्म-युगलो का विरोध मिटानेवाला है। जो वस्तु सत् है, वही असत् भी है, किन्तु जिस रूप मे सत् है, उसी रूप मे असत नही है। स्व-रूप की दृष्टि से सत् है और पर-रूप की दृष्टि से असत्। दो निश्चित दृष्टि-बिन्दुओ के आधार पर वस्तु-तत्त्व का प्रतिपादन करनेवाला वाक्य संशयरूप हो ही नही सकता। स्याद्वाद को अपेक्षावाद या कथंचिद्वाद भी कहा जा सकता है।

भगवान् महावीर ने स्याद्वाद की पद्धति से अनेक प्रश्नो का समाधान किया है। उसे आगमयुग का अनेकान्तवाद या स्यादवाद कहा जाता है। दार्शनिक युग मे उसी का विस्तार हुआ, किन्तु उसका मूल रूप नही बदला। 'जीव शाश्वत है' —इसमे शाश्वत धर्म मुख्य है और अशाश्वत धर्म गौण। 'जीव अशाश्वत है'—इसमे अशाश्वत धर्म मुख्य है और शाश्वत धर्म गौण। यह द्विरूपता वस्तु का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। काल-भेद या एकरूपता हमारे वचन से उत्पन्न है। शाश्वत और अशाश्वत का काल भिन्न नही होता। फिर भी हम पदार्थ को शाश्वत या अशाश्वत कहते हैं —यह सापेक्ष व्याख्या है। पदार्थ का नियम न शाश्वतवाद है और न उच्छेदवाद। ये दोनो उसके सतत सहचारी धर्म है। भगवान महावीर ने इन दोनो समन्वित धर्मों के आधार पर जात्यन्तरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होने कहा—"पदार्थ न शाश्वत है और न अशाश्वत। वह 'स्यात् शाश्वत' है—और 'स्यात् अशाश्वत' है—वह उभयात्मक है, फिर भी जिस दृष्टि (द्रव्य-दृष्टि) से शाश्वत है, उससे शाश्वत ही है। जिस दृष्टि (पर्याय-दृष्टि) से अशाश्वत है, उससे अशाश्वत ही है। जिस दृष्टि से शाश्वत है, उसी दृष्टि से अशाश्वत नही है और जिस दृष्टि से अशाश्वत है, उसी दृष्टि से शाश्वत नही है। एक ही पदार्थ एक ही काल मे शाश्वत और अशाश्वत—इस विरोधी धर्मयुगल का आधार है, इसलिए वह अनेक-धर्मात्मक है। ऐसे अनन्तविरोधी धर्मयुगलो का वह आधार है इसलिए अनन्तधर्मात्मक है।"

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, इसलिए विसदृश भी है और सदृश भी है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से विसदृश होता है, इसलिए कि उनके सब गुण

समान नहीं होते। वे दोनो सदृश भी होते हैं, इसलिए कि उनके अनेक गुण समान भी होते हैं।

चैतन्य गुण की दृष्टि से जीव पुद्गल से भिन्न है, तो अस्तित्व और प्रमेयत्व गुण की अपेक्षा पुद्गल से अभिन्न भी है। कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थ से न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न, किन्तु भिन्नाभिन्न है। वह विशेष गुण की दृष्टि से भिन्न है और सामान्य गुण की दृष्टि से अभिन्न।

शरीर आत्मा की पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति का साधन बनता है, इसलिए वह उससे अभिन्न है। आत्मा चेतन है, शरीर अचेतन है। वह पुनर्भवी है, शरीर एकभवी है। इसलिए वे दोनो भिन्न हैं। स्थूल शरीर की अपेक्षा शरीर रूपी है और सूक्ष्म शरीर की अपेक्षा वह अरूपी है। शरीर आत्मा से कथचित् अपृथक् भी है, इस दृष्टि से जीवित शरीर चेतन है। वह पृथक् भी है, इस दृष्टि से अचेतन, मृत शरीर अचेतन होता ही है।

यह पृथ्वी स्यात् है, स्यात् नही है और स्यात् अवक्तव्य है। वस्तु स्व-दृष्टि से है, पर-दृष्टि से नही है इसलिए वह सत्-असत् उभयरूप है। एक काल में एक धर्म की अपेक्षा वस्तु वक्तव्य है और एक काल मे अनेक धर्मों की अपेक्षा वस्तु अवक्तव्य है। इसलिए वह उभयरूप है। जिस रूप मे सत् है, उस रूप मे सत् ही है और जिस रूप मे असत् है, उस रूप मे असत् ही है। वक्तव्य-अवक्तव्य का यही रूप बनता है।

इस आगम-पद्धति के आधार पर दार्शनिक युग मे स्याद्वाद का रूप-चतुष्टय बना—१ वस्तु स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य है।
२ वस्तु स्यात् सामान्य है, स्यात् विशेष है।
३ वस्तु स्यात् सत् है, स्यात् असत् है।
४ वस्तु स्यात् वक्तव्य है, स्यात् अवक्तव्य है।

उक्त चर्चा मे कही भी 'स्यात्' शब्द सदेह के अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ।

सप्तभंगी

अपनी सत्ता का स्वीकार और पर-सत्ता का अस्वीकार ही वस्तु का वस्तुत्व है। यह स्वीकार और अस्वीकार दोनो एकाश्रयी होते हैं। वस्तु मे 'स्व' की सत्ता की भाति 'पर' की असत्ता नही हो, तो उसका स्वरूप ही नहीं बन सकता। वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करते समय अनेक विकल्प करने आवश्यक हैं

१ स्यात्-अस्ति—पृथ्वी स्व-दृष्टि से है।

२ स्यात्-नास्ति—पृथ्वी पर दृष्टि से नही है।

३ स्यात् अवक्तव्य—पृथ्वी उक्त दोनो धर्मों को युगपत् न बताए जाने के कारण अवक्तव्य है।

४ स्यात्-अस्ति, स्यात्-नास्ति—पृथ्वी स्व की अपेक्षा से है, पर की अपेक्षा से नहीं है—यह दो अंशो की क्रमिक विवक्षा है।

५ स्यात्-अस्ति, स्यात्-अवक्तव्य—स्व की अपेक्षा से है, युगपत् स्व-पर की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

६ स्यात्-नास्ति, स्यात्-अवक्तव्य—पर की अपेक्षा से नही है, युगपत् स्व-पर की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

७. स्यात्-अस्ति, स्यात्-नास्ति, स्यात्-अवक्तव्य—एक अंश स्व की अपेक्षा से है, एक अश पर की अपेक्षा से नहीं है, युगपत् दोनो की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

एक विद्यार्थी मे योग्यता, अयोग्यता, ये दो धर्म मान कर सात भंगों की परीक्षा करने पर इनकी व्यावहारिकता का पता लग सकेगा। इनमें दो गुण सद्भावरूप हैं और दो उनके प्रतियोगी।

किसी ने अध्यापक से पूछा—'अमुक विद्यार्थी पढ़ने में कैसा है?'

अध्यापक ने कहा—'बड़ा योग्य है।'

१ यहा पढ़ाई की अपेक्षा से उसका योग्यता-धर्म मुख्य बन गया और शेष सब धर्म उसके अन्दर छिप गए—गौण बन गए।

दूसरे ने पूछा—'विद्यार्थी नम्रता मे कैसा है?'

अध्यापक ने कहा—'बड़ा अयोग्य है?'

२ यहा उद्दण्डता की अपेक्षा से उसका अयोग्यता-धर्म मुख्य बन गया और शेष सब धर्म गौण बन गए।

किसी तीसरे व्यक्ति ने पूछा—'वह पढ़ने मे और विनय-व्यवहार में कैसा है?'

अध्यापक ने कहा—'क्या कहूं बड़ा विचित्र है। इसके बारे मे कुछ कहा नही जा सकता।'

३ यह विचार तब निकलता है, जब उसकी पढ़ाई और उच्छृंखलता, ये दोनो बातें एक साथ मुख्य बन दृष्टि के सामने नाचने लग जाती हैं।

४ कभी-कभी ऐसा भी उत्तर होता है, 'भाई! अच्छा ही है, पढ़ने में योग्य है किन्तु वैसे व्यवहार मे योग्य नही है।'

पाचवा उत्तर—'योग्य है, फिर भी बड़ा विचित्र है, उसके बारे में कुछ कहा नही जा सकता।'

छठा उत्तर—'योग्य नहीं, फिर भी बड़ा विचित्र है, उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।'

सातवां उत्तर—'योग्य भी है, नहीं भी। अरे क्या पूछते हो, बड़ा विचित्र लड़का है, उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।'

उत्तर देनेवाले की भिन्न-भिन्न मन:स्थितिया होती हैं। कभी उसके

सामने योग्यता की दृष्टि प्रधान हो जाती है और कभी अयोग्यता की। कभी एक साथ दोनो और कभी क्रमश। कभी योग्यता का बखान होते-होते योग्यता-अयोग्यता दोनो प्रधान बनती हैं, तब आदमी उलझ जाता है। कभी अयोग्यता का बखान होते-होते दोनो प्रधान बनती हैं और उलझन आती है। कभी योग्यता और अयोग्यता दोनो का क्रमिक बखान चलते-चलते दोनो पर एक साथ दृष्टि दौडते ही 'कुछ कहा नही जा सकता'—ऐसी वाणी निकल पडती है।

अहिंसा-विकास में अनेकान्तदृष्टि का योग

अहिंसा का विचार अनेक भूमिकाओ पर विकसित हुआ है। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा के बारे मे अनेक धर्मों मे विभिन्न धाराए मिलती हैं। स्थूल रूप मे सूक्ष्मता के बीज भी न मिलते हो, वैसी बात नही, किन्तु बौद्धिक अहिंसा के क्षेत्र मे भगवान् महावीर ने जो अनेकान्त-दृष्टि दी, उससे जैन धर्म के साथ अहिंसा का अविच्छिन्न सबध हो चला।

भगवान् महावीर ने देखा कि हिंसा की जड विचारो की यथार्थता है। वैचारिक असमन्वय से मानसिक उत्तेजना बढती है और वह फिर वाचिक एव कायिक हिंसा के रूप मे अभिव्यक्ति होती है।

अखण्ड वस्तु जानी जा सकती है, किन्तु एक शब्द के द्वारा एक समय मे कही नहीं जा सकती। मनुष्य जो कुछ कहता है, उसमे वस्तु के किसी एक पहलू का निरूपण होता है। वस्तु के जितने पहलू हैं, उतने ही सत्य हैं, जितने सत्य हैं, उतने ही द्रष्टा के विचार हैं। जितने विचार हैं उतनी ही अपेक्षाए हैं। जितनी अपेक्षाए हैं, उतने ही कहने के तरीके हैं। जितने तरीके हैं, उतने ही मतवाद हैं। मतवाद एक केन्द्र-बिन्दु है। उसके चारो ओर विवाद-सवाद, सघर्ष-समन्वय, हिंसा-अहिंसा की परिक्रमा लगती है। एक से अनेक के सबध जुडे हैं, सत्य या असत्य के प्रश्न खडे होने लगते हैं। बस, यही से विचारों का स्रोत दो धाराओ में बह चलता है—अनेकांत या अहिंसा, एकात या हिंसा।

कोई बात या कोई शब्द सही है या गलत, इसकी परख करने के लिए एक दृष्टि की अनेक धाराए चाहिए। वक्ता ने जो शब्द कहा, तब वह किस अवस्था में था? उसके आस-पास की परिस्थितिया कैसी थीं? उसका शब्द किस शब्द-शक्ति से अन्वित था? विवक्षा में किसका प्राधान्य था? उसका उद्देश्य क्या था? वह किस साध्य को लिये चलता था? उसकी अन्य निरूपण-पद्धतियां कैसी थीं? तत्कालीन सामयिक स्थितिया कैसी थीं? आदि-आदि अनेक छोटे-बडे बाट मिलकर एक-एक शब्द को सत्य की तराजू में तोलते हैं।

सत्य जितना उपादेय है, उतना ही जटिल और छिपा हुआ है। उसे प्रकाश में लाने का एकमात्र साधन है—शब्द। उसके सहारे सत्य का आदान-

प्रदान होता है। शब्द अपने-आप मे सत्य या असत्य कुछ भी नही है। वक्ता की प्रवृत्ति से वह सत्य या असत्य से जुड़ता है। 'रात' एक शब्द है, वह अपने आप मे सही या झूठ, कुछ भी नहीं। वक्ता अगर रात को रात कहे तो वह शब्द सत्य है और अगर वह दिन को रात कहे तो वही शब्द असत्य हो जाता है। शब्द की ऐसी स्थिति है, तब कैसे कोई व्यक्ति केवल उसी के सहारे सत्य को ग्रहण कर सकता है ?

इसीलिए भगवान् महावीर ने बताया—"प्रत्येक धर्म (वस्त्वश) को अपेक्षा से ग्रहण करो। सत्य सापेक्ष होता है। एक सत्याश के साथ लगे या छिपे अनेक सत्याशो को ठुकराकर कोई उसे पकड़ना चाहे तो वह सत्यांश भी उसके सामने असत्याश बनकर आता है।"

"दूसरो के प्रति ही नही किन्तु उनके विचारो के प्रति भी अन्याय मत करो। अपने को समझने के साथ-साथ दूसरो को समझने की भी चेष्टा करो।" —यही है अनेकान्त दृष्टि, यही है अपेक्षावाद और इसी का नाम है—बौद्धिक अहिंसा।

भगवान् महावीर ने इसे दार्शनिक क्षेत्र तक ही सीमित नही रखा, इसे जीवन-व्यवहार मे भी उतारा। चण्डकौशिक साप ने भगवान् के डक मारे, तब उन्होने सोचा—'यह अज्ञानी है, इसीलिए मुझे काट रहा है, इस दशा मे मैं इस पर क्रोध कैसे करू ?' सगम ने भगवान् को कष्ट दिये, तब उन्होने सोचा—'यह मोह-व्याक्षिप्त है, इसलिए यह ऐसा जघन्य कार्य करता है। मैं मोह-व्याक्षिप्त नही हू, इसलिए मुझे क्रोध करना उचित नही।'

भगवान् ने चण्डकौशिक और अपने भक्तो को समानदृष्टि से देखा, इसलिए देखा कि उनकी विश्वमैत्री की दृष्टि मे वह उनका शत्रु नही माना जा सकता। इस बौद्धिक अहिंसा का विकास होने की आवश्यकता है।

कौटुम्बिक, सामाजिक और राजनीतिक अखाडे सघर्षों के लिए सदा खुले रहते हैं। उनमे अनेकातदृष्टिलभ्य बौद्धिक अहिंसा का विकास किया जाए तो बहुत सारे सघर्ष टल सकते है। ऐकान्तिक आग्रह से ही द्वैधीभाव बढ़ता है। एक रोगी कहे, मिठाई बहुत हानिकारक वस्तु है। उस स्थिति मे स्वस्थ व्यक्ति को एकाएक झेंपना नही चाहिए। उसे सोचना चाहिए—'कोई भी निरपेक्ष वस्तु लाभकारक या हानिकारक नही होती।' उसके लाभ और हानि की वृत्ति किसी व्यक्ति-विशेष के साथ जुड़ने से बनती है। जहर किसी के लिए जहर है, वही किसी के लिए अमृत होता है, परिस्थिति के परिवर्तन मे जहर जिसके लिए जहर होता है, उसी के लिए अमृत भी बन जाता है। किसी मे कुछ और किसी मे कुछ विशेष तथ्य मिल ही जाते है। इस प्रकार हर क्षेत्र मे जैन धर्म अहिंसा को साथ लिए चलता है।

तत्त्व और आचार पर अनेकान्तदृष्टि

एकातवाद आग्रह या सक्लिष्ट मनोदशा का परिणाम है, इसलिए वह हिंसा है। अनेकान्त दृष्टि मे आग्रह या सक्लेश नही होता, इसलिए वह अहिंसा है। साधक को उसी का प्रयोग करना चाहिए।

एकातदृष्टि से व्यवहार भी नही चलता, इसलिए उसका स्वीकार अनाचार है। अनेकातदृष्टि से व्यवहार का भी लोप नही होता, इसलिए उसका स्वीकार आचार है। इनके अनेक स्थानो का वर्णन करते हुए सूत्रकृताग सूत्र मे जो बताया गया है, उसमे से कुछ बिन्दु प्रस्तुत हैं—

१ पदार्थ नित्य ही है या अनित्य ही है—यह मानना अनाचार है। पदार्थ कथचित् (किसी एक अपेक्षा से) नित्य है और कथचित् अनित्य—यह मानना आचार है।

२ सब जीव विसदृश ही हैं—यह मानना अनाचार है। चैतन्य, अमूर्तत्व आदि की दृष्टि से प्राणी आपस में समान भी हैं और कर्म, गति, जाति, विकास आदि की दृष्टि से विलक्षण भी हैं—यह मानना आचार है।

३ सब जीव कर्म की गाठ से बन्धे हुए ही रहेंगे अथवा सब छूट जायेंगे—यह मानना अनाचार है। काल, लब्धि, वीर्य पराक्रम आदि सामग्री पाने वाले मुक्त होगे भी और नहीं पाने वाले नहीं भी होंगे—यह मानना आचार है।

४ छोटे और बडे जीवो को मारने मे पाप सरीखा होता है अथवा सरीखा नहीं होता—यह मानना अनाचार है। हिंसा मे बन्ध की दृष्टि से सादृश्य भी है और बन्ध की मन्दता-तीव्रता की दृष्टि से असादृश्य भी—यह मानना आचार है।

५ स्थूल और सूक्ष्म शरीर अभिन्न ही हैं या भिन्न ही हैं—यह मानना अनाचार है। इन शरीरो की घटक वर्गणाए भिन्न हैं, इस दृष्टि से भिन्न भी हैं और एक देश-काल मे उपलब्ध होते हैं, इसलिए अभिन्न भी हैं—यह मानना आचार है।

६ कोई पुरुष कल्याणवान् ही है या पापी है—यह नही कहना चाहिए। एकान्तत कोई भी व्यक्ति कल्याणवान् या पापी नहीं होता।

७ जगत् दु ख रूप ही है—यह नही कहना चाहिए। मध्यस्थदृष्टि वाले इस जगत् मे परम सुखी भी होते हैं।

भगवान् महावीर ने तत्त्व और आचार दोनो पर अनेकान्त-दृष्टि से विचार किया। इन पर एकान्तदृष्टि से किया जाने वाला विचार मानव-सक्लेश या आग्रह का हेतु बनता है। अहिंसा और सक्लेश का जन्मजात विरोध है। इसलिए अहिंसा को पल्लवित करने के लिए अनेकान्तदृष्टि परम आवश्यक है। आत्मवादी दर्शनो का मुख्य लक्ष्य है—बध और मोक्ष की

मीमांसा करना। बंध, बंध-कारण, मोक्ष और मोक्ष-कारण—यह चतुष्टय अनेकान्त को माने बिना घट नहीं सकता।

अभ्यास

१ "स्याद्" शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए "शायद्" से उसकी भिन्नता बताएं तथा सिद्ध करें कि स्याद्वाद संशयवाद नहीं है।
२ क्या जैन दर्शन के स्याद्वाद को सापेक्षवाद कहा जा सकता है ? कैसे ?
३ अन्य विद्वानो द्वारा कृत स्याद्वाद की समीक्षा की समीक्षा करें।
४ 'सप्तभगी' को किसी सरल उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करें। (उदाहरण अपनी ओर से दें)।
५ अनेकान्त-दृष्टि का क्या तात्पर्य है ? अहिंसा के विकास मे उसका क्या योगदान हो सकता है ?

: १० :

समन्वय का राजमार्ग : नयवाद

सापेक्ष दृष्टि

प्रत्येक वस्तु में अनेक विरोधी धर्म प्रतीत होते हैं। अपेक्षा (relativity) के बिना उनका विवेचन नही किया जा सकता। अखण्ड द्रव्य को जानते समय उसकी समग्रता जान ली जाती है, किन्तु इससे व्यवहार नहीं चलता। उपयोग अखण्ड ज्ञान का हो सकता है। अमुक समय में अमुक कार्य के लिए अमुक वस्तु-धर्म का ही व्यवहार या उपयोग होता है, अखण्ड वस्तु का नहीं। हमारी सहज अपेक्षाएं भी ऐसी ही होती हैं।

विटामिन 'डी' की कमी वाला व्यक्ति सूर्य का आतप लेता है, वह बालसूर्य की किरणो का लेगा। शरीर-विजय (तपस्या) की दृष्टि से सूर्य का ताप सहने वाला तरुण-सूर्य की धूप में आतप लेगा। भिन्न-भिन्न अपेक्षा के पीछे पदार्थ का भिन्न-भिन्न उपयोग होता है। प्रत्येक उपयोग के पीछे हमारी निश्चय अपेक्षा जुडी हुई होती है। यदि अपेक्षा न हो तो प्रत्येक वचन और व्यवहार आपस में विरोधी बन जाता है।

एक काठ के टुकडे का मूल्य एक रुपया होता है, उसका उत्कीर्णन के बाद दस रुपया मूल्य हो जाता है, यह क्यो ? काठ नहीं बदला, फिर भी उसकी स्थिति बदल गई। उसके साथ-साथ मूल्य की अपेक्षा बदल गई। काठ की अपेक्षा से उसका अब भी वही एक रुपया मूल्य है, किन्तु खुदाई की अपेक्षा से मूल्य वह नहीं, नौ रुपये और बढ़ गया। एक और दस का मूल्य विरोधी है, पर अपेक्षा-भेद समझने पर विरोध नहीं रहता।

अपेक्षा हमारा बुद्धिगत धर्म है। वह भेद से पैदा होता है। भेद मुख्य-मुख्य चार होते हैं—

१ वस्तु-भेद। ३ काल-भेद।
२. क्षेत्र-भेद या आश्रय-भेद। ४. अवस्था-भेद।

इसलिये समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए अनेकान्तदृष्टि ही शरण है। काठ के टुकड़े के मूल्य पर जो हमने विचार किया, वह अवस्था-भेद से उत्पन्न अपेक्षा है। यदि हम इस अवस्था-भेद से उत्पन्न होने वाली अपेक्षा की उपेक्षा कर दें, तो भिन्न मूल्यो का समन्वय नहीं किया जा सकता।

आम की ऋतु में रुपये के दो सेर आम मिलते हैं। ऋतु बीतने पर

सेर आम का मूल्य दो रुपये हो जाता है। कोई भी व्यवहारी एक ही वस्तु के इन विभिन्न मूल्यो के लिए झगड़ा नहीं करता। उसकी सहज बुद्धि मे काल-भेद की अपेक्षा समाई हुई रहती है।

कश्मीर में मेवे का जो भाव होता है, वह राजस्थान मे नहीं होता। कश्मीर का व्यक्ति राजस्थान मे आकर यदि कश्मीर-सुलभ मूल्य में मेवा लेने का आग्रह करे, तो वह बुद्धिमानी नही होती। वस्तु एक है, यह अन्वय की दृष्टि है, किन्तु वस्तु की क्षेत्राश्रित पर्याय एक नही है। जिसे आम की आवश्यकता है, वह सीधा आम के पास ही पहुचता है। उसकी अपेक्षा यही तो है कि आम के अतिरिक्त सब वस्तुओ के अभाव धर्मवाला और आम्र-परमाणु सद्भावी आम उसे मिले। इस सापेक्षदृष्टि के बिना व्यावहारिक समाधान भी नहीं मिलता।

भगवान् महावीर की अपेक्षा-दृष्टियां

अपेक्षा-दृष्टि से ये निर्णय निकलते हैं—

१ वस्तु न नित्य है, न अनित्य है, किन्तु नित्य-अनित्य का समन्वय है।

२ वस्तु न भिन्न है, न अभिन्न है, किन्तु भेद-अभेद का समन्वय है।

३ वस्तु न एक है, न अनेक है, किन्तु एक-अनेक का समन्वय है।

वस्तु के विशेष गुण (सहभावी धर्म) का कभी नाश नहीं होता, इसलिए वह नित्य और उसके क्रमभावी धर्म पर्याय बनते-बिगड़ते रहते हैं, इसलिए वह अनित्य है। "वह अनन्त धर्मात्मक है, इसलिए उसका एक ही क्षण में एक स्वभाव से उत्पाद होता है, दूसरे स्वभाव से विनाश और तीसरे स्वभाव से स्थिति होती है।" वस्तु मे इन विरोधी धर्मों का सहज सामंजस्य है। ये अपेक्षा-दृष्टिया वस्तु के विरोधी धर्मों को मिटाने के लिए नही हैं। ये उस विरोध को मिटाती है, जो तर्कवाद से उद्भूत होता है।

समन्वय की दिशा

अपेक्षावाद समन्वय की ओर गति है। इसके आधार पर परस्पर विरोधी मालूम पड़ने वाले विचार सरलतापूर्वक सुलझाए जा सकते है। मध्ययुगीन दर्शन-प्रणेताओ की गति इस ओर कम रही। यह दुख का विषय है। जैन दार्शनिक नयवाद के ऋणी होते हुए भी अपेक्षा का खुलकर उपयोग नहीं कर सके, यह अत्यन्त खेद की बात है। यदि ऐसा हुआ होता, तो सत्य का मार्ग इतना कटीला नही होता।

समन्वय की दिशा बताने वाले आचार्य नहीं हुए, ऐसा भी नहीं। अनेक आचार्य हुए हैं, जिन्होने दार्शनिक विवादो को मिटाने के लिए प्रचुर

श्रम किया। इनमे हरिभद्र आदि अग्रस्थानीय हैं।

आचार्य हरिभद्र ने कर्तृत्ववाद का समन्वय करते हुए लिखा है—"आत्मा मे परम ऐश्वर्य, अनन्त शक्ति होती है, इसलिए वह ईश्वर है और वह कर्त्ता है। इस प्रकार कर्तत्ववाद अपने आप व्यवस्थित हो जाता है।"

जैन दर्शन ईश्वर को कर्त्ता नहीं मानता, नैयायिक आदि मानते हैं। अनाकार ईश्वर का प्रश्न है, वहां तक दोनो मे कोई मतभेद नहीं। नैयायिक आदि ईश्वर के साकार रूप मे कर्तृत्व बतलाते हैं और जैन दर्शन मनुष्य मे ईश्वर बनने की क्षमता बतलाता है। नैयायिको के मतानुसार ईश्वर का साकार अवतार कर्त्ता है और जैन-दृष्टि मे ऐश्वर्य-शक्ति-सम्पन्न मनुष्य कर्त्ता है, इस बिन्दु पर सत्य अभिन्न हो जाता है, केवल विचार-पद्धति का भेद रहता है।

परिणाम, फल या निष्कर्ष हमारे सामने होते हैं, उनमे विशेष विचार-भेद नही होता। अधिकाश मतभेद निमित्त, हेतु या परिणाम-सिद्धि की प्रक्रिया मे होते हैं। उदाहरण के लिए एक तथ्य ले लीजिये—ईश्वर-कर्तृत्ववादी संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मानते हैं। जैन, बौद्ध आदि ऐसा नहीं मानते। दोनो विचारधाराओ के अनुसार जगत् अनादि-अनन्त है। जैन-दृष्टि के अनुसार असत् से सत् उत्पन्न नही होता। बौद्ध-दृष्टि के अनुसार सत्-प्रवाह के बिना सत् उत्पन्न नही होता। जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश बराबर चल रहे हैं, इन्हे कोई अस्वीकार नही कर सकता। अब भेद रहा सिर्फ इनकी निमित्त प्रक्रिया में। सृष्टिवादियो के सृष्टि, पालन और सहार के निमित्त हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। जैन पदार्थ-मात्र मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मानते है। पदार्थ-मात्र की स्थिति स्व-निमित्त से होती है। उत्पाद और व्यय स्व-निमित्त से होते ही है और पर-निमित्त से भी होते हैं। बौद्ध उत्पाद और नाश मानते हैं, स्थिति सीधे शब्दो मे नहीं मानते किन्तु सन्तति-प्रवाह के रूप मे भी स्थिति भी उन्हे स्वीकार करनी पडती है।

जगत् का सूक्ष्म या स्थूल रूप मे उत्पाद, नाश और ध्रौव्य चल रहा है, इसमे कोई मतभेद नही। जैन-दृष्टि के अनुसार सत् पदार्थ त्रिरूप हैं, और वैदिक दृष्टि के अनुसार ईश्वर त्रिरूप है। मतभेद सिर्फ इसकी प्रक्रिया में है। निमित्त के विचार-भेद से इस प्रक्रिया को नैयायिक 'सृष्टिवाद,' जैन परिणामि-नित्यवाद' और बौद्ध 'प्रतीत्य-समुत्पादवाद' कहते हैं। इस प्रकार अनेक दार्शनिक तथ्य है, जिन पर विचार किया जाए, तो उनके केन्द्र-बिन्दु पृथक-पृथक् नही जान पडते।

समन्वय के दो स्तम्भ

समन्वय केवल वास्तविक दृष्टि से नहीं किया जाता। निश्चय और

व्यवहार दोनो उसके स्तम्भ बनते हैं। निश्चय नय वस्तु-स्थिति जानने के लिए है। व्यवहार नय वस्तु के स्थूल रूप में होने वाली आग्रह-बुद्धि को मिटाता है। वस्तु के स्थूल रूप (जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है) को ही अन्तिम सत्य मानकर न चलें, यही समन्वय की दृष्टि है। पदार्थ एक रूप में पूर्ण नहीं होता। वह स्वरूप से सत्तात्मक, पररूप से असत्तात्मक होकर पूर्ण होता है। केवल सत्तात्मक या केवल असत्तात्मक रूप में कोई पदार्थ पूर्ण नहीं होता। सर्व-सत्तात्मक या सर्व-असत्तात्मक रूप जैसा कोई है ही नहीं। पदार्थ की ऐसी स्थिति है, तब नय-निरपेक्ष बनकर उसका प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं? इसका अर्थ यह नहीं होता कि नय पूर्ण सत्य तक ले नहीं जाते। वे ले जाते अवश्य हैं, किन्तु सब मिलकर। एक नय पूर्ण सत्य का एक अंश होता है। वह अन्य नय-सापेक्ष रहकर सत्यांश का प्रतिपादक बनता है।

नय

वस्तु के अन्य अंशो का निराकरण न करने वाले तथा उसके एक अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा जाता है। दूसरे शब्दो मे कहें तो अनन्त धर्मात्मक वस्तु के विवक्षित अंश का ग्रहण तथा शेष अंशो का निराकरण न करने वाले प्रतिपादक का अभिप्राय नय कहलाता है। एक धर्म (वस्तु-स्वभाव या वस्तु-गुण) का ज्ञान और एक धर्म का वाचक शब्द—ये दोनो नय कहलाते हैं। ज्ञानात्मक नय को 'नय' और वचनात्मक नय को 'नय-वाक्य' या 'सद्वाद' कहा जाता है।

नय-ज्ञान विश्लेषणात्मक होता है, इसलिए यह मानसिक ही होता है, ऐन्द्रियक नहीं होता। नय से अनन्तधर्मक वस्तु के एक धर्म का बोध होता है। इससे जो बोध होता है, वह यथार्थ होता है, इसीलिए यह प्रमाण है, किन्तु इससे अखण्ड वस्तु नहीं जानी जाती, इसलिए यह पूर्ण प्रमाण नही बनता। यह एक समस्या बन जाती है। दार्शनिक आचार्यों ने इसे यों सुल-झाया कि अखण्ड वस्तु के निश्चय की अपेक्षा से नय प्रमाण नहीं है। वह वस्तु-खण्ड को यथार्थ रूप से ग्रहण करता है, इसलिए अप्रमाण भी नहीं है। अप्रमाण तो है ही नहीं, पूर्णता की अपेक्षा प्रमाण भी नहीं है, इसलिए इसे प्रमाणांश कहना चाहिए।

सत्य का व्याख्या द्वार

सत्य का साक्षात् होने के पूर्व सत्य की व्याख्या होनी चाहिए। एक सत्य के अनेक रूप होते हैं। अनेक रूपों की एकता और एक की अनेकरूपता ही सत्य है। उसकी व्याख्या का जो साधन है, वही नय है।

सत्य अपने आप में पूर्ण होता है। न तो अनेकता-निरपेक्ष एकता सत्य है और न एकता-निरपेक्ष अनेकता। एकता और अनेकता का समन्वित रूप

ही पूर्ण सत्य है। सत्य की व्याख्या वस्तु, क्षेत्र, काल और अवस्था की अपेक्षा से होती है। एक के लिए जो गुरु है, वही दूसरे के लिए लघु; एक के लिए जो दूर है, वही दूसरे के लिए निकट; एक के लिए जो ऊर्ध्व है, वही दूसरे के लिए निम्न, एक के लिए जो सरल है, वही दूसरे के लिए वक्र। अपेक्षा के बिना इनकी व्याख्या नहीं हो सकती। गुरु और लघु क्या है? दूर और निकट क्या है? ऊर्ध्व और निम्न क्या है? सरल और वक्र क्या है? वस्तु, क्षेत्र आदि की निरपेक्ष स्थिति मे इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि पदार्थ अनन्त गुणो का सहज सामंजस्य है। उसके सभी गुण-धर्म या शक्तियां अपेक्षा की शृंखला मे गुथे हुए हैं। एक गुण की अपेक्षा से पदार्थ का जो स्वरूप है, वह उसकी अपेक्षा से है, दूसरे की अपेक्षा से नहीं।

अभ्यास

१ सापेक्ष दृष्टि को सरल शब्दो मे स्पष्ट करें।
२ सापेक्ष दृष्टि से विभिन्न मतो का समन्वय कैसे किया जा सकता है?
३ प्रवृत्ति और निवृत्ति या श्रद्धा और तर्क के बीच मे भी क्या सापेक्ष दृष्टि कारगर हो सकती है? समझाकर लिखिए।
४ नय या सद्वाद किसे कहते हैं? नयवाद से वस्तु-विश्लेषण किस प्रकार किया जा सकता है?
५ निश्चय नय और व्यवहार नय का क्या तात्पर्य है?

खण्ड २
इतिहास और साहित्य

: १ :

भगवान् ऋषभ से पार्श्व तक

कालचक्र

कालचक्र जागतिक ह्रास और विकास के क्रम का प्रतीक है। काल का पहिया नीचे की ओर जाता है तब भौगोलिक परिस्थिति तथा मानवीय सभ्यता और संस्कृति ह्रासोन्मुखी होती है। काल का पहिया जब ऊपर की ओर आता है तब वे विकासोन्मुखी होती हैं।

काल की इस ह्रासोन्मुखी गति को अवसर्पिणी और विकासोन्मुखी गति को उत्सर्पिणी कहा जाता है।

अवसर्पिणी में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, सहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि पर्यायो की क्रमश अवनति होती है।

उत्सर्पिणी मे उक्त पर्यायों की क्रमश उन्नति होती है। वह अवनति और उन्नति सामूहिक होती है, वैयक्तिक नहीं होती।

अवसर्पिणी की चरम सीमा ही उत्सर्पिणी का आरम्भ है और उत्सर्पिणी का अन्त अवसर्पिणी का जन्म है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के छह-छह विभाग (पूर्व) होते हैं।

अवसर्पिणी के छह विभाग

१ सुषम-सुषमा	४ दु षम-सुषमा
२ सुषमा	५ दु षमा
३ सुषम-दु षमा	६ दु षम-दु षमा

उत्सर्पिणी के छह विभाग इस व्यतिक्रम से होते हैं

१ दु षम-दु षमा	४ सुषम-दु षमा
२ दु षमा	५. सुषमा
३ दु षम-सुषमा	६ सुषम-सुषमा

१. सुषम-सुषमा

हमारे युग का जीवन-क्रम सुषम-सुषमा से शुरू होता है। उस समय भूमि स्निग्ध थी। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श अत्यन्त मनोज्ञ थे। कर्मयुग का प्रवर्तन नहीं हुआ था। पदार्थ अति स्निग्ध थे। अत भोजन की मात्रा बहुत स्वल्प थी। खाद्य पदार्थ अप्राकृतिक नहीं थे। विकार बहुत कम थे, इसलिए

उनका जीवन-काल बहुत लबा होता था। अकाल-मृत्यु नही होती थी। यह चार कोटि-कोटि सागरोपम (असख्यात वर्षों) का एकान्त सुखमय पर्व बीत गया।

२. सुषमा

तीन कोटि-कोटि सागरोपम का दूसरा सुखमय पर्व शुरू हुआ। इसमे भोजन की मात्रा कुछ बढ़ी, फिर भी स्वल्प रह गई। जीवनकाल कुछ छोटा हो गया और पदार्थों की स्निग्धता भी घट गई।

३. सुषम-दु षमा

तीसरे सुख-दु खमय पर्व मे और कमी आ गई। भोजन की मात्रा बढ गई और जीवन की अवधि घट गई। इस युग की काल-मर्यादा थी—दो कोटि-कोटि सागर। इसके अतिम चरण मे पदार्थों की स्निग्धता मे बहुत कमी हुई।

यह कर्म-युग के शैशव-काल की कहानी है। समाज-सगठन अभी नहीं हुआ था। यौगलिक व्यवस्था चल रही थी। एक जोडा ही सब कुछ होता था। न कुल था, न वर्ग और न जाति। जनसख्या कम थी। माता-पिता से एक युगल जन्म लेता, वही दम्पति होता। विवाह-सस्था का उदय नही हुआ था। जीवन की आवश्यकता बहुत सीमित थी। भोजन, वस्त्र और निवास के साधन कल्पवृक्ष थे। गाव बसे नही थे। न कोई स्वामी था और न सेवक। शासक-शासित भी नही थे। पति-पत्नी या जन्य-जनक के सिवा सम्बन्ध जैसी कोई वस्तु नही थी।

धर्म और उसके प्रचारक भी नही थे। उस समय के लोग सहज धर्म के अधिकारी और शात स्वभाव वाले थे। चुगली, निंदा, आरोप जैसे मनो-भाव जन्म ही नही थे। हीनता और उत्कर्ष की भावनाए भी उत्पन्न नहीं हुई थी। लडने-झगडने की मानसिक ग्रथिया भी नही थी। वे शस्त्र और शास्त्र दोनो से अनजान थे।

अब्रह्मचर्य सीमित था। मार-काट और हत्या नहीं होती थी। न सग्रह था, न चोरी और न असत्य। वे सदा सहज आनन्द और शांति मे लीन रहते थे।

कालचक्र का पहला और दूसरा भाग बीत गया और तीसरे भाग का अधिकाश बीत गया। यह यौगलिक व्यवस्था के अन्तिम दिनो की कहानी है।[1]

---

१ वैदिक परम्परा मे १४ मन्वन्तर काल की सृष्टि है। राजर्षि मनु ने १४ मन्वन्तरो मे स्वायभुव, स्वारोचिष, औत्तम, तामस, रेवत और चाक्षुस छह मन्वन्तरो के बीतने पर सातवें मन्वन्तर—वैवस्वत मे मानवोत्पत्ति कही है और उसके पश्चात् सात और मन्वन्तरो तक सृष्टि की आयु बताई है।

कुलकर-व्यवस्था

असख्य वर्षों के बाद नये युग का आरम्भ हुआ । यौगलिक व्यवस्था धीरे-धीरे टूटने लगी । दूसरी कोई व्यवस्था अभी जन्म नही पाई । सक्रांति-काल चल रहा था । एक ओर आवश्यकता-पूर्ति के साधन कम हुए, तो दूसरी ओर जनसख्या और जीवन की आवश्यकताए कुछ बढी । इस स्थिति मे आपसी सघर्ष और लूट-खसोट होने लगी । उसके फलस्वरूप 'कुल' व्यवस्था का विकास हुआ । लोग 'कुल' के रूप मे सगठित होकर रहने लगे । कुलो का एक मुखिया होता, वह 'कुलकर' कहलाता । वह सब कुलो की व्यवस्था करता, उनकी सुविधाओ का ध्यान रखता और लूट-खसोट पर नियत्रण रखता । यह शासन-तत्र का आदिम रूप था ।

"शत मे अयुत हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्म"— वेदोक्ति के अनुसार यह सृष्टि-आयु सौ अयुत हायनो—वर्षों के पीछे क्रमश २, ३, ४ अक लिखने पर ४३२ करोड वर्ष होती है ।

अथर्व वेद मे लिखा है कि भूत, भविष्यमय काल रूपी घर एक हजार खम्भा पर खडा है । मनुस्मृति (अध्याय—एक) मे लिखा है कि कृत-युग मे चार हजार वर्षो के साथ ४०० वर्षो की सध्या और ४०० वर्षों का सध्याश शामिल है जबकि त्रेता, द्वापर, कलियुग मे क्रमश तीन, दो, एक हिस्सा होता है । तदनुसार चार युगो की वर्ष सख्या १२००० बनती है जो देव वर्ष कहे गए है । शतपथ ब्राह्मण मे इसे प्रकारान्तर से लिखा हुआ है कि प्रजापति ने कुल १२ हजार बृहती छन्द बनाये । एक बृहती छन्द मे ३६ अक्षर होने से ऋग्वेद मे ३६ × १२००० = ४,३२,००० अक्षर हैं । यही कलियुग की वर्ष सख्या भी है । ऋग्वेद के अनुसार इसका दस गुणा महायुग होता है और उसका हजार गुणा कल्पकाल अथवा सृष्टि की आयु होती है जिसे ऊपर कालरूपी घर कहा गया है ।

इन हजार महायुगो के कल्पकाल को १४ मन्वन्तरो मे बाटा गया है । और प्रत्येक मन्वन्तर मे ७१ महायुग माने गए है । गणना मे वैवस्वत मनु का [illegible] (स० २००७ मे) १२०, ५३३, ०९१ वर्ष पूर्व हुआ । इस गणना मे सत्ताईस महायुगो का काल ११६,६४०००० वर्ष और वर्तमान २८ वे महायुग के तीन युग—सतयुग—१७२८०००, त्रेता—१२९६००० और द्वापर—८६४००० वर्ष शामिल है । वर्तमान कलियुग का आरम्भ आज से ५०९१ [illegible] पूर्व उस समय हुआ जबकि बृहस्पति [illegible] पुष्य नक्षत्र मे प्रवेश [illegible] गणना अनुसार बृहस्पति के पुष्य नक्षत्र मे प्रवेश को स० [illegible]०४७ [illegible] ५[illegible] वर्ष बीत चुके है और यह स[illegible] वर्ष [illegible] वत्सर-चक्र मे उसका [illegible] है जिसके ५१ वर्ष बीत ग[illegible]

मनुष्य प्रकृति मे भलाई और बुराई दोनो के बीज होते हैं। परिस्थिति का योग पा वे अकुरित हो उठते हैं। देश, काल, पुरुषार्थ, कर्म और नियति के योग की सह-स्थिति का नाम है—परिस्थिति। वह व्यक्ति की स्वभावगत वृत्तियो की उत्तेजना का हेतु बनती है। उससे प्रभावित व्यक्ति बुरा या भला बन जाता है।

जीवन की अवश्यकताए कम थीं। उसके निर्वाह के साधन सुलभ थे। मनुष्य को सग्रह करने और दूसरो द्वारा अधिकृत वस्तु को हडपने की बात नही सूझी। इसके बीज उसमे थे, पर उन्हे अकुरित हाने का अवसर नहीं मिला। ज्यो ही जीवन की आवश्यकताए बढी, उसके निर्वाह के साधन दुर्लभ हुए कि सग्रह और अपहरण की भावना उभर आयी। स्वगत शासन टूटता गया, बाहरी शासन बढता गया।

कुलकर सात हुए हैं। उनके नाम हैं—विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, प्रसेनजित्, मरुदेव व नाभि।

तीन दडनीतियां

कुलकर-व्यवस्था मे तीन दण्ड-नीतिया प्रचलित हुईं। पहले कुलकर विमलवाहन के समय मे 'हाकार' नीति का प्रयोग हुआ। उस समय के मनुष्य स्वय अनुशासित और लज्जाशील थे। 'हा! तूने यह क्या किया'—ऐसा कहना गुरुतर दण्ड था।

दूसरे कुलकर चक्षुष्मान् के समय भी यही नीति चली। तीसरे और चौथे—यशस्वी और अभिचन्द्र कुलकर के समय मे छोटे अपराध के लिए हाकार' और बडे अपराध के लिए 'माकार' (मत करो) नीति का प्रयोग किया गया।

पाचवें, छठे और सातवे—प्रसेनजित्, मरुदेव और नाभि कुलकर के समय मे 'धिक्कार' नीति चली। छोटे अपराध के लिए 'हाकार', मध्यम अपराध के लिए 'माकार' और बडे अपराध के लिए 'धिक्कार' नीति का प्रयोग किया गया। उस समय के मनुष्य बहुत सरल, मर्यादा-प्रिय और स्वय-शासित थे। खेद-प्रदर्शन, निषेध और तिरस्कार— ये मृत्यु-दण्ड से अधिक होते।

युगलो को जो कल्प-वृक्षो से प्रकृतिसिद्ध भोजन मिलता था, वह अपर्याप्त हो गया। जो युगल शात और प्रसन्न थे, उनमे क्रोध का उदय होने लगा। वे आपस मे लडने-झगडने लगे। धिक्कार नीति का उल्लघन होने लगा। जिन युगलो ने क्रोध, लडाई जैसी स्थितिया कभी न देखी और न कभी सुनी—वे इन स्थितियो से घबरा गये। इस स्थिति पर नियत्रण पाने के लिए राजा की आवश्यकता हुई।

कुलकर नाभि की उपस्थिति मे विचार हुआ और नाभि ने ऋषभ को राजा घोषित किया। इस प्रकार नाभि-पुत्र ऋषभ पहले राजा बने। उनका राज्याभिषेक हुआ। उन्होने राज्य-सचालन के लिए नगर बसाया।

लोग अरण्य-वास से हट नगरवासी बन गये। असाधु लोगो पर शासन और साधु लोगो की सुरक्षा के लिए उन्होने व्यवस्था की। चोरी, लूट-खसोट न हो, नागरिक जीवन व्यवस्थित रहे—इसके लिए आरक्षक-दल स्थापित किया गया। राज्य की शक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसलिए सेना और सेनापतियो की व्यवस्था हुई। जैसे औषध को व्याधि का प्रतिकार माना जाता, वैसे ही दण्ड अपराध का प्रतिकार माना जाने लगा। राजा ऋषभ की दण्ड-व्यवस्था मे चार प्रकार का दण्ड-विधान था—

१ **परिभाषक**—थोड़े समय के लिए नजरबन्द करना—क्रोध-पूर्ण शब्दो मे अपराधी को 'यही बैठ जाओ' का आदेश देना।

२. **मडलिबन्ध**—नजरबन्द करना—नियमित क्षेत्र से बाहर न जाने का आदेश देना।

३ **बन्ध**—बधन का प्रयोग।

४ **घात**—डडे का प्रयोग।

राजतन्त्र मे चार प्रकार के अधिकारी थे। आरक्षक वर्ग के सदस्य 'उग्र', मत्रि परिषद् के सदस्य 'भोज', परामर्शदात्री समिति के सदस्य या प्रान्तीय प्रतिनिधि 'राजन्य' और शेष कर्मचारी 'क्षत्रिय' कहलाए।

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी चुना। यह क्रम राजतन्त्र का अग बन गया। यह युगो तक विकसित होता रहा।

खाद्य-समस्या का समाधान

कुलकर युग मे लोगो की भोजन-सामग्री थी—कन्द, मूल, पत्र, पुष्प और फल। बढती जनसख्या के लिए कन्द आदि पर्याप्त नही रहे और वनवासी लोग गृहस्वामी होने लगे। इससे पूर्व प्राकृतिक वनस्पति पर्याप्त थी। अब बोये हुए बीज से अनाज होने लगा।

वे पकाना नही जानते थे। और न उनके पास पकाने का कोई साधन था। वे कच्चे अनाज खाते थे। समय बदला। कच्चा अनाज दुष्पाच्य हो गया। लोग ऋषभ के पास पहुचे और अपनी समस्या का समाधान मागा। ऋषभ ने अनाज को हाथो से घिसकर खाने की सलाह दी। लोगो ने वैसा ही किया। कुछ समय बाद वह विधि भी असफल होने लगी।

समय के चरण आगे बढे। काल स्निग्ध-रूक्ष बना, तब वृक्षो के पारस्परिक घर्षण से अग्नि उत्पन्न हुई। वह फैली। वन जलने लगे। लोगो ने उस अग्नि को देखा, अग्नि का उपयोग और पाक-विद्या सीखी। खाद्य-समस्या

का समाधान हो गया ।

शिल्प और व्यवसाय

अग्नि की उत्पत्ति ने विकास का स्रोत खोल दिया । पात्र, औजार, वस्त्र, चित्र आदि शिल्पो का जन्म हुआ । अन्नपाक के लिए पात्र निर्माण आवश्यक थे, इसलिए लोहकार-शिल्प का आरम्भ हुआ । सामाजिक जीवन ने वस्त्र शिल्प और गृह-शिल्प को जन्म दिया । नख, केश आदि काटने के लिए नापित-शिल्प (क्षौर-कर्म) का प्रवर्तन हुआ । इन पाचो शिल्पो का प्रवर्तन आग की उत्पत्ति के बाद हुआ ।

पदार्थो के विकास के साथ-साथ उनके विनिमय की आवश्यकता अनुभूत हुई । कृषिकार, व्यापारी और रक्षक-वर्ग भी अग्नि की उत्पत्ति के बाद बने । कहा जा सकता है—अग्नि ने कृषि के उपकरण, आयात-निर्यात के साधन और अस्त्र-शस्त्रो को जन्म दे मानव के भाग्य को बदल दिया ।

पदार्थ बढे तब परिग्रह मे ममता बढी, सग्रह होने लगा । कौटुम्बिक ममत्व भी बढा । लोकैषणा और धनैषणा के भाव जाग उठे ।

सामाजिक और सास्कृतिक परम्पराओ का सूत्रपात

पहले मृतको की दाह-क्रिया नही की जाती थी, अब लोग मृतको को जलाने लगे । पहले पारिवारिक ममत्व नही था, अब वह विकसित हो गया । इसलिए मृत्यु के बाद लोग रोने लगे । उसकी स्मृति मे वेदी और स्तूप बनाने की प्रथा चल पडी । इस प्रकार समाज मे कुछ परम्पराओ ने जन्म ले लिया ।

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को ७२ कलाए सिखलाईं । कनिष्ठ पुत्र बाहुबली को प्राणी की लक्षण-विद्या का उपदेश दिया । बडी पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपिया और सुन्दरी को गणित का अध्ययन कराया । धनुर्वेद, अर्थशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, क्रीडा-विधि आदि-आदि विद्याओ का प्रवर्तन कर लोगो को सुव्यवस्थित और सुसस्कृत बना दिया ।

कर्तव्य-बुद्धि से लोक-व्यवस्था का प्रवर्तन कर ऋषभ राज्य करने लगे । बहुत लम्बे समय तक वे राजा रहे ।

जीवन के अतिम भाग मे वे राज्य त्याग कर मुनि बने । मोक्ष-धर्म का प्रवर्तन हुआ । वर्षों की साधना के बाद भगवान् ऋषभ को कैवल्य-लाभ हुआ । उन्होने साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका—इन चार तीर्थों की स्थापना की । मुनि-धर्म के पाच महाव्रत और गृहस्थ-धर्म के बारह व्रतो का उपदेश दिया । साधु-साध्वियो का सघ बना । श्रावक-श्राविकाए भी बनी ।

साम्राज्य-लिप्सा

भगवान् ऋषभ कर्मयुग के पहले राजा थे । अपने सौ पुत्रो को अलग-

अलग राज्यो का भार सौप वे मुनि बन गए। सबसे बड़ा पुत्र भरत था। वह चक्रवर्ती सम्राट् बनना चाहता था। उसने अपने ९८ भाइयो को अपने अधीन करना चाहा। सबके पास दूत भेजे। ९८ भाई मिले। आपस मे परामर्श कर भगवान् ऋषभ के पास पहुचे। सारी स्थिति भगवान् ऋषभ के सामने रखी। दुविधा की भाषा मे पूछा—'भगवन्! क्या करें? बडे भाई से लडना नही चाहते और अपनी स्वतत्रता को खोना भी नही चाहते। भाई भरत ललचा गया है। आपके दिए हुए राज्य को वह हमसे वापस लेना चाहता है। हम उससे लडे, तो भ्रातृ-युद्ध की गलत परम्परा पड जाएगी। बिना लडे राज्य सौप दें, तो साम्राज्य का रोग बढ जाएगा। परमपिता! इस दुविधा से उबारिये।'

भगवान् ने कहा—'पुत्रो! तुमने ठीक सोचा। लडना भी बुरा है और क्लीव होना भी बुरा है। राज्य दो परो वाला पक्षी है। उसका मजबूत पर युद्ध है। उसकी उडान मे पहले वेग होता है, अन्त मे थकान। वेग मे से चिनगारिया उछलती हैं। उडान वाले लोग उसमे जल जाते हैं। उडने वाला चलता-चलता थक जाता है। शेष रहती है निराशा और अनुताप।

'पुत्रो! तुम्हारी समझ सही है। युद्ध बुरा है—विजेता के लिए भी और पराजित के लिए भी। पराजित अपनी सत्ता को गवाकर पछताता है और विजेता कुछ नही पाकर पछताता है। प्रतिशोध की चिता जलाने वाला उसमे स्वय न जले, यह कभी नही होता।

'राज्य रूपी पक्षी का दूसरा पर दुर्बल है। वह है कायरता। मैं तुम्हे कायर बनने की सलाह भी कैसे दे सकता हू? पुत्रो! मैं तुम्हे ऐसा राज्य देना चाहता हू जिसके साथ लडाई और कायरता की कडिया जुडी हुई नही हैं।'

भगवान् की आश्वासन-भरी वाणी सुन वे सारे खुशी से झूम उठे। आशा-भरी दृष्टि से एकटक भगवान् की ओर देखने लगे। भगवान् की भावना को वे नही पकड सके। भौतिक जगत् की सत्ता और अधिकारो से परे कोई राज्य हो सकता है—यह उनकी कल्पना मे नही समाया। उनकी किसी विचित्र भू-खड को पाने की लालसा तीव्र हो उठी। भगवान् इसलिए तो भगवान् थे कि उनके पास कुछ भी नही था। उत्सर्ग की चरम रेखा पर पहुचने वाले ही भगवान् बनते है। सग्रह के चरम बिन्दु पर पहुच कोई भगवान् बना हो—ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है।

भगवान् ने कहा—'सयम का क्षेत्र निर्बाध राज्य है। इसे लो। न तुम्हे वहा कोई अधीन करने आएगा और न वहा युद्ध और कायरता का प्रसग होगा।'

पुत्रो ने देखा, पिता उन्हे राज्य त्यागने की सलाह दे रहे हैं। पूर्व-

कल्पना पर पटाक्षेप हो गया। अकल्पित चित्र सामने आया। आखिर वे भी भगवान् के बेटे थे। भगवान् के मार्ग-दर्शन का सम्मान किया। वे राज्य को त्याग स्व-राज्य की ओर चल पडे। स्व-राज्य की अपनी विशेषताए हैं। इसे पाने वाला सब कुछ पा जाता है। राज्य की मोहकता तब तक रहती है, जब तक व्यक्ति स्व-राज्य की सीमा मे नही चला आता। एक सयम के बिना व्यक्ति सब कुछ पाना चाहता है। सयम के पाने पर कुछ भी पाए बिना सब कुछ पाने की कामना नष्ट हो जाती है।

त्याग शक्तिशाली अस्त्र है। इसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नही है। भरत का आक्रामक दिल पसीज गया। वह दौडा-दौडा, आया। अपनी भूल पर पछतावा हुआ। भाइयो से क्षमा मागी। स्वतत्रतापूर्वक अपना-अपना राज्य सम्भालने को कहा। किन्तु वे अब राज्य-लोभी सम्राट् भरत के भाई नही रहे थे। वे अकिंचन जगत के भाई बन चुके थे। भरत का भ्रातृ-प्रेम अब उन्हें नही ललचा सका। वे उसकी लालची आखो को देख चुके थे। इसलिए उसकी गीली आखो का उन पर कोई असर नही हुआ। भरत हाथ मलते हुए घर लौट गया।

साम्राज्यवाद एक मानसिक प्यास है। वह उभरने के बाद सहसा नही बुझती। भरत ने एक-एक कर सारे राज्यो को अपने अधीन कर लिया। बाहुबली को उसने नहीं छुआ। अट्ठानवे भाइयो के राज-त्याग को वह अब भी नही भूला था। अन्तर्द्वन्द्व चलता रहा। एकछत्र राज्य का सपना पूरा नही हुआ। असयम का जगत् ही ऐसा है, जहा सब कुछ पाने पर भी व्यक्ति को अकिंचनता की अनुभूति होती रहती है।

युद्ध का पहला चरण

दूत के मुह से भरत का सदेश सुन बाहुबली की भृकुटि तन गई। दबा हुआ रोष उभर आया। कापते होठो से कहा—'दूत! भरत अब भी भूखा है? अपने अट्ठानवे सगे भाइयो का राज्य हडपकर तृप्त नही बना? हाय! यह कैसी मनोदशा है? साम्राज्यवादी के लिए निषेध जैसा कुछ होता ही नही। मेरा बाहुबल किससे कम है? क्या मैं दूसरे राज्यो को नही हडप सकता? किन्तु यह मानवता का अपमान, शक्ति का दुरुपयोग और व्यवस्था का भग है, मैं ऐसा कार्य नही कर सकता। व्यवस्था के प्रवर्तक हमारे पिता हैं। उनके पुत्रो को तोडने मे लज्जा का अनुभव होना चाहिये। शक्ति का प्राधान्य पशु-जगत् का चिह्न है। मानव-जगत् मे विवेक का प्राधान्य होना चाहिए। शक्ति का सिद्धात पनपा, तो बच्चो और बूढो का क्या बनेगा? युवक उन्हे चट कर जायेंगे। रोगी, दुर्बल और अपग के लिए यहा कोई स्थान नही रहेगा। फिर तो यह सारा विश्व रौद्र बन जाएगा। क्रूरता के

साथी हैं—ज्वाला-स्फुलिंग ताप और सर्वनाश । क्या मेरा भाई अभी-भी समूचे जगत् को सर्वनाश की ओर धकेलना चाहता है ? आक्रमण एक उन्माद है । आक्राता उससे बेभान हो दूसरो पर टूट पडता है ।

'भरत ने ऐसा ही किया । मैं उसे चुप्पी साधे देखता रहा । अब उस उन्माद के रोग का शिकार मैं हू । हिंसा से हिंसा की आग नही बुझती—यह मैं जानता हू । आक्रमण को अभिशाप मानता हू । किन्तु आक्रमणकारी को सहू—यह मेरी तितिक्षा (सहनशक्ति) से परे है । तितिक्षा मनुष्य के उदात्त चरित्र की विशेषता है । किन्तु उसकी भी एक सीमा है । मैंने उसे निभाया है । तोड़ने वाला समझता ही नही, तो आखिर जोडने वाला कब तक जोडे ?

भरत की विशाल सेना 'बहली' की सीमा पर पहुच गई । इधर बाहु-बलि अपनी छोटी-सी सेना सजा आक्रमण को विफल करने आ गया । भाई-भाई के बीच युद्ध छिड गया । स्वाभिमान और स्वदेश-रक्षा की भावना से भरी हुई बाहुबली की छोटी-सी सेना ने सम्राट् की विशाल सेना को भागने के लिए विवश कर दिया । सम्राट् की सेना ने फिर पूरी तैयारी के साथ आक्रमण किया । दुबारा भी मुह की खानी पडी । लम्बे समय तक आक्रमण और बचाव की लडाइया होती रही । आखिर दोनो भाई सामने आ खडे हुए । तादात्म्य आखो पर छा गया । सकोच के घेरे मे दोनो ने अपने आपको छिपाना चाहा, किन्तु दोनो विवश थे । एक के सामने साम्राज्य के सम्मान का प्रश्न था, दूसरे के सामने स्वाभिमान का । वे विनय और वात्सल्य की मर्यादा को जानते हुए भी रणभूमि मे उतर आए । दृष्टि-युद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि पाच प्रकार के युद्ध होने निश्चित हुए । उन सब मे सम्राट् पराजित हुआ । विजयी हुआ बाहुबली । भरत को छोटे भाई से पराजित होना बहुत चुभा । वह आवेग को रोक न सका । मर्यादा को तोड बाहुबली पर चक्र का प्रयोग कर डाला । इस अप्रत्याशित घटना से बाहुबली का खून उबल गया । प्रेम का स्रोत एक साथ ही सूख गया । बचाव की भावना से विहीन हाथ उठा तो सारे सन्न रह गए । भूमि और आकाश बाहुबली की बिरुदावलियो से गूज उठे । भरत अपने अविचारित प्रयोग से लज्जित हो सिर झुकाए खडा रहा । सारे लोग भरत की भूल को भुला देने की प्रार्थना मे लग गये ।

एक साथ लाखो कण्ठो से एक ही स्वर गूजा—'महान् पिता के पुत्र भी महान् होते है । सम्राट् ने अनुचित किया, पर छोटे भाई के हाथ से बडे भाई की हत्या और अधिक अनुचित कार्य होगा । महान् ही क्षमा कर सकता है । क्षमा करने वाला कभी छोटा नही होता । महान् पिता के महान् पुत्र ! हमे क्षमा कीजिए, हमारे सम्राट् को क्षमा कीजिए ।' इन लाखो कण्ठो की विनम्र स्वर-लहरियो ने बाहुबली के शौर्य को मार्गान्तरित कर दिया । बाहु-बली ने अपने आपको सम्हाला । महान् पिता की स्मृति ने वेग का प्रवाह

किया। उठा हुआ हाथ विफल नही लौटता। उसका प्रहार भरत पर नही हुआ। वह अपने सिर पर लगा। सिर के बाल नोच डाले और अपने पिता के पथ की ओर चल पडा।

बाहुबली के पैर आगे नही बढे। वे पिता की शरण मे चले गए, पर उनके पास नही गए। अहकार अब भी बच रहा था। पूर्व-दीक्षित छोटे भाइयो को नमस्कार करने की बात आते ही उनके पैर रुक गये। वे एक वर्ष तक ध्यान-मुद्रा मे खडे रहे। विजय और पराजय की रेखाए अनगिनत होती है। असतोष पर विजय पाने वाले बाहुबली अह मे पराजित हो गए। उनका त्याग और क्षमा उन्हे आत्म-दर्शन की ओर ले गए। उनके अह ने उन्हे पीछे ढकेल दिया। बहुत लम्बी ध्यान-मुद्रा के उपरान्त भी आगे नही बढ सके।

'ये पैर रुक क्यो रहे है? सरिता का प्रवाह रुक क्यो रहा है?' ये शब्द बाहुबली के कानो को बीध हृदय को पार कर गए। बाहुबली ने आखे खोली। देखा, ब्राह्मी और सुन्दरी सामने खडी है। बहना की विनम्र-मुद्रा को देख उनकी आखे झुक गई।

'अवस्था से छोटे-बडे की मान्यता एक व्यवहार है। वह सार्वभौम सत्य नही है। ये मेरे पैर गणित के छोटे-से प्रश्न मे उलझ गए। छोटे भाइयो को नमस्कार कैसे करू—इस तुच्छ चिन्तन मे मेरा महान् साध्य विलीन हो गया। अवस्था लौकिक मानदण्ड है। लोकोत्तर जगत् मे छुटपन और बडप्पन के मानदण्ड बदल जाते है। वे भाई मुझसे छोटे नही है, उनका चरित्र विशाल है। मेरे अह ने मुझे छोटा बना दिया। अब मुझे अविलम्ब भगवान् के पास चलना चाहिए।'

पैर उठे कि बन्धन टूट पडे। नम्रता के उत्कर्ष मे समता का प्रवाह बह चला। बाहुबली केवली बन गए। सत्य का साक्षात् ही नही हुआ, वे स्वय सत्य बन गए। शिव अब उनका आराध्य नही रहा, वे स्वय शिव बन गए। आनन्द अब उनके लिए प्राप्य नही रहा, वे स्वय आनन्द बन गए।

भरत का अनासक्त योग

भरत अब असहाय जैसा हो गया। भाई जैसा शब्द उसके लिए अर्थ-वान् न रहा। वह सम्राट् बना रहा, किन्तु उसका हृदय अब साम्राज्यवादी नही रहा। पदार्थ मिलते रहे, पर आसक्ति नही रही। वह उदासीन भाव से राज्य-सचालन करता लगा।

भगवान् अयोध्या आए। प्रवचन हुआ। एक प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा। 'भरत मोक्ष-गामी है।' एक सदस्य भगवान् पर बिगड गया और उन पर पुत्र के पक्षपात का आरोप लगाया। भरत ने उसे फासी

की सजा सुना दी। वह घबरा गया। भरत के पैरो मे गिर पडा और अपराध के लिए क्षमा मागी। भरत ने कहा—'तेल भरा कटोरा लिए सारे नगर मे घूम आओ। तेल की एक बूद नीचे न डालो, तो तुम छूट सकते हो। दूसरा कोई विकल्प नही है।'

अभियुक्त ने वैसा ही किया। वह बडी सावधानी से नगर मे घूम आया और सम्राट् के सामने प्रस्तुत हुआ।

सम्राट् ने पूछा—नगर मे घूम आये ?

'जी, हा।' अभियुक्त ने सफलता के भाव से कहा।

सम्राट्—नगर मे कुछ देखा तुमने ?

अभियुक्त—नही, सम्राट् ! कुछ नही देखा।

सम्राट—कई नाटक देखे होगे ?

अभियुक्त—जी नही ! मौत के सिवा कुछ भी नही देखा।

सम्राट्—कुछ गीत तो सुने होगे ?

अभियुक्त—सम्राट् की साक्षी से कहता हू, मौत की गुनगुनाहट के सिवा कुछ नही सुना।

सम्राट् —मौत का इतना डर ?

अभियुक्त—सम्राट् इसे क्या जाने ? यह मृत्युदण्ड पाने वाला ही समझ सकता है।

सम्राट्—क्या सम्राट् अमर रहेगा ? कभी नही। मौत के मुह से कोई नही बच सकता। तुम एक जीवन की मौत से डर गये। न तुमने नाटक देखे और न गीत सुने। मैं मौत की लम्बी परम्परा से परिचित हू। यह साम्राज्य मुझे नही लुभा सकता।

सम्राट् की करुणापूर्ण आखो ने अभियुक्त को अभय बना दिया। मृत्यु-दण्ड उसके लिए केवल शिक्षाप्रद था। सम्राट् की अमरत्व-निष्ठा ने उसे मौत से सदा के लिए उबार लिया।

श्रामण्य की ओर

सम्राट् भरत नहाने को थे। स्नानघर मे गये, अगूठी खोली। अगुली की शोभा घट गई। फिर उसे पहना, शोभा बढ गई। 'पर पदार्थ से शोभा बढती है, यह सौन्दर्य कृत्रिम है'—इस चिन्तन मे लगे और लगे सहज सौन्दर्य ढूढने। भावना का प्रवाह आगे बढा। कर्म-मल को धो डाला। क्षणो मे ही मुनि बने, न वेश बदला, न राजप्रासाद से बाहर निकले, किन्तु इनका आन्तरिक सयम इनसे बाहर निकल गया और वे पिता के पथ पर चल पडे।

४. दु:षम-सुषमा

ऋषभ के पश्चात् जैन धर्म के चौथे तीर्थंकर तक काल का तीसरा चरण समाप्त हुआ। काल का चौथा चरण दु:षम-सुषमा आया, जिसमें शेष बीस तीर्थंकर हुए।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि

जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि हुए। उस समय सोरियपुर नगर में अन्धक कुल के नेता समुद्रविजय राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम शिवा था। उसके चार पुत्र थे—अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि।

अरिष्टनेमि का जीव जब शिवारानी के गर्भ में आया तब माता ने चौदह स्वप्न देखे। श्रावण-कृष्णा पंचमी को रानी ने पुत्र-रत्न का प्रसव किया। स्वप्न में रिष्टरत्नमय नेमि देखे जाने के कारण पुत्र का नाम अरिष्टनेमि रखा।

अरिष्टनेमि युवा हुए। इन्द्रिय-विषयों की ओर उनका अनुराग नहीं था। वे विरक्त थे। पिता समुद्रविजय ने सोचा कि ऐसा उपक्रम किया जाये जिससे कि अरिष्टनेमि विषयों के प्रति आसक्त होकर गृहस्थ जीवन जीये। अनेक प्रयत्न किये। अनेक प्रलोभन दिए गए। पर वे अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुए। कुछ समय बीता। अन्त में कृष्ण के समझाने पर वे विवाह करने के लिए राजी हो गए।

भोज कुल के राजन्य उग्रसेन की पुत्री राजीमती के साथ उनका विवाह निश्चित हुआ। विवाह से पूर्व किए जाने वाले सारे रीति-रिवाज सम्पन्न हुए। विवाह का दिन आया। राजीमती अलंकृत हुई। कुमार अरिष्ट-नेमि भी अलंकृत होकर हाथी पर आरूढ़ हुए। मंगलदीप सजाए गए। बाजे बजने लगे। वर-यात्रा प्रारम्भ हुई। हजारों लोगों ने उसे देखा। वह विवाह-मण्डप की ओर धीरे-धीरे बढ़ रही थी। एक स्थान पर अरिष्टनेमि को करुण शब्द सुनाई दिए। उन्होंने महावत से पूछा—'ये शब्द कहां से आ रहे हैं ?' महावत ने कहा—'देव ! ये शब्द पशुओं की चीत्कार के हैं। वे आपके विवाह में सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों के लिए भोज्य बनेंगे। मरण-भय से वे आक्रन्दन कर रहे हैं।'

अरिष्टनेमि का मन खिन्न हो गया। उन्होंने कहा—'यह कैसा आनंद ! यह कैसा विवाह ! जहां हजारों मूक पशुओं का वध किया जाता है। यह तो संसार में परिभ्रमण का हेतु है। मैं इसमें क्यों पड़ूं !' उन्होंने हाथी को वहां से अपने निवास-स्थान की ओर मोड़ दिया। वे माता-पिता के पास गए और प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की। माता-पिता की आज्ञा प्राप्त

करके वे तीन दिन की तपस्या मे उज्जयत पर्वत पर सहस्राम्रवन मे श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन एक हज़ार व्यक्तियो के साथ प्रव्रजित हो गए।

उन्हें चोपन दिन के बाद आश्विन कृष्णा अमावस्या के दिन कैवल्य-प्राप्ति हो गई। वे केवली बने। वे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कर बाईसवें तीर्थङ्कर हो गए।

छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु घोर आंगिरस ऋषि थे।

जैन आगमो के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि थे। घोर आंगिरस ने श्रीकृष्ण को जिस धारणा का उपदेश दिया है, वह जैन परम्परा से भिन्न नही है। 'तू अक्षित-अक्षय है, अच्युत-अविनाशी है और प्राण-सशित—अतिसूक्ष्मप्राण है।' इस त्रयी को सुनकर श्रीकृष्ण अन्य विद्याओ के प्रति तृष्णाहीन हो गए। जैन दर्शन आत्मवाद की भित्ति पर अवस्थित है। घोर आंगिरस ने जो उपदेश दिया, उसका सबध आत्मवादी धारणा से है। 'इसीभासिय' मे आंगिरस नामक प्रत्येक-बुद्ध का उल्लेख है। वे भगवान्-अरिष्टनेमि के शासनकाल मे हुए थे। इस आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि घोर आंगिरस या तो अरिष्टनेमि के शिष्य या तो उनके विचारो से प्रभावित कोई सन्यासी रहे होंगे।

इस सबध मे उल्लेखनीय है कि श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि का पारिवारिक सबध था। अरिष्टनेमि समुद्रविजय के और श्रीकृष्ण वसुदेव के पुत्र थे। समुद्रविजय और वसुदेव सगे भाई थे। श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि के विवाह के लिए प्रयत्न किया। अरिष्टनेमि की दीक्षा के समय वे उपस्थित थे। राजीमती को भी दीक्षा के समय मे उन्होने भावुक शब्दो मे आशीर्वाद दिया।

कृष्ण के प्रिय अनुज गजसुकुमार ने अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली।

कृष्ण की आठ पत्निया अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित हुई। कृष्ण के पुत्र और अनेक पारिवारिक लोग अरिष्टनेमि के शिष्य बने। जैन साहित्य मे अरिष्टनेमि और कृष्ण के वार्तालापो, प्रश्नोत्तरो और विविध चर्चाओ के अनेक उल्लेख मिलते है।

वेदो मे कृष्ण के देव रूप की चर्चा नही है। छान्दोग्य-उपनिषद् मे भी कृष्ण के यथार्थ रूप का वर्णन है। पौराणिक काल मे कृष्ण का रूप-परिवर्तन होता है। वे सर्वशक्तिमान् देव बन जाते है। कृष्ण के यथार्थ-रूप का वर्णन जैन आगमो मे मिलता है। अरिष्टनेमि और उनकी वाणी से वे प्रभावित थे, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता।

उस समय सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना का आलोक समूचे भारत को आलोकित कर रहा था।

———

तीर्थंकर पार्श्व

तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्व हुए। उनका तीर्थ-प्रवर्तन भगवान् महावीर से २५० वर्ष पहले हुआ। भगवान् महावीर के समय तक उनकी परम्परा अविच्छिन्न थी। भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे। अहिंसा और सत्य की साधना को समाजव्यापी बनाने का श्रेय भगवान् पार्श्व को है। भगवान् पार्श्व अहिंसक परपरा के उन्नयन द्वारा बहुत लोकप्रिय हो गये थे। इसकी जानकारी हमे 'पुरिसादाणीय' [पुरुषादानीय] विशेषण के द्वारा मिलती है। भगवान् महावीर भगवान् पार्श्व के लिए इस विशेषण का सम्मानपूर्वक प्रयोग करते थे।

ये काशी नरेश अश्वसेन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम वामादेवी था। ये ३० वर्ष की अवस्था मे दीक्षित हुए। वर्षों तक साधना कर केवली बने। तीर्थ की स्थापना कर ऋषभ की शृखला मे तेईसवे तीर्थंकर हुए।

इनका जन्म ई० पू० ८७७ मे हुआ। इन्होने सौ वर्षों की आयु व्यतीत कर ई० पू० ७७७ मे सम्मेदशिखर [पारसनाथ पहाडी] पर परि-निर्वाण को प्राप्त किया। इनके १७८ वष पश्चात भगवान महावीर का जन्म हुआ। पार्श्व के समय मे चातुर्याम धर्म प्रवर्तित था।

एक बार राजकुमार पार्श्व गगा के किनारे घूमने निकले। वहा एक तापस पचाग्नि तप कर रहा था। चारो दिशाओ मे अग्नि जल रही थी। ऊपर से सूर्य का प्रचण्ड ताप आ रहा था। पार्श्व वहा आकर रुके। उन्हे जन्म से अवधिज्ञान [एक प्रकार का अतीन्द्रिय ज्ञान] प्राप्त था। उस दिव्य ज्ञान से उन्होने लक्कड मे जल रहे सर्प-युगल को जान लिया। उन्होने तापस से कहा—'यह क्या ? जल रहे इस लक्कड मे साप का एक जोडा है। वह जलकर भस्म हो जाएगा।' लक्कड को बाहर निकाला गया। साप का जोडा अधजला हो चुका था। उसे देखकर सब आश्चर्यचकित रह गए। राजकुमार पार्श्व ने उसे नमस्कार मन्त्र सुनाया। वह सर्प-युगल मर कर देव-रूप मे उत्पन्न हुआ। धरणेन्द्र-पद्मावती के नाम से वह युगल पार्श्वनाथ का परम उपासक बना।

पार्श्व का धर्म बिलकुल सीधा-सादा था। हिंसा, असत्य, स्तेय तथा परिग्रह इन चार बातो के त्याग करने का वे उपदेश देते थे। इतने प्राचीन काल मे अहिंसा को इतना सुसम्बद्ध रूप देने का यह पहला ही उदाहरण है।

पार्श्व मुनि ने एक और भी बात की। उन्होने अहिंसा को सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह—इन तीन नियमो के साथ जकड दिया। इस कारण पहले जो अहिंसा ऋषि मुनियो के आचरण तक ही सीमित थी और जनता के व्यवहार मे जिसका कोई स्थान न था, अब वह इन नियमो के सबध से सामा-जिक और व्यावहारिक हो गई।

पार्श्व मुनि ने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए उन्होने सघ बनाए। बौद्ध साहित्य मे इस बात का पता लगता है कि बुद्ध के समय जो सघ विद्यमान थे, उन सब म जैन साधु और साध्वियो का सघ सबसे बडा था।

पार्श्व के पहले ब्राह्मणो के बडे-बडे समूह थे, पर वे सिर्फ यज्ञ-याग का प्रचार करने के लिए ही थे। यज्ञ-याग का तिरस्कार कर उसका त्याग कर जगलो मे तपस्या करने वालो के सघ भी थे। तपस्या का एक अग समझकर ही वे अहिसा-धर्म का पालन करते थे, पर समाज मे उसका उपदेश नही देते थे। वे लोगो से बहुत कम मिलते-जुलते थे।

"बुद्ध के पहले यज्ञ-याग को धर्म मानने वाले ब्राह्मण थे और उसके बाद यज्ञ-याग से ऊबकर जगलो मे जाने वाले तपस्वी थे। बुद्ध के समय ऐसे ब्राह्मण और तपस्वी न थे, ऐसी बात नही है। पर इन दो प्रकार के दोषो को देखने वाले तीसरे प्रकार के सन्यासी भी थे और उन लोगो मे पार्श्व मुनि के शिष्यो को पहला स्थान देना चाहिए।"[1]

जैन परपरा के अनुसार चातुर्याम धर्म के प्रथम प्रवर्तक भगवान् अजितनाथ और अन्तिम प्रवर्तक भगवान् पार्श्व है। दूसरे तीर्थंकर से लेकर तेईसवे तीर्थकर तक चातुर्याम धर्म का उपदेश चला। केवल भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर ने पाच महाव्रत-धर्म का उपदेश दिया।

अभ्यास

१ मानवीय सभ्यता से पूर्व यौगलिक व्यवस्था का क्या स्वरूप था ?
२ क्या ऋषभ को मानवीय-सभ्यता का सस्थापक कहा जा सकता है ? क्यो ?
३ भरत-बाहुबली युद्ध का अपने शब्दो मे वर्णन करें।
४ भरत की अनासक्ति को कैसे प्रमाणित किया गया ?
५ तीर्थकर अरिष्टनेमि या पार्श्व का पूर्ण परिचय देते हुए बतायें कि जैन धर्म ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर से भी प्राचीन है।

---
१ [illegible] चातुर्याम धर्म — [illegible]

: २ :

भगवान् महावीर और उनकी शिक्षाएं

जन्म और परिवार

दुषम-सुषमा नामक काल-खण्ड पूरा होने मे ७४ वर्ष, ११ महीने, साढ़े सात दिन बाकी थे। ग्रीष्म ऋतु थी। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को मध्यरात्रि की वेला थी। उस समय भगवान् महावीर का जन्म हुआ। यह ईस्वी पूर्व ५९९ की बात है। विदेह में कुण्डपुर नामक एक नगर था। उसके दो भाग थे। उत्तर भाग का नाम क्षत्रिय कुण्डग्राम और दक्षिण भाग का नाम ब्राह्मण कुण्डग्राम था। भगवान् का जन्म दक्षिण कुण्डग्राम मे हुआ था।

भगवान् की माता त्रिशला और पिता सिद्धार्थ थे। वे भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रमणोपासक थे। वैशाली गणतंत्र के प्रमुख महाराज चेटक भगवान् के मामा थे। भगवान् के पिता सिद्धार्थ उस गणराज्य के एक सदस्य थे और क्षत्रियकुण्डग्राम के अधिपति थे। भगवान् महावीर वैशाली गणतंत्र के वातावरण मे पले-पुसे।

भगवान् के बड़े भाई का नाम नन्दिवर्धन था। उनका विवाह चेटक की पुत्री ज्येष्ठा के साथ हुआ था। भगवान् के काका का नाम सुपार्श्व और बड़ी बहन का नाम सुदर्शना था।

नाम और गोत्र

भगवान् जब त्रिशला के गर्भ मे आये, तब से सम्पदाए बढी, इसलिए माता-पिता ने उनका नाम वर्धमान रखा।

वे ज्ञात [नाग] नामक क्षत्रिय-कुल मे उत्पन्न हुए, इसलिए कुल के आधार पर उनका नाम नागपुत्र (नायपुत्त) हुआ।

साधना के दीर्घकाल मे उन्होने अनेक कष्टो का वीर-वृत्ति से सामना किया। अपने लक्ष्य से कभी भी विचलित नही हुए, इसलिए उनका नाम महावीर हुआ। यही नाम सबसे अधिक प्रचलित है।

सिद्धार्थ काश्यप गोत्रीय थे। पिता का गोत्र ही पुत्र का गोत्र होता है। इसलिए महावीर काश्यप गोत्रीय कहलाए।

यौवन और विवाह

बाल क्रीडा के बाद अध्ययन का समय आया। तीर्थंकर गर्भकाल से

अवधि-ज्ञानी (अतीन्द्रिय-ज्ञानी) होते हैं। महावीर भी अवधि-ज्ञानी थे। वे पढने के लिए गये। अध्यापक जो पढ़ाना चाहता था, वह उन्हें ज्ञात था। आखिर अध्यापक ने कहा—आप स्वय सिद्ध हैं। आपको पढने की आवश्यकता नही।

यौवन आया। महावीर का विवाह हुआ। वे सहज विरक्त थे। विवाह करने की उनकी इच्छा नही थी। पर माता-पिता के आग्रह से उन्होने विवाह किया।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर अविवाहित ही रहे। श्वेताम्बर-साहित्य के अनुसार उनका विवाह क्षत्रिय-कन्या यशोदा के साथ हुआ। उनके प्रियदर्शना नाम की एक कन्या हुई। उसका विवाह जमालि के साथ हुआ।

महावीर के एक शेषवती [दूसरा नाम यशस्वती] नाम की दौहित्री (धेवती) थी।

महाभिनिष्क्रमण

वे जब अट्ठाईस वर्ष के हुए, तब उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। उन्होने तत्काल श्रमण बनना चाहा पर नन्दिवर्धन के आग्रह से वैसा हो न सका। उन्होने महावीर से घर मे रहने का आग्रह किया। वे उसे टाल न सके। दो वर्ष तक फिर घर मे रहे। यह जीवन उनका एकात विरक्तिमय बीता। इस समय उन्होने कच्चा जल पीना छोड दिया, रात्रि-भोज नही किया और ब्रह्मचारी रहे।

तीस वर्ष की अवस्था मे उनका अभिनिष्क्रमण हुआ।

उन्होने बारह वर्ष तक ध्यान-साधना की तथा शात, मौन और दीर्घ तपस्वी जीवन बिताया।

साधना और सिद्धि

साधना के लिए एकातवास और मौन—ये आवश्यक है। जो पहले अपने को न साधे, वह दूसरो का हित नही साध सकता। स्वय अपूर्ण, पूर्णता का मार्ग नही दिखा सकता।

भगवान् गृहस्थो से मिलना-जुलना छोड ध्यान करते, पूछने पर भी नही बोलते। कई आदमी भगवान् को मारते-पीटते, किन्तु उन्हे भी वे कुछ नही कहते। भगवान् वैसी कठोरचर्या मे रम रहे थे जो सबके लिए सुलभ नही है।

भगवान् असह्य कष्टो को सहते। कठोरतम कष्टो की वे परवाह नही करते। व्यवहार दृष्टि से उनका जीवन नीरस था। वे नृत्य और गीतो से जरा भी नही ललचाते। भगवान् ने विजातीय तत्त्वो [पुद्गल-आसक्ति] को

न शरण दी और न उनकी शरण ली। वे निरपेक्ष भाव से जीते रहे।

भगवान् श्रमण बनने से दो वर्ष पहले ही अपेक्षाओं को ठुकराने लगे। सजीव पानी पीना छोड़ दिया, अपना अकेलापन देखने लग गए, क्रोध, मान, माया और लोभ की ज्वाला को शांत कर डाला। सम्यक्-दर्शन का रूप निखर उठा। पौद्गलिक आस्थाएं हिल गईं।

भगवान् ने मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और चर जीवों का अस्तित्व जाना। उन्हें सजीव मान वे उनकी हिंसा से विलग हो गये।

भगवान् ने संसार के उत्पादन को ढूंढ निकाला। उसके अनुसार उपाधि—परिग्रह से बन्धे हुए जीव ही कर्म-बद्ध होते हैं। कर्म ही संसार-भ्रमण का हेतु है। वे कर्मों के स्वरूप को जान उनसे अलग हो गये। भगवान ने स्वयं अहिंसा को जीवन में उतारा। दूसरों को उनका मार्गदर्शन दिया।

अहिंसा और ब्रह्मचर्य—ये दोनों साधना के आधारभूत तत्त्व हैं। अहिंसा अवैर-साधना है। ब्रह्मचर्य जीवन की पवित्रता है। अवैर भाव के बिना आत्म-साम्य की अनुभूति और पवित्रता के बिना विकास का मार्गदर्शन नहीं हो सकता।

भगवान् अपने लिए बनाया हुआ भोजन नहीं लेते। वे शुद्ध भिक्षा के द्वारा अपना जीवन चलाते। आहार का विवेक करना अहिंसा और ब्रह्मचर्य—इन दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। जीव-हिंसा का हेतुभूत आहार जैसे सदोष होता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य में बाधा डालने वाला आहार भी सदोष है। आहार की मीमांसा में अहिंसा-विशुद्धि के बाद ब्रह्मचर्य की विशुद्धि की ओर ध्यान देना सहज प्राप्त होता है।

भगवान् की दृष्टि-संयम अनुत्तर था। वे चलते-चलते इधर-उधर नहीं देखते, पीछे नहीं देखते, बुलाने पर नहीं बोलते, सिर्फ मार्ग को देखते हुए चलते।

भगवान् प्रकृति-विजेता थे। वे सर्दी में नंगे बदन घूमते। सर्दी से डरे बिना हाथों को फैला कर चलते। भगवान् अप्रतिबद्ध-विहारी थे, परिव्राजक थे। भगवान् बारह वर्ष और साढ़े छह मास तक कठोर चर्या का पालन करते हुए आत्म-समाधि में लीन रहे।

ध्यान करने के लिए समाधि [आत्म-लीनता या चित्त स्वास्थ्य], यतना और जागरूकता— ये सहज अपेक्षित हैं। भगवान् ने आत्मिक वातावरण को ध्यान अनुकूल बना लिया। बाहरी वातावरण पर विजय पाना व्यक्ति के सामर्थ्य की बात है, उसे बदलना उसके सामर्थ्य से परे भी हो सकता है। आत्मिक वातावरण बदला जा सकता है। भगवान ने इस सामर्थ्य का पूरा उपयोग किया। [illegible] ने नींद पर [illegible]

अधिक भाग खडे रहकर ध्यान मे बिताते । विश्राम के लिए थोडे समय लेटते, तब भी नीद नही लेते । जब कभी नीद सताने लगती तो भगवान् फिर खडे होकर ध्यान मे लग जाते । कभी-कभी तो सर्दी की रातो मे घड़ियो तक बाहर रहकर नीद टालने के लिए ध्यानमग्न हो जाते ।

भगवान् ने पूरे साधना-काल मे सिर्फ एक मुहूर्त्त तक नीद ली । शेष सारा समय ध्यान और आत्म-जागरण मे बीता ।

भगवान् तितिक्षा की परीक्षा-भूमि थे । चडकौशिक साप ने उन्हें काट खाया । और भी साप, नेवले आदि सरीसृप जात के जन्तु उन्हें सताते । पक्षियो ने उन्हे नोचा ।

भगवान् को मौन और शून्यगृह-वास के कारण अनेक कष्ट झेलने पडे । ग्राम-रक्षक राजपुरुष और दुष्कर्मा व्यक्तियो का कोपभाजन बनना पडा । उन्होने कुछ प्रसगो पर भगवान् को सताया, यातना देने का प्रयत्न किया । भगवान् अबहुवादी थे । वे प्राय मौन रहते । स्व-धम मानते हुए सब कुछ सह लेते । वे अपनी समाधि (मानसिक सतुलन या स्वास्थ्य)को भी नही खोते ।

अरति (सयम मे उत्साह) और रति (असयम मे उत्साह)—दोनो साधना के बाधक हैं । भगवान् महावीर इन दोनो को पचा लेते थे । वे मध्यस्थ भाव से तृण-स्पर्श को सहते । तिनको के आसन पर नगे बदन बैठते, लेटने और नगे पैर चलते तब व चुभते । मध्यस्थ वही होता है, जो अरति और रति की ओर न झुके ।

भगवान् ने शीत-स्पर्श सहा । भगवान् ने आतापनाए ली । सूर्य के सम्मुख होकर ताप सहा । वस्त्र न पहनने के कारण मच्छर और क्षुद्र जन्तु काटते, वे समभाव से सब सह लेते ।

भगवान् ने साधना की कसौटी चाही । वे वैसे जनपदो मे गए, जहा के लोग निर्ग्रंथ साधुओ से परिचित नही थे । वहा भगवान् ने स्थान और आसन सम्बन्धी कष्टो को हसते-हसते सहा । वहा के लोग रूक्ष-भोजी थे, इसलिए उनमे क्रोध की मात्रा अधिक थी । उसका फल भगवान् को भी सहना पडा । भगवान् वहा के लिए पूर्णतया अपरिचित थे, इसलिए कुत्ते भी उन्हे एक ओर से दूसरी ओर सुविधापूर्वक नही जाने देते । बहुत सारे कुत्ते भगवान् को घेर लेते । तब कुछेक व्यक्ति ऐसे थे, जो उनको हटाते । बहुत से लोग ऐसे थे, जो कुत्तो को भगवान् को काटने के लिए प्रेरित करते । वहा जो दूसरे श्रमण थे वे लाठी रखते, फिर भी कुत्तो के उपद्रव से मुक्त नही थे । भगवान् के पास अपने बचाव का कोई साधन नही था, फिर भी वे शातभाव से वहा घूमते रहे ।

भगवान् का सयम अनुत्तर था । वे स्वस्थ दशा मे भी कम खाते । रोग

होने पर भी वे औषध नहीं लेते । अन्न-जल के बिना दो दिन, पक्ष, मास, छह मास बिताए । उत्कटुक, गोदोहिका आदि आसन किए, ध्यान किया, कषाय को जीता, आसक्ति को जीता, यह सब निरपेक्षभाव से किया । भगवान् ने मोह को जीता, इसलिए वे 'जिन' कहलाए । भगवान् की अप्रमत्त साधना सफल हुई ।

ग्रीष्म ऋतु का वैशाख महीना था । शुक्ल दशमी का दिन था । छाया पूर्व की ओर ढल चुकी थी । पिछले पहर का समय, विजय मुहूर्त और उत्तरा-फाल्गुनी का योग था । उस बेला मे भगवान् महावीर जभियग्राम नगर के बाहर ऋजुबालिका नदी के उत्तर किनारे श्यामाक गाथापति की कृषि-भूमि मे व्यावर्त नामक चैत्य के निकट शालवृक्ष के नीचे 'गोदोहिका' आसन मे बैठे हुए ईशानकोण की ओर मुह कर सूर्य का आतप ले रहे थे ।

दो दिन का निर्जल उपवास था । भगवान् शुक्ल ध्यान मे लीन थे । ध्यान का उत्कर्ष बढ़ा । क्षपक श्रेणी ली । भगवान् उत्क्रात बन गए । उत्क्राति के कुछ ही क्षणों मे वे आत्म-विकास की आठवी, नवी और दसवीं भूमिका को पार कर गए । बारहवीं भूमिका मे पहुचते ही उनके मोह का बन्धन भी पूर्णत टूट गया । वे वीतराग बन गए । तेरहवीं भूमिका का प्रवेश-द्वार खुला । वहां ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के बन्धन भी पूर्णत टूट गए । भगवान् अब अनन्त-ज्ञानी, अनन्त-दर्शनी, अनन्त-आनन्दमय और अनन्त-वीर्यवान् बन गए । अब वे सर्व लोक के, सर्व जीवो के सर्वभाव जानने-देखने लगे । उनका साधना-काल समाप्त हो गया । अब वे सिद्धि-काल की मर्यादा मे पहुच गए, तेरहवें वर्ष के सातवें महीने मे केवली बन गए ।

धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन

भगवान् जभियग्राम नगर से विहार कर मध्यम पावापुरी पधारे । वहा सोमिल नामक ब्राह्मण ने एक विराट् यज्ञ का आयोजन कर रखा था । उस अनुष्ठान की पूर्ति के लिए वहां इन्द्रभूति प्रमुख ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण आये हुए थे ।

भगवान् की जानकारी पा उनमे पाडित्य का भाव जागा । इन्द्रभूति उठे । भगवान् को पराजित करने के लिए वे अपनी शिष्य-सम्पदा के साथ भगवान् के समवसरण मे आए । उन्हे जीव के बारे मे सन्देह था । भगवान् ने उ[illegible] गूढ प्रश्न को स्वय सामने ला रखा । इन्द्रभूति सहम गए । उन्हें स[illegible] [illegible]न्न अपने विचार के प्रकाशन पर अचरज हुआ । उनकी अन्तर्-[illegible] भगवान् के चरणो मे झुक गई । भगवान् ने उनका सन्देह-निवर्तन [illegible] वे उठे, नमस्कार किया और श्रद्धापूर्वक भगवान् के शिष्य बन गए । [illegible] उन्हे छह जीव-निकाय, पांच महाव्रत और पचीस भावनाओ का [illegible] दिया ।

इन्द्रभूति गौतमगोत्री थे। जैन-साहित्य मे इनका सुविश्रुत नाम गौतम है। भगवान् के साथ इनके सवाद और प्रश्नोत्तर इसी नाम से उपलब्ध होते हैं। ये भगवान् के पहले गणधर और ज्येष्ठ शिष्य बने।

इन्द्रभूति की घटना सुन दूसरे पण्डितो का क्रम बन्ध गया। एक-एक कर वे सब आए और भगवान् के शिष्य बन गए। उन सबके एक-एक सदेह था—

१ इन्द्रभूति—जीव है या नहीं ?
२ अग्निभूति—कर्म है या नहीं ?
३ वायुभूति—शरीर आदि जीव एक है या भिन्न ?
४ व्यक्त—पृथ्वी आदि भूत हैं या नहीं ?
५ सुधर्मा—यहा जो जैसा है वह परलोक मे भी वैसा होता है या नही ?
६ मण्डितपुत्र—बन्ध-मोक्ष है या नही ?
७ मौर्यपुत्र—देव हैं या नहीं ?
८ अकम्पित—नरक है या नहीं ?
९ अचलभ्राता—पुण्य ही मात्रा-भेद से सुख-दु ख का कारण बनता है या पाप उससे पृथक् है ?
१० मेतार्य—आत्मा होने पर भी परलोक है या नही ?
११ प्रभास—मोक्ष है या नही ?

भगवान् उनके प्रच्छन्न संदेहो को प्रकाश मे लाते गए और वे उनका समाधान पा अपने को समर्पित करते गए। इस प्रकार पहले प्रवचन मे ही भगवान् की शिष्य-सम्पदा समृद्ध हो गई—४४०० शिष्य बन गए।

भगवान् ने इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वान् शिष्यो को गणधर-पद पर नियुक्त किया और अब भगवान् का तीर्थ विस्तार पाने लगा। स्त्रियो ने प्रव्रज्या ली। साध्वी-सघ का नेतृत्व चन्दनबाला को सौंपा। आगे चलकर १४ हजार साधु और ३६ हजार साध्वियां हुई।

स्त्रियो को साध्वी होने का अधिकार देना भगवान् महावीर का विशिष्ट मनोबल था। इस समय दूसरे धर्म के आचार्य ऐसा करने मे हिचकते थे। पुरुषो को जितने आध्यात्मिक अधिकार मिलते हैं, उतने ही स्त्रियों को भी अधिकार हो सकते हैं। इन आध्यात्मिक अधिकारो मे महावीर ने कोई भेद-बुद्धि नही रखी, जिसके परिणामस्वरूप उनके शिष्यो मे जितने श्रमण थे, उनसे ज्यादा श्रमणिया थी। वह प्रथा आज तक जैन धर्म में चली आयी है।

भगवान् ने गृहस्थो को धर्म का उपदेश दिया। उसे स्वीकार करने वाले पुरुष और स्त्रिया, उपासक और उपासिकाए या श्रावक और श्राविकाए

कहलाए। भगवान् के आनन्द आदि दस प्रमुख श्रावक थे। ये बारह-व्रती थे। इनकी जीवनचर्या का वर्णन करने वाला एक अग-ग्रन्थ 'उपासकदशा' है। जयन्ती आदि श्राविकाए थी, जिनके प्रौढ तत्त्व-ज्ञान की सूचना भगवती सूत्र से मिलती है। धर्म-आराधना के लिए भगवान् का तीर्थ सचमुच तीर्थ बन गया। भगवान् ने तीर्थ-चतुष्टय (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) की स्थापना की, इसलिए वे तीर्थंकर कहलाए।

संघ-व्यवस्था

सभी तीर्थंकरो की भाषा मे धर्म का मौलिक रूप एक रहा है। धर्म का साध्य मुक्ति है, उसका साधन द्विरूप नही हो सकता। उसमे मात्रा-भेद हो सकता है, किन्तु स्वरूप-भेद नही हो सकता।

जैन मनीषियो का चिन्तन साधना के पक्ष मे जितना वैयक्तिक है, उतना ही साधना-सम्थान के पक्ष मे सामुदायिक है। जैन तीर्थकरो ने धर्म को एक ओर वैयक्तिक कहा, दूसरी ओर तीर्थ का प्रवर्तन किया—श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविकाओ के सघ की स्थापना की।

भगवान् ने श्रमण-सघ की बहुत ही सुदृढ व्यवस्था की। अनुशासन की दृष्टि से भगवान् का सघ सर्वोपरि था। पाच महाव्रत और अणुव्रत—ये मूलगुण थे। इनके अतिरिक्त उत्तर गुणो की व्यवस्था की। विनय, अनुशासन और आत्म-विजय पर अधिक बल दिया। व्यवस्था की दृष्टि से श्रमण-सघ को ग्यारह या नौ भागो मे विभक्त किया गया। पहले सात गणधर सात गुणो के और आठवें-नौवें तथा दसवें-ग्यारहवे क्रमश आठवें और नौवें गण के प्रमुख थे।

मुनि की दिनचर्या

अपर रात्रि मे उठकर आत्मालोचन व धर्म-जागरिका करना—यह चर्या का पहला अग है। स्वाध्याय, ध्यान आदि के पश्चात् आवश्यक कर्म करना। आवश्यक—अवश्य करणीय कर्म छह हैं

१ **सामायिक**—समभाव का अभ्यास, उसकी प्रतिज्ञा का पुनरावर्तन।

२ **चतुर्विंशतिस्तव**—चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति।

३ **वन्दना**—आचार्य को द्वादशावर्त्त-वन्दना।

४ **प्रतिक्रमण**—कृत दोषो की आलोचना।

५ **कायोत्सर्ग**—काया का स्थिरीकरण।

६ **प्रत्याख्यान**—त्याग करना।

इसमे निवृत्त होकर सूर्योदय होते-होते मुनि भण्ड-उपकरणो का प्रतिलेखन करे, उन्हें देखे। उसके पश्चात् हाथ जोडकर गुरु से पूछे—मैं क्या करू ?

आप मुझे आज्ञा दें—मैं किसी की सेवा मे लगू या स्वाध्याय मे ? यह पूछने पर आचार्य सेवा मे लगाए तो ग्लानि-रहित भाव से सेवा करे और यदि स्वाध्याय मे लगाए तो स्वाध्याय करे। दिनचर्या के प्रमुख अग हैं—स्वाध्याय और ध्यान। कहा है :

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात् स्वाध्यायामामनेत्।
ध्यान-स्वाध्याय-सपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

—स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान करे और ध्यान के पश्चात् स्वाध्याय। इस प्रकार ध्यान और स्वाध्याय के क्रम से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है।

श्रावक

धर्म की आराधना मे जैन साधु-साध्विया सघ के अग हैं, वैसे श्रावक-श्राविकाए भी हैं। ये चारो मिलकर ही चतुर्विध सघ को पूर्ण बनाते हैं। भगवान् ने श्राविक-श्राविकाओ को साधु-साध्वियो के माता-पिता तुल्य कहा है।

श्रावक की धार्मिक-चर्या यह है

१ सामायिक के अगो का अनुपालन करना।

२ दोनो पक्षो मे पौषधोपवास करना।

आवश्यक कर्म जैसे साधु-सघ के लिए है, वैसे ही श्रावक-सघ के लिए भी हैं।

श्रावक के गुण

अणुव्रतो का पालन करने वाला श्रद्धा-सपन्न व्यक्ति कहलाता है। उसके मुख्य गुण ये हैं—

१ ग्रहण किये हुए व्रतो का सम्यक् पालन करना।

२ जहा बहुश्रुत साधार्मिक लोग हो, उस स्थान मे आना-जाना।

३ बिना प्रयोजन दूसरो के घर न जाना।

४ चमकीला-भडकीला वस्त्र न पहनना। सदा सादगीमय जीवन बिताना।

५ जुआ आदि कुव्यसनो का त्याग करना।

६ मीठी वाणी से काम चलाना। कठोर वचन नही कहना।

७ तप, नियम, वन्दना आदि धार्मिक अनुष्ठानो मे सदा तत्पर रहना।

८ विनम्र रहना। कभी दुराग्रह नही करना।

९ जिनवाणी के प्रति अटूट श्रद्धावान् रहना।

१० ऋजु व्यवहार करना। मन की ऋजुता, वचन की ऋजुता और शरीर की ऋजुता रखना।

११ गुरु-वचन को सुनने के लिए तत्पर रहना।
१२ प्रवचन या शास्त्रो की प्रवीणता प्राप्त करना।

शिष्टाचार

शिष्टाचार के प्रति जैन आचार्य बडी सूक्ष्मता से ध्यान देते हैं। वे आशातना (शिष्टाचार का पालन न करना) को सर्वथा परिहार्य मानते हैं। किसी के प्रति अनुचित व्यवहार करना हिंसा है। आशातना हिंसा है। अभिमान भी हिंसा है।

श्रावक व्यवहार-दृष्टि से दूसरे श्रावको को भी नमस्कार करते हैं। धर्म-दृष्टि से उनके लिए वदनीय मुनि होते हैं।

यह आध्यात्मिक और त्याग-प्रधान सस्कृति का एक सक्षिप्त रूप है। इसका सामाजिक जीवन पर भी प्रतिबिम्ब पडा है।

भगवान् महावीर के समकालीन धर्म-सम्प्रदाय

भगवान् महावीर का युग धार्मिक मतवादो और कर्मकाण्डो से सकुल था। बौद्ध साहित्य के अनुसार उस समय तिरेसठ श्रमण-सम्प्रदाय विद्यमान थे। जैन साहित्य मे तीन सौ तिरसेठ धर्म-मतवादो का उल्लेख मिलता है। सक्षेप मे सारे सम्प्रदाय चार वर्गों मे समाते थे—

१. **क्रियावाद**—आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मवाद मे विश्वास रखने वाला।

२. **अक्रियावाद**—आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मवाद मे विश्वास न रखने वाला।

३ **विनयवाद**—अह-विसर्जन/समर्पण को सर्वोपरि मूल्य देने वाला।

४ **अज्ञानवाद**—ज्ञान को दुख का मूल मानने वाला।

भगवान् महावीर ने चारो वादो की समीक्षा कर क्रियावाद का सिद्धात स्वीकार किया। उनका स्वीकार एकागी दृष्टि से नही था, इसलिए उनके दर्शन को सापेक्ष-क्रियावाद की सज्ञा दी जा सकती है।

कुछ विद्वानो का अभिमत है कि यज्ञ, जातिवाद आदि ब्राह्मण-सिद्धातो का विरोध करने के लिए महावीर ने जैन धर्म का प्रवर्तन किया। किन्तु यह सत्य नही है। महावीर जिस श्रमण-परम्परा मे दीक्षित हुए वह बहुत प्राचीन है। उसका अस्तित्व वेदो की रचना से पूर्ववर्ती है। वेदो मे स्थान-स्थान पर श्रमण-परम्परा की विचारधारा का उल्लेख मिलता है।

भगवान् महावीर का परिवार तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्व के धर्म का अनुगामी था। इन साक्ष्यो से यह प्रतिध्वनित नही होता कि महावीर ने ब्राह्मण-सिद्धातो का विरोध करने के लिए जैन धर्म का प्रवर्तन किया।

अहिंसा और मुक्ति—ये श्रमण-सस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं। महावीर

ने स्वयं द्वारा व्याख्यात अहिंसा की प्राचीन तीर्थंकरों द्वारा व्याख्यात अहिंसा के साथ एकता प्रतिपादित की है।

भगवान् महावीर जैन धर्म के प्रवर्तक नहीं, किंतु उन्नायक थे। उन्होंने प्राचीन परंपराओं को आगे बढ़ाया, अपने समसामयिक विचारों की परीक्षा की और उनके आलोक में अपने अभिमत जनता को समझाए। उनके विचारों का आलोचनापूर्वक विवेचन सूत्रकृतांग में मिलता है।

श्रमण-परम्परा प्राग्वैदिक है और भारतीय जीवन में आदिकाल से परिव्याप्त है। श्रमणों की अनेक धाराएं रही हैं। उनमें सबसे प्राचीन धारा भगवान् ऋषभ की और सबसे अर्वाचीन भगवान् बुद्ध की है। और सब मध्य-वर्ती हैं। वैदिक और पौराणिक दोनों साहित्य-विधाओं में भगवान् ऋषभ श्रमण धर्म के प्रवर्तक के रूप में उल्लिखित हुए हैं। भगवान् ऋषभ का धर्म विभिन्न युगों में विभिन्न नामों से अभिहित होता रहा। आदि में उसका नाम श्रमण-धर्म था। फिर अर्हत् धर्म हुआ। भगवान् महावीर के युग में उसे निर्ग्रन्थ धर्म कहा जाता था। बौद्ध साहित्य में भगवान् का उल्लेख 'निग्गठ नातपुत्ते' के नाम से हुआ। उनके निर्वाण की दूसरी शताब्दी में वह 'जैन धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भगवान् महावीर के अस्तित्व-काल में श्रमणों के चालीस से अधिक सम्प्रदाय थे। उनमें पांच बहुत प्रभावशाली थे

१ निर्ग्रंथ—महावीर का शासन।
२ शाक्य—बुद्ध का शासन।
३. आजीवक—मक्खली गोशालक का शासन।
४ गैरिक—तापस शासन।
५ परिव्राजक—सांख्य शासन।

बौद्ध-साहित्य में छह श्रमण-सम्प्रदायों, उनके आचार्यों तथा सिद्धांतों का उल्लेख मिलता है जिसमें एक थे—निग्गथ नातपुत्र (भगवान् महावीर)।

महावीर सिद्धांत

महावीर का पहला सिद्धांत था—समानता।

आत्मिक समानता की अनुभूति के बिना अहिंसा विफल हो जाती है। गणराज्य की विफलता का मूल हेतु है—विषमता।

महावीर का दूसरा सिद्धांत था—आत्म-निर्णय का अधिकार।

हमारे भाग्य का निर्णय किसी दूसरी सत्ता के हाथ में हो, वह हमारी सार्वभौम सत्ता के प्रतिकूल है—यह उन्होंने बताया। उन्होंने कहा—"दु:ख और सुख दोनों तुम्हारी ही सृष्टि है। तुम्हीं अपने मित्र हो और तुम्हीं अपने शत्रु। यह निर्णय तुम्हीं को करना है, तुम क्या होना चाहते हो?" जनतंत्र के

लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धात है। जहा व्यक्ति को आत्म-निर्णय का अधिकार नही होता, वहा उसका कर्तृत्व कुठित हो जाता है। नव-निर्माण के लिए पुरुषार्थ और पुरुषार्थ के लिए आत्म-निर्णय का अधिकार आवश्यक है।

महावीर का तीसरा सिद्धात था—आत्मानुशासन।

उन्होने कहा—"दूसरो पर हुकूमत मत करो। हुकूमत करो अपने शरीर पर, अपनी वाणी पर और मन पर। आत्मा पर शासन करो, सयम के द्वारा, तपस्या के द्वारा। यह अच्छा नही होगा कि कोई व्यक्ति वध और बधन के द्वारा तुम्हारे पर शासन करे।"

जनतन्त्र की सफलता आत्मानुशासन पर निर्भर है। बाहरी नियत्रण जितना अधिक होता है, उतना ही जनतन्त्र निस्तेज होता है। उसकी तेजस्विता इस बात पर निर्भर है कि देशवासी लोग अधिक से अधिक आत्मानुशासित हो।

महावीर का चौथा सिद्धात था—सापेक्षता।

उसका अर्थ है—सबको समान अवसर। बिलौना करते समय एक हाथ पीछे जाता है और दूसरा आगे आता है, फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे जाता है। इस क्रम से नवनीत निकलता है। चलते समय एक पैर आगे बढता है, दूसरा पीछे। फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे आ जाता है। इस क्रम से गति होती है। आदमी आगे बढता है।

यह सापेक्षता ही स्याद्वाद का रहस्य है। इसी के द्वारा सत्य का ज्ञान और उसका निरूपण होता है। यह सिद्धात जनतत्र की रीढ है। कुछेक व्यक्ति सत्ता, अधिकारी और पद से चिपककर बैठ जाए, दूसरो को अवसर न दें, तो असतोष की ज्वाला भभक उठती है। यह सापेक्ष नीति गुटबन्दी को कम करने मे काफी काम कर सकती है। नीतिया भिन्न होने पर भी यदि सापेक्षता हो, तो अवाछनीय अलगाव नही होता।

महावीर ने जो किया, वह मुक्ति के लिए किया। उन्होने जो कहा, वह मुक्ति के लिए कहा। जनतत्र भी व्यावहारिक मुक्ति का प्रयोग है, इसलिए महावीर की करनी और कथनी दोनो मे पथदर्शन की क्षमता है।

मनुष्य की ईश्वरीय सत्ता का सगान

भगवान् महावीर का जन्म उस युग मे हुआ, जिसमे मनुष्य भाग्य के झूले मे झूल रहा था। भाग्य ईश्वरीय सत्ता का प्रतिनिधि तत्त्व है। जब मनुष्य ईश्वरीय सत्ता का यत्र बनकर जीता है, तब उसके जीवन-रथ का सारथी भाग्य ही होता है। भगवान् महावीर भाग्यवादी नही थे, इसका सहज फलित यह है कि वे चालू अर्थ मे ईश्वरवादी नही थे। वे गणतन्त्र के सस्कारों

मे पले-पुसे थे । वे किसी भी महासत्ता को अपनी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता सौंप देने के पक्ष मे नही थे । उनकी अहिंसा की व्याख्या मे अधिनायकवादी मनोवृत्ति के लिए कोई अवकाश नही था । भगवान् ने कहा—"दूसरो पर शासन करना हिंसा है, इसलिए किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण मत करो ।" जहां स्वतन्त्रता का अपहरण हो वहा ईश्वरीय तत्त्व नही हो सकता ।

भगवान् महावीर आत्मवादी थे । वे ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन करते थे, किन्तु मनुष्य से भिन्न उसकी सत्ता स्वीकार नही करते थे । मनुष्य ईश्वर की सृष्टि है, ईश्वर उसका सर्जक है, यह कृति और कर्त्ता का सिद्धात उन्हें स्वीकार्य नही था । उनकी स्थापना मे आत्मा की तीन कक्षाए हैं

१ **बहिर्-आत्मा**—यह पहली कक्षा है । इसमे देह ही सब कुछ होता है । उसमे विराजमान चिन्मय आत्मा का अस्तित्व ज्ञात नही होता ।

२. **अन्तर्-आत्मा**—यह दूसरी कक्षा है । इस कक्षा मे सत्य उद्घाटित हो जाता है कि जैसे दूध मे नवनीत व्याप्त होता है, वैसे ही देह मे चिन्मय सत्ता व्याप्त है ।

३ **परम-आत्मा**—यह तीसरी कक्षा है । इसमे चिन्मय सत्ता पर आई हुई देह-रूपी भस्म दूर होने लग जाती है । आत्मा परमात्मा के रूप मे प्रकट हो जाता है ।

आत्मा और परमात्मा मानवीय पुरुषार्थ की प्रक्रिया से वियुक्त नहीं है । भगवान् महावीर के दर्शन मे परमात्मा अस्वीकार नही है, उसकी विश्व-सृजनसत्ता का अस्वीकार है ।

भगवान् महावीर ने ईश्वरोपासना के स्थान मे श्रमणोपासना का प्रवर्तन किया । ईश्वर परोक्ष शक्ति है और वह अगम्य है । उसके प्रति जितना आकर्षण हो सकता है, उतना जीवित मनुष्य और गम्य व्यक्तित्व के प्रति नही हो सकता । भगवान् ने मनुष्य को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित किया और यह उद्घोष किया कि ईश्वर कोई कल्पनातीत सत्ता नही है । वह मनुष्य का ही चरम विकास है । जो मनुष्य विकास की उच्च कक्षा तक पहुच जाता है, वह परमात्मा या ईश्वर है ।

भगवान् महावीर ने परम-आत्मा की पाच कक्षाए निर्धारित की ।

१ अर्हत्—धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक ।

२ सिद्ध—मुक्त आत्मा ।

३ आचार्य—धर्म-तीर्थ के सचालक ।

४ उपाध्याय—धर्म-ज्ञान के सवाहक ।

५ साधु—धर्म के साधक ।

इनमे चार कक्षाओ के अधिकारी मनुष्य हैं और एक कक्षा के अधिकारी मुक्त आत्माए हैं । इनमे पहला स्थान मनुष्य का है, दूसरा स्थान

मुक्त आत्मा का है। मुक्त आत्मा मनुष्य-मुक्ति का हेतु नहीं है। उसकी मुक्ति के हेतु अर्हत् हैं। इसलिए नमस्कार महामन्त्र मे प्रथम स्थान उनको मिला।

जैन धर्म-दर्शन व्यक्ति-पूजा को मान्यता नही देता। वह गुण का पुजारी है। वह प्रत्येक व्यक्ति की अर्हताओ-योग्यताओ को मान्य कर उसकी पूजा करता है। इसका प्रत्यक्ष साक्ष्य है—नमस्कार महामन्त्र और चतु शरण सूत्र। इनमे किसी व्यक्ति-विशेष का नामोल्लेख नही है।

नमस्कार महामन्त्र

नमस्कार महामन्त्र मन्त्र-शृखला का विशिष्ट मन्त्र ही नही, महामन्त्र है और यह समस्त जैन परम्परा द्वारा एक रूप से मान्य है। इसमे पाच पद और पैंतीस अक्षर हैं।

णमो अरहताण—मैं अर्हत् [धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक] को नमस्कार करता हू।

णमो सिद्धाण—मैं सिद्ध [मुक्तात्मा] को नमस्कार करता हू।

णमो आयरियाण—मैं आचार्य [धर्म-तीर्थ के सचालक] को नमस्कार करता हू।

णमो उवज्झायाण—मैं उपाध्याय [श्रुतज्ञान के सवाहक] को नमस्कार करता हू।

णमो लोए सव्वसाहूण—मैं लोक के समस्त साधुओ को नमस्कार करता हू।

चतु.शरण सूत्र

अरहते सरण पवज्जामि—मैं अर्हत् की शरण स्वीकार करता हू।

सिद्धे सरण पवज्जामि—मैं सिद्ध की शरण स्वीकार करता हू।

साहू सरण पवज्जामि—मैं साधु की शरण स्वीकार करता हू।

केवलिपन्नत्त धम्म सरण पवज्जामि—मैं केवली-प्रज्ञप्त धर्म की शरण स्वीकार करता हू।

भगवान् महावीर ने श्रमणो को उपासना के साथ कोई कर्म-काड नही जोडा। उनकी भाषा मे उपासना का अर्थ है—पास बैठना। महावीर के अनुयायी श्रमणो के पास जाते और उनसे धर्म का ज्ञान प्राप्त करते। भगवान् ने श्रमणोपासना को बहुत महत्त्व दिया। उन्होने कहा—"श्रमण की उपासना करने वाला सुनता है, जानता है, हेय और उपादेय का विवेक करता है, नये ग्रथिपात से बचता है, पुरानी ग्रन्थियो का मोक्ष करता है और मुक्त हो जाता है।"

भगवान् महावीर मानवीय समस्या का मूल और उसका समाधान

मनुष्य में ही खोजते थे। महावीर का युग देववाद का युग था। कुछ दार्शनिक देवों को बहुत महत्त्व देते थे। पर महावीर ने मानवीय चेतना को दिव्य चेतना से कभी अभिभूत नहीं होने दिया। उनका ध्रुव सिद्धान्त था कि मनुष्य संयम कर सकता है, देव नहीं कर सकता।

इन्द्र ने अपने वैभव का प्रदर्शन कर दशार्णभद्र राजा को पराजित करना चाहा, तब भगवान् ने कहा—'दशार्णभद्र! तुम मनुष्य हो। अपनी शक्ति को जानने वाला मनुष्य देवगण से पराजित नहीं होता।' दशार्णभद्र राज्य को त्यागकर मुनि बन गए। इन्द्र त्याग के साथ स्पर्धा नहीं कर सका। उसका सिर राजर्षि के सामने झुक गया।

महावीर जब दीक्षित हुए, तब उनकी शिविका को उठाने मे सबसे आगे मनुष्य थे, देव नही। यह अग्रगामिता का अधिकार मनुष्यो को इसलिए प्राप्त था कि महावीर मनुष्य थे। महावीर ने अपना सारा जीवन इस व्याख्या मे बिताया कि ईश्वरीय सृष्टि का सर्जक मनुष्य है, पर मानवीय सृष्टि का सर्जक ईश्वर नही है।

धर्म की व्यापक धारणा

महावीर की धर्म की धारणा बहुत ही व्यापक थी। उसका कारण उनकी आस्था का अहिंसक परम्परा मे विकसित होना है। वैदिक परम्परा मे धर्म की स्वीकृति एक विशिष्ट वर्ग के लिए थी। उनके सामने महावीर ने श्रमण-परम्परा के शाश्वत स्वर को बहुत प्रभावी पद्धति से उच्चारित किया।

भगवान् ने सब मनुष्यो को अहिंसा के आचरण की प्रेरणा दी। उन्होने कहा—

१ धर्म की आराधना मे स्त्री-पुरुष का भेद नही हो सकता। फल-स्वरूप श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका—ये चार तीर्थ स्थापित हुए।

२ धर्म की आराधना मे जाति-पाति का भेद नही हो सकता। फल स्वरूप सभी जातियो के लोग उनके संघ मे प्रव्रजित हुए।

३ धर्म की आराधना मे क्षेत्र का भेद नही हो सकता। वह गाव मे भी की जा सकती है और अरण्य मे भी की जा सकती है। फलस्वरूप उनके साधु अरण्यवासी कम संख्या मे थे।

४ धर्म की आराधना मे वेश का भेद नही हो सकता। उसका अधिकार श्रमण को भी है, गृहस्थ को भी है।

भगवान् ने अपने श्रमणो से कहा—"धर्म का उपदेश जैसे पुण्यवान् को दो, वैसे ही तुच्छ को दो। जैसे तुच्छ को दो, वैसे ही पुण्यवान् को दो।

इस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असाम्प्रदायिकता और जातीयता का अभाव है।

महावीर तीर्थ के प्रवर्तक थे। तीर्थ एक सम्प्रदाय है। किन्तु उन्होने धर्म को सम्प्रदाय के साथ बाधा नही। उनकी दृष्टि मे जैन सम्प्रदाय की अपेक्षा जैनत्व प्रधान था। जैनत्व का अर्थ है—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की आराधना। इनकी आराधना करने वाला अन्य सम्प्रदाय के वेश मे भी मुक्त हो जाता है, गृहस्थ के वेश मे भी मुक्त हो जाता है।

सहज ही प्रश्न होता है—जैन-सस्कृति का स्वरूप इतना व्यापक और उदार था, तब वह लोक-सग्रह करने मे अधिक सफल क्यो नही हुई ?

इसके उत्तर मे पाच कारण प्रस्तुत होते है —

१ जैन दर्शन की सूक्ष्म सिद्धातवादिता।

२ तपोमार्ग की कठोरता।

३ अहिसा की सूक्ष्मता।

४ सामाजिक बन्धन का अभाव।

५ जैन साधु-सघ का प्रचार के प्रति उदासीन मनोभाव।

ये सारे तत्त्व लोक-सग्राहात्मक पक्ष को अशक्त करते रहे हैं।

तप और ध्यान का समन्वय

भगवान् महावीर का युग धर्म के प्रयोगो का युग था। उस समय हजारो वैदिक सन्यासी धर्म के विविध प्रयोगो मे सलग्न थे। कुछ श्रमण और सन्यासी कठोर तपश्चर्या कर रहे थे। कुछ श्रमण और सन्यासी ध्यान की उत्कृष्ट आराधना मे लीन थे। आत्मानुभूति के विभिन्न मार्गों की खोज चल रही थी।

भगवान् बुद्ध छह वर्ष तक कठोर तपश्चर्या करते रहे। उससे शाति नही मिली तब उन्होने ध्यान-मार्ग अपनाया। उससे उन्हे बोधि-लाभ हुआ। उन्होने मध्यम प्रतिपदा का प्रतिपादन किया, यह स्वाभाविक ही था।

भगवान् महावीर की दृष्टि हर क्षेत्र मे समन्वय की थी। उन्होने जीवन के हर क्षेत्र मे सापेक्षता का प्रयोग किया था। उन्होने अपनी साधना मे तपश्चर्या का पूर्ण बहिष्कार भी नही किया और ध्यान को आत्मानुभूति का एकमात्र साधन भी नही माना। उन्होने तपश्चर्या और ध्यान दोनो को मान्यता दी।

कुछ विद्वानो का मत है कि भगवान् महावीर की साधना-पद्धति बहुत कठोर है। यह सर्वथा निराधार नही है। उनकी साधना-पद्धति मे कठोर-चर्या के अश अवश्य हैं, किन्तु वे अनिवार्य नही हैं।

सबकी शक्ति और रुचि समान नही होती। कुछ लोगो मे तपस्या की रुचि और क्षमता होती है, किन्तु ध्यान की रुचि और क्षमता नही होती। कुछ

लोगो मे ध्यान की रुचि और क्षमता होती है, किन्तु तपस्या की रुचि और क्षमता नही होती। भगवान् महावीर ने अपनी साधना-पद्धति मे दोनो कोटि की रुचि और क्षमता का समावेश किया। ध्यान की कक्षा तपस्या की कक्षा से ऊची है। फिर भी तपस्या साधना के क्षेत्र मे सर्वथा मूल्यहीन नही है। भगवान् महावीर की साधना-पद्धति का वह महत्त्वपूर्ण अग है। उनकी तप की परिभाषा मे ध्यान भी सम्मिलित है।

भगवान् महावीर ने अज्ञानमय तप का प्रबल विरोध किया और ज्ञानमय तप का समर्थन। अहिंसा-पालन मे बाधा न आए, उतना तप सब साधको के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्ही के लिए है, जिनका दैहिक बल या विराग तीव्र हो। भगवान् महावीर ने धार्मिक जीवन की अनेक कक्षाए प्रतिपादित की। गृहवासी के लिए चार कक्षाए हैं—

१ **सुलभ बोधि**—यह प्रथम कक्षा है। इसमे न धर्म का ज्ञान होता है और न अभ्यास ही। केवल उसके प्रति अज्ञात अनुराग होता है। सुलभ-बोधि व्यक्ति निकट भविष्य मे धर्माचरण की योग्यता पा सकता है।

२ **सम्यग्-दृष्टि**—यह दूसरी कक्षा है। इसमे धर्म का अभ्यास नही होता किन्तु उसका ज्ञान होता है।

३ **अणुव्रती**—यह तीसरी कक्षा है। इसमे धर्म का ज्ञान और अभ्यास दोनो होते है।

४ **प्रतिमाधर**—यह चौथी कक्षा है। इसमे धर्म का विशेष अभ्यास होता है।

मुनि के लिए निम्न दो कक्षाए हैं—

१ **सघवासी मुनि**—यह पहली कक्षा है। इसमे अहिंसाचरण की प्रधानता है, तपस्या की प्रधानता नही है।

२ **एकलविहारी मुनि**—यह दूसरी कक्षा है। इसमे अहिंसाचरण के साथ-साथ तपस्या भी प्रधान होती है।

इन कक्षाओ मे मुनि के लिए दूसरी (एकल विहारी) कक्षा और गृहवासी के लिए चौथी (प्रतिमाधर) कक्षा मे कुछ कठोर साधना का अभ्यास होता है। शेष कक्षाओ की साधना का मार्ग ऋजु है।

भगवान् महावीर की साधना-पद्धति मे मृदु, मध्य और अधिक—तीनो मात्राओ का समन्वय है। मनुष्य भी मन्द, मध्य और प्राज्ञ—तीन कोटि के होते है। इन तीनो कोटियो को एक कोटि मे रखकर धर्म की व्याख्या करने की अपेक्षा विभिन्न कोटि के लोगो के लिए विभिन्न दृष्टिकोणो से धर्म की व्याख्या करना अधिक मनोवैज्ञानिक है।

संप्रदाय-विहीन धर्म

एक व्यक्ति ने आचार्यश्री तुलसी से पूछा—क्या भगवान् महावीर जैन थे ? आचार्यश्री ने कहा—नहीं वे जैन नही थे। वे जिन थे, उनको मानने वाले जैन होते है। वे जैन न होकर भी, दूसरे शब्दो मे अजैन होकर भी, महान् धार्मिक थे। इसका फलित स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति जैन होकर ही धार्मिक हो सकता है ऐसा अनुबंध नहीं है। जैन, वैष्णव, शैव, बौद्ध—ये सब नाम धर्म की परम्परा के सूचक हैं। इनकी धर्म के साथ व्याप्ति नही है। इसी सत्य की स्वीकृति का नाम असाम्प्रदायिक दृष्टि है।

साम्प्रदायिकता एक उन्माद है। उसके आक्रमण का ज्ञान तीन लक्षणो से होता है—१ सम्प्रदाय और मुक्ति का अनुबन्ध—मेरे सम्प्रदाय मे आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नहीं होगी। २ प्रशसा और निन्दा—अपने सम्प्रदाय की प्रशसा और दूसरे सम्प्रदायो की निंदा। ३ ऐकान्तिक आग्रह—दूसरों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न न करना।

भगवान् महावीर अहिंसा की गहराई मे पहुच चुके थे। इसलिए उन पर साम्प्रदायिक उन्माद आक्रमण नहीं कर सका। इसे उलटकर भी कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर पर साम्प्रदायिक उन्माद का आक्रमण नहीं हुआ, इसलिए वे अहिंसा की गहराई मे जा सके। आत्मौपम्य (सभी जीवो को अपनी आत्मा के समान समझना) की दृष्टि को विकसित किए बिना जो धर्म के मच पर आता है, उसके सामने धर्म गौण और सम्प्रदाय मुख्य होता है। आत्मौपम्य की दृष्टि को विकसित कर धर्म के मंच पर आने वाले व्यक्ति के सामने धर्म मुख्य और सम्प्रदाय गौण होता है। भगवान् महावीर ने सम्प्रदाय को मान्यता दी, पर मुख्यता नही दी। जो लोग सम्प्रदाय को मुख्यता दे रहे थे, उनके दृष्टिकोण को महावीर ने सारहीन बताया।

जो धर्म-नेता अपने उपस्थान में आने वाले के लिए ही मुक्ति का द्वार खोलते हैं और दूसरो के लिए उसे बन्द रखते हैं, वे महावीर की दृष्टि मे अहिंसक नहीं है। वे अपनी ही कल्पना के ताने-बाने मे उलझे हुए हैं।

भगवान् महावीर ने मोक्ष का अनुबंध किसी सम्प्रदाय के साथ नही माना, किन्तु धर्म के साथ माना। भगवान् 'अश्रुत्वा केवली' के सिद्धात की स्थापना कर असाम्प्रदायिक दृष्टि को चरम बिन्दु तक ले गए। 'अश्रुत्वा केवली' उस व्यक्ति का नाम है जिसने कभी धर्म नहीं सुना, किन्तु अपनी नैसर्गिक निर्मलता के कारण केवली की कक्षा तक पहुच गया। 'अश्रुत्वा केवली' के साथ किसी भी सम्प्रदाय, परम्परा या धर्माराधना की पद्धति का संबंध नही होता। उस सम्प्रदाय-मुक्त व्यक्ति को मोक्ष का अधिकारी मानकर महावीर ने धर्म की असाम्प्रदायिक सत्ता को मान्यता दे दी।

महावीर ने एक सिद्धांत की स्थापना और की। उसके अनुसार किसी

भी संप्रदाय में प्रव्रजित व्यक्ति मुक्त हो सकता है। इस स्थापना में सम्प्रदाय के बीच व्यवधान डालने वाली खाइयों को पाटने का प्रयत्न है। कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन दे सकता है, यदि वह व्यक्ति धर्म अनुप्राणित हो। कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन नहीं दे सकता, यदि वह व्यक्ति धर्म से अनुप्राणित न हो। मोक्ष को सम्प्रदाय की सीमा से मुक्त कर भगवान् महावीर ने धर्म की असाम्प्रदायिक सत्ता के सिद्धांत पर दोहरी मोहर लगा दी।

भगवान् महावीर मुनित्व के महान् प्रवर्तक थे। वे मोक्ष की साधना के लिए मुनि-जीवन बिताने को बहुत आवश्यक मानते थे। फिर भी उनकी प्रतिबद्धता का अन्तिम स्पर्श सचाई के साथ था, किसी नियम के साथ नहीं। भगवान् ने 'गृहलिंग-सिद्ध' की स्वीकृति दे क्या मोक्ष-सिद्धि के लिए मुनि-जीवन की एकछत्रता को चुनौती नहीं दी? घरवासी गृहस्थ भी किसी क्षण मुक्त हो सकता है, इसका अर्थ है कि धर्म की आराधना अमुक प्रकार के वेश या अमुक परम्परा की जीवन-प्रणाली को स्वीकार किए बिना भी हो सकती है। जीवन-व्यापी सत्य जीवन को कभी और कहीं भी आलोकित कर सकता है। इस सत्य को अनावृत कर भगवान् ने धर्म को आकाश की भांति व्यापक बना दिया। 'प्रत्येक-बुद्ध-सिद्ध' का सिद्धात भी सांप्रदायिक दृष्टि के प्रति मुक्त विद्रोह है। 'प्रत्येक-बुद्ध' किसी सम्प्रदाय से प्रभावित तथा किसी धर्म परम्परा से प्रतिबद्ध होकर प्रव्रजित नहीं होते। वे अपने ज्ञान से ही प्रबुद्ध होते हैं। भगवान् ने उनको उतनी ही मान्यता दी, जितनी अपनी परम्परा में प्रव्रजित होने वालो को प्राप्त थी।

जो लोग अपने धर्म की प्रशंसा और दूसरो की निंदा करते थे, उनके सामने महावीर ने कटु-सत्य प्रस्तुत किया। भगवान् ने कहा—'जो ऐसा करते हैं, वे धर्म के नाम पर अपने बंधन की शृंखला को और अधिक सुदृढ़ बना रहे हैं।'

भगवान् महावीर से पूछा गया—'भंते! शाश्वत धर्म कौन-सा है?'

भगवान् ने कहा—'किसी भी प्राणी को मत मारो, उपद्रुत मत करो, परितप्त मत करो, स्वतन्त्रता का अपहरण मत करो—यह शाश्वत धर्म है।'

भगवान् महावीर ने कभी नहीं कहा कि जैन धर्म शाश्वत है। तत्त्व शाश्वत हो सकता है, किन्तु नाम और रूप कभी शाश्वत नहीं होते।

भगवान् महावीर का युग धर्म के प्रभुत्व का -युग था। उस समय पचासो धर्मसम्प्रदाय थे। उनमे कुछ तो बहुत ही प्रभावशाली थे। कुछ शाश्वतवादी थे और कुछ अशाश्वतवादी। शाश्वतवादी अशाश्वतवादी सम्प्रदाय पर प्रहार करते थे और अशाश्वतवादी शाश्वतवादी धारा पर। इस पद्धति को महावीर ने साम्प्रदायिक अभिनिवेश की संज्ञा दी।

नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा

भगवान् महावीर का युग क्रियाकाडो का युग था। महाभारत की ध्वस-लीला का जनमानस पर अभी असर मिटा नही था। जनता त्राण की खोज मे भटक रही थी। अनेक दार्शनिक उसे परमात्मा की शरण मे ले जा रहे थे। समर्पण का सिद्धात बल पकड रहा था। श्रमण-परम्परा इसका विरोध कर रही थी। भगवान् पार्श्व के निर्वाण के बाद कोई शक्तिशाली नेता नही रहा, इसलिए उसका स्वर जनता का ध्यान आकृष्ट नही कर पा रहा था। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध ने उस स्वर को फिर शक्तिशाली बनाया।

भगवान् महावीर ने कहा—'पुरुष ! तेरा त्राण तू ही है। बाहर कहा त्राण ढूढ रहा है ? इस आत्मकर्तृत्व की वाणी ने भारतीय जनमानस मे फिर एक बार पुरुषार्थ की लौ प्रज्वलित कर दी। श्रमण-परम्परा ने ईश्वर-कर्तृत्व को मान्यता नही दी। इसलिए उसमे उपासना या भक्तिमार्ग का विकास नही हुआ। भगवान् महावीर के धार्मिक निरूपण म आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धात है। उसमे उपासना और भक्ति के सिद्धात नही हैं।

भगवान् महावीर की व्याख्या मे व्रत धार्मिक जीवन की आधारशिला (मूल गुण) है। धर्म का भव्य प्रासाद उसी के आधार पर खडा किया जा सकता है।

भगवान् महावीर ने मुनिधर्म के लिए पाच महाव्रतो तथा गृहवासी के लिए पाच अणुव्रतो की व्यवस्था दी।

पाच महाव्रत—अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

पाच अणुव्रत—एकदेशीय अहिसा, एकदेशीय सत्य, एकदेशीय अचौर्य, स्वदार-सतोष, इच्छा-परिमाण।

व्रतो के विस्तार मे भगवान् ने उस समय के अनैतिक आचरणो की ओर अगुली-निर्देश किया और उन्हे छोडने की प्रेरणा दी। भगवान् महावीर के अस्तित्वकाल मे उनका धर्म बहुत व्यापक नही बना। उनके श्रावको की सख्या लाखो मे ही सीमित थी।

भगवान् के निर्वाण के बाद उत्तरवर्ती आचार्यो ने उपासना और भक्तिमार्ग को भी स्थान दिया। उस अवधि मे जैन धर्म मे प्रतीको की पूजा-उपासना प्रचलित हुई। मत्र-जप का महत्त्व बढा। महावीर की आत्म-केन्द्रित साधना विस्तार-केन्द्रित हो गई। उस युग मे जन-साधारण जैन धर्म की ओर आकृष्ट हुआ और वह भारत के बहुत बडे भाग मे एक प्रभावी धर्म के रूप मे सामने आ गया।

भगवान् महावीर के अनुयायियो मे सामान्य निर्धन व्यक्ति से लेकर तत्कालीन जनपदो के बडे-बडे सम्राट् तक सम्मिलित हुए। उस युग मे शासक-सम्मत धर्म को अधिक महत्त्व मिलता था। इस दृष्टि से राजाओ का धर्म के

प्रति आकृष्ट होना उल्लेखनीय माना जाता था। ऐसे राजाओ मे मुख्य थे—मगध सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक और महारानी चिल्लणा (चेलणा), उनका पुत्र अजातशत्रु कूणिक, श्रेणिक का महामत्री अभयकुमार (जो श्रेणिक का ही पुत्र था), वैशाली गणतन्त्र का प्रमुख राजा चेटक, हस्तिनापुर का राजा शिव, सिन्धु-सौवीर का राजा उद्रायण आदि। राजपरिवार के लोग न केवल श्रावक-श्राविका के रूप मे व्रती बने अपितु बहु सख्या मे प्रव्रजित भी हुए। श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार, महामत्री अभयकुमार आदि की प्रव्रज्या त्याग के महत्त्व को भली-भाति उजागर करने वाली थी।

शाश्वत सत्यो की आराधना के साथ-साथ समाज के वर्तमान दोषो से बचने के लिए भी श्रावक प्रयत्नशील थे।

निर्वाण

भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए पावापुर पहुचे। राजा हस्तिपाल और उसकी प्रजा ने भगवान् को वदना की। भगवान् ने उन्हे निर्वाण का रहस्य समझाया। वे निर्वाण के सर्वाधिक शक्ति-सपन्न प्रवक्ता थे। प्रवचन के बाद भगवान् ने गौतम को बुलाकर कहा—'गौतम ! यहा से कुछ दूरी पर सोमशर्मा ब्राह्मण रहता है। वह तत्त्व का जिज्ञासु है। तुम्हारा उपदेश पाकर वह प्रतिबुद्ध होगा। तुम वहा जाओ और उसे प्रतिबुद्ध करो।'

गौतम भगवान् के वचन को शिरोधार्य कर सोमशर्मा को प्रतिबोध देने चले गए।

भगवान् दो दिन से उपवास कर रहे थे। जल भी नही ले रहे थे। उन्होने इन दिनो मे बहुत लम्बे प्रवचन किए। उनमे कर्मफल का विस्तार से विवेचन किया। अपना प्रवचन सम्पन्न कर भगवान् मौन हो गए। वे पद्मासन मे बैठे थे। उनका शरीर स्थिर और शांत हो गया। वे इस स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर से भी मुक्त हो गए। जन्म और मृत्यु की शृखला उनसे विच्छिन्न हो गई। ज्योति केवल ज्योति रह गई।

वि पू ४७० (ई पू ५२७) पावापुर मे कार्तिक कृष्णा अमावस्या के उषाकाल (चार घडी शेष रात्रि) मे भगवान् का निर्वाण हुआ। उस समय भगवान् के पास सुधर्मा आदि अनेक साधु थे। मल्ल और लिच्छवि गणराज्य के अठारह राजे भी वहा उपस्थित थे। उस अवसर पर उन्होने दीप जलाकर ज्योति से ज्योति की प्रशस्ति की।

भगवान् तीस वर्ष की अवस्था मे श्रमण बने, साढे बारह वर्ष तक तपस्वी जीवन बिताया और तीस वर्ष तक धर्मोपदेश दिया। भगवान् ने काशी, कोशल, पचाल, कलिग, कम्बोज, कुरु-जगाल, बाह्लीक, गाधार, सिन्धु-सौवीर आदि देशो मे विहार किया।

भगवान के चौदह हजार साधु और छत्तीस हजार साध्वियां बनीं। नन्दी सूत्र के अनुसार भगवान् के चौदह हजार साधु प्रकीर्णकार थे। इससे जान पड़ता है, सर्व साधुओं की सख्या और अधिक थी। १,५९,००० श्रावक और ३,१८,००० श्राविकाए थी,। यह व्रती श्रावक-श्राविकाओ की संख्या प्रतीत होती है। जैन धर्म का अनुगमन करने वालो की सख्या इससे अधिक थी, ऐसा सम्भव है।

भगवान् राजकुल मे जन्मे। वैभव मे पले-पुसे। जैसे युवा बने वैसे ही उनका समत्व-चक्षु विकसित हुआ। वे समता की साधना मे लगे। उसमे सिद्धि प्राप्त की। वे जनता के बीच रहे। उन्होने जनता को शाति, समता और अनेकात का मार्ग-दर्शन दिया। उनका दर्शन केवल व्यक्ति के लिए नही, समाज के लिए भी है। उनका धर्म केवल परलोक के लिए नही, वर्तमान लोक के लिए भी है। उनकी आधार-पद्धति से आन्तरिक समस्याए ही नहीं सुलझतीं, समाज-व्यवस्था की समस्याए भी सुलझती हैं। उनकी अहिंसा कायर की अहिंसा नही है, वह योद्धा की अहिंसा है, अभय और पराक्रम उसके साथ जुड़े हुए हैं। उनकी निवृत्ति अकर्मण्यता नहीं है, वह कर्म के परिष्कार की अजेय शक्ति और मानसिक शक्ति का महान् साधन है। आज भी उनकी वाणी मे विश्व-शाति के पथ-दर्शन की क्षमता है, इसलिए हम सब उनके प्रति प्रणत हैं।

अभ्यास

१ भगवान् महावीर का सक्षिप्त परिचय दें।

२ "भगवान् महावीर की साधना वस्तुत एक वीर पुरुष की साधना थी", इसे सिद्ध करे।

३ भगवान् महावीर द्वारा स्थापित धर्म-सघ का स्वरूप और उसकी व्यवस्था को विस्तार से समझाए।

४ भगवान् महावीर के युग की धार्मिक परिस्थितियो का वर्णन करें।

५ भगवान् महावीर के मुख्य सिद्धात कौन-कौन से थे?

६ भगवान् महावीर ने ईश्वर के स्थान पर मनुष्य को किस प्रकार प्रतिष्ठित किया?

७ भगवान् महावीर ने धर्म की व्यापक धारणा को किस रूप में प्रस्तुत किया था।

८ क्या सम्प्रदाय-विहीन धर्म भी हो सकता है? भगवान् महावीर के विचारो के आधार पर इसे स्पष्ट करे।

: ३ :

उत्तरकालीन परम्परा

गणधर गौतम

जिस समय भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उस समय उनके प्रमुख शिष्य प्रथम गणधर गौतम प्रतिबोध देने के लिए दूसरे गाव गए हुए थे। निर्वाण की सूचना मिलते ही वे शोक से विह्वल हो गए। चिन्तन की धारा मुडी और वे वही केवली हो गए। उनका मूल नाम इन्द्रभूति था। ये गोब्बर ग्रामवासी गौतम-गोत्रीय ब्राह्मण के पुत्र थे। वे पचास वर्ष की अवस्था मे प्रव्रजित हुए थे। तीस वर्ष तक वे भगवान् महावीर के साथ छद्मस्थ अवस्था में ग्रामानुग्राम विहार करते हुए धर्म का प्रचार करते रहे। जब केवली बने, तब उनकी अवस्था अस्सी वर्ष की थी। वे केवलज्ञानी के रूप मे भगवान् महावीर के बाद बारह वर्ष तक रहे और बानवे वर्ष की आयु समाप्त कर निर्वाण को प्राप्त हो गए।

गणधर सुधर्मा

दिगम्बर परम्परा का अभिमत है कि भगवान् महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी गौतम थे। श्वेताम्बर परम्परा का अभिमत है कि केवली कभी किसी परम्परा का वाहक नही होता। गौतम केवली हो चुके थे। सुधर्मा के अतिरिक्त शेष नौ गणधर भगवान् की उपस्थिति मे ही निर्वाण को प्राप्त हो गए थे। इसलिए सघ के सचालन का भार गणधर सुधर्मा पर आया और वे भगवान् महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी हुए। उनका जन्म ईसवी पूर्व ६०७ मे कोल्लाग सन्निवेश के अग्निवेश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण धम्मिल के यहा हुआ। उनकी माता का नाम भद्दिला था। उनका सपूर्ण आयुष्य सौ वर्ष का था। वे पचास वर्ष की अवस्था मे दीक्षित हुए, बयालीस वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था मे [तीस वर्ष तक भगवान् के पास और बारह वर्ष तक भगवान् के निर्वाण के बाद] और आठ वर्ष तक केवलज्ञानी की अवस्था मे रहे। वे वैभारगिरि [राजगृह] पर एक मास का अनशन कर वीर निर्वाण २० (ई० पूर्व ५०७) मे निर्वाण को प्राप्त हुए।

आर्य जबूकुमार

जब जम्बूकुमार सुधर्मा के पास दीक्षित हुए, तब उनकी आयु सोलह

वष की थी। अठाईस वर्ष की आयु मे वे आचार्य बने और छत्तीस वर्ष की आयु मे उन्हे केवलज्ञान की उपलब्धि हुई। इनका पूरा आयुष्य ८० वर्ष का था। चौसठ वर्ष के श्रमण-पर्याय मे ये चवालीस वर्ष तक युगप्रधान आचार्य के रूप मे रहे। वे इस युग के अन्तिम केवली थे। उनका निर्वाण ईस्वी पूर्व ४५३ मे हुआ।

आचार्य जम्बू के पश्चात् क्रमश छह आचार्य श्रुतकेवली हुए—प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सभूतविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र।

सप्रदाय-भेद

विचार का इतिहास जितना पुराना है, लगभग उतना ही पुराना विचार-भेद का इतिहास है। दीर्घकालीन परम्परा मे विचार-भेद होना अस्वाभाविक नही है। जैन परम्परा मे भी ऐसा ही हुआ। जैन परम्परा का भेद मूल तत्त्वो की अपेक्षा ऊपरी बातो या गौण प्रश्नो पर अधिक टिका हुआ है।

आमूलचूल विचार-परिवर्तन होने पर कुछ जैन साधु निर्ग्रन्थ शासन को छोड़कर अन्य शासन (धर्म-परम्परा) मे जाकर वहा श्रमण बन गए। गोशालक भी उनमे एक था। ऐसे श्रमणो को निह्नव की सज्ञा नही दी गई। निह्नव उन्ही साधुओ को कहा गया जिनका चालू परम्परा के साथ किसी एक विषय मे मतभेद हो जाने के कारण, वे वर्तमान शासन से पृथक् हो गए, किन्तु किसी अन्य धर्म को स्वीकार नही किया। इसलिए उन्हे अन्यधर्मी न कहकर, जैन शासक के निह्नव [किसी एक विषय का अपलाप करने वाले] कहा गया है। इस प्रकार के निह्नव सात हुए हैं। इनमे से दो [जमाली और तिष्यगुप्त] भगवान् महावीर की कैवल्य-प्राप्ति के बाद हुए हैं और शेष पाच निर्वाण के बाद। इन सब निह्नवो का अस्तित्व-काल भगवान् महावीर को कैवल्य-प्राप्ति के चौदह वर्ष से निर्वाण के बाद ५८४ वर्ष तक रहा।[1]

१ निम्नलिखित कोष्ठक मे सातो निह्नवो का विवरण है—

आचार्य	मत-स्थापना	उत्पत्ति-स्थान	कालमान
१ जमाली	बहुरतवाद	श्रावस्ती	कैवल्य के १४ वर्ष पश्चात्
२ तिष्यगुप्त	जीवप्रादेशिकवाद	ऋषभपुर	कैवल्य के १६ वर्ष "
३ आषाढ-शिष्य	अव्यक्तवाद	श्वेतविका	निर्वाण के ११४ वर्ष "
४ अश्वमित्र	सामुच्छेदिकवाद	मिथिला	निर्वाण के २२० वर्ष "
५ गग	द्वैक्रियवाद	उल्लुकातीर	निर्वाण के २२८ वर्ष "
६ रोहगुप्त	त्रैराशिकवाद	अतरजिका	निर्वाण के ५५४ वर्ष "
७ गोष्ठा-माहिल	अबद्धिकवाद	दशपुर	निर्वाण के ६०९ वर्ष "

श्वेताम्बर-दिगम्बर

श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय भेद कब हुआ—यह अब भी अनुसधान-सापेक्ष है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सापेक्ष शब्द हैं। इनमें से एक का नामकरण होने के बाद ही दूसरे के नामकरण की आवश्यकता हुई।

उनके पश्चात् आचार्य-परम्परा का भेद मिलता है। श्वेताम्बर-पट्टावलि के अनुसार जम्बू के पश्चात् प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूतविजय और भद्रबाहु हुए और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार नन्दी, नदीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु हुए।

जम्बू के पश्चात् कुछ समय तक दोनो परम्पराए आचार्यों का भेद स्वीकार करती हैं और भद्रबाहु के समय फिर दोनो एक बन जाती हैं। इस भेद और अभेद के सैद्धान्तिक मतभेद का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। उस समय सघ एक था, फिर भी गण और शाखाए अनेक थीं। आचार्य और चतुर्दशपूर्वी भी अनेक थे। किन्तु प्रभवस्वामी के समय से ही कुछ मतभेद के अकुर फूटने लगे हो, ऐसा प्रतीत होता है।

किम्वदन्ती के अनुसार वीर-निर्वाण ६०९ वर्ष के पश्चात् दिगम्बर-सम्प्रदाय का जन्म हुआ, यह श्वेताम्बर मानते हैं और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण ६०६ मे (ईसा पूर्व ७९) श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का प्रारभ हुआ।

चैत्यवास परम्परा

वीर-निर्वाण की नवी शताब्दी [८५०] मे चैत्यवास की स्थापना हुई। कुछ मुनि मदिरो के परिपार्श्व मे रहने लगे। वीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी तक इनका प्रभुत्व नही बढ़ा। देवर्द्धिगणी के दिवगत होते ही इनका सम्प्रदाय शक्तिशाली हो गया। आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'सम्बोध-प्रकरण' में इनके आचार-विचार का सजीव वर्णन किया है।

चैत्यवासी शाखा के उद्भव के साथ दूसरा पक्ष सविग्न, विधिमार्ग या सुविहितमार्ग कहलाया।

स्थानकवासी

स्थानकवासी सप्रदाय का उद्भव मूर्ति-पूजा के अस्वीकार पक्ष मे हुआ। विक्रम की सोलहवी शताब्दी मे लोकाशाह ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया और आचार की कठोरता का पक्ष प्रबल किया। वे गृहस्थावस्था में ही थे। उनकी परम्परा मे ऋषि लवजी, आचार्य धर्मसिहजी और आचार्य धर्मदासजी प्रतिभाशाली आचार्य हुए। आचार्य धर्मदासजी के निन्यानवे शिष्य थे। उन्होने अपने विद्वान् शिष्यो को बाईस दलो मे बाटा और विभिन्न प्रातों मे उन्हें धर्म-प्रचार करने के लिए भेजा। उसके बाद लोकाशाह का सम्प्रदाय

'बाईस टोला' या बाईस-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आगे चलकर, स्थानको की मुख्यता के कारण यही 'स्थानकवासी' सम्प्रदाय के नाम से पहचाना जाने लगा। वर्तमान मे इसका नाम 'श्रमण सघ' कर दिया गया है।

तेरापथ

स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य रुघनाथजी के शिष्य 'सन्त भीखणजी' [आचार्य भिक्षु] ने विक्रम सवत् १८१७ मे तेरापथ का प्रवर्तन किया। आचार्य भिक्षु ने आचार-शुद्धि और सगठन पर बल दिया। एकसूत्रता के लिए उन्होने अनेक मर्यादाओ का निर्माण किया, शिष्य-प्रथा को समाप्त कर दिया। थोडे ही समय मे एक आचार्य, एक आचार और एक विचार के लिए तेरापथ प्रसिद्ध हो गया। आचार्य भिक्षु आगम के अनुशीलन द्वारा कुछ नये तत्त्वो को प्रकाश मे लाए। आध्यात्मिक दृष्टि से वे बहुत ही मूल्यवान् हैं। कुछ तथ्य वर्तमान समाज के पथ-दर्शक बन गए हैं।

अभ्यास

१ भगवान् महावीर के पश्चात् जैन धर्म के अन्तर्गत कौन-कौन से सप्रदाय विकसित हुए? उनकी पारस्परिक समानताए तथा भिन्नताएं स्पष्ट करें।

२ निह्नव किसे कहते हैं? निह्नव कितने और कब-कब हुए?

: ४ :

जैन साहित्य । संक्षिप्त परिचय

जैन साहित्य आगम और आगमेतर—इन दो भागो मे बटा हुआ है। साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम कहलाता है।

भगवान् की वाणी आगम बन गई। उनके प्रधान शिष्य गौतम आदि ग्यारह गणधरो ने उसे सूत्र-रूप मे गूथा। आगम के दो विभाग हो गए—सूत्रागम और अर्थागम। भगवान् के प्रकीर्ण उपदेश को अर्थागम और उनके आधार पर की गई सूत्र-रचना को सूत्रागम कहा गया। वे आचार्यों के लिए निधि बन गए। इसलिए उसका नाम गणि-पिटक हुआ। उस गुम्फन के मौलिक भाग बारह हुए। इसलिए उसका दूसरा नाम हुआ—द्वादशागी।

स्थविरो ने इसका पल्लवन किया। आगम-सूत्रो की सख्या हजारो तक पहुच गई।

भगवान् के चौदह हजार शिष्य प्रकरणकार [ग्रन्थकार] थे। उस समय लिखने की परम्परा नही थी। सारा वाड्मय स्मृति पर आधारित था।

आगमों का रचना-क्रम

बारहवें अग दृष्टिवाद के पाच विभाग है—परिकर्म, सूत्र, पूर्वानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

पूर्वगत के चौदह विभाग हैं। वे पूर्व कहलाते है। उनका परिमाण बहुत ही विशाल है। वे श्रुत या शब्द-ज्ञान के समस्त विषयो के अक्षय-कोष होते हैं।

पूर्वो मे सारा श्रुत समा जाता है। पूर्वों की भाषा सस्कृत मानी जाती है, किन्तु साधारण बुद्धि वाले उसे पढ नही सकते। उनके लिए द्वादशागो की रचना की गई। आगम-साहित्य मे अध्ययन-परम्परा के तीन क्रम मिलते हैं। कुछ श्रमण चतुर्दशपूर्वी होते थे, कुछ द्वादशागी के विद्वान् और कुछ सामायिक आदि ग्यारह अगो के अध्येता। चतुर्दशपूर्वी श्रमणो का अधिक महत्त्व रहा है। उन्हे श्रुत-केवली कहा गया है।

जैन आगमो की भाषा अर्ध-मागधी है। यह प्राकृत का ही एक रूप है। यह मगध के एक भाग मे बोली जाती है तथा इसमे मागधी और दूसरी भाषाओ—अठारह देशी भाषाओ के लक्षण मिश्रित है, इसलिए यह अर्धमागधी कहलाती है। भगवान् महावीर के शिष्य मगध, मिथिला, कौशल आदि अनेक

प्रदेश, वर्ग और जाति के थे। इसलिए जैन साहित्य की प्राचीन-प्राकृत मे देश्य शब्दो की बहुलता है। इसे आर्ष कहा जाता है। उसका मूल आगम का 'ऋषि-भाषित' शब्द है।

आगम-विभाग

आगम-साहित्य प्रणेता की दृष्टि से दो भागो मे विभक्त होता है—अग-प्रविष्ट और अनग-प्रविष्ट। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरो ने जो साहित्य रचा, वह अग-प्रविष्ट कहलाता है। स्थविरो ने जो साहित्य रचा, वह अनग-प्रविष्ट कहलाता है। बारह अगो के अतिरिक्त सारा आगम-साहित्य अनग-प्रविष्ट है।

द्वादशागी का स्वरूप सभी तीर्थंकरो के समक्ष नियत होता है। अनग-प्रविष्ट नियत नही होता। अभी जो एकादश अग उपलब्ध हैं वे सुधर्मा गणधर की वाचना के हैं, इसलिए सुधर्मा द्वारा रचित माने जाते हैं।

अनग-प्रविष्ट आगम-साहित्य की दृष्टि से दो भागो मे बटता है कुछेक आगम स्थविरो के द्वारा रचित हैं और कुछेक निर्यूढ। जो आगम द्वादशागी या पूर्वों से उद्धृत किये गए, वे निर्यूढ कहलाते हैं। दशवैकालिक, आचाराग का दूसरा श्रुतस्कध, निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कध—ये निर्यूढ आगम हैं।

दशवैकालिक का निर्यूहण अपने पुत्र मनक की आराधना के लिए आर्य शय्यम्भव ने किया। शेष आगमो के निर्यूहक श्रुत-केवली भद्रबाहु है। प्रज्ञापना के कर्त्ता श्यामार्य, अनुयोगद्वार के कर्त्ता आर्यरक्षित और नदी के कर्त्ता देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण माने जाते हैं।

भाषा की दृष्टि से आगमो को दो युगो मे विभक्त किया जा सकता है। ई० पू० ४०० से ई० १०० तक का पहला युग है। इसमे रचित अगो की भाषा अर्ध-मागधी है। दूसरा युग ई० १०० से ई० ५०० तक का है। इसमे रचित या निर्यूढ आगमो की भाषा जैन महाराष्ट्री प्राकृत है।

आगम-वाचनाए

वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी मे (१६० वर्ष पश्चात्) पाटलिपुत्र मे बारह वर्ष का दुर्भिक्ष हुआ। उस समय श्रमण-सघ छिन्न-भिन्न-सा हो गया। बहुत सारे बहुश्रुत मुनि अनशन कर स्वर्गवासी हो गए। आगम-ज्ञान की शृखला टूट सी गई। दुर्भिक्ष मिटा, तब सघ मिला। श्रमणो ने ग्यारह अग सकलित किए। बारहवें अग के ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी के सिवाय कोई नही रहा। वे नेपाल मे महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे। सघ की प्रार्थना पर उन्होने बारहवें अग की वाचना देना स्वीकार कर लिया। पन्द्रह सौ साधु गए। उनमे पाच सौ विद्यार्थी थे और एक हजार साधु उनकी परि-

चर्या मे नियुक्त थे।

आगम-सकलन का दूसरा प्रयत्न वीर-निर्वाण ८२७ और ८४० (ई० सन् ३००-३१३) के बीच हुआ। आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व मे आगम लिखे गए। यह कार्य मथुरा मे हुआ, इसलिए इसे माथुरी-वाचना कहा जाता है। इसी समय वल्लभी मे आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व मे आगम सकलित हुए। उसे वल्लभी वाचना या नागार्जुनीय-वाचना कहा जाता है।

माथुरी-वाचना के अनुयायियो के अनुसार वीर-निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् (ई० सन् ४५३ मे) तथा वल्लभी-वाचना के अनुयायियो के अनुसार वीर-निर्वाण के ९९३ वर्ष पश्चात् (ईस्वी सन् ४६६ मे) देवर्द्धिगणी क्षमा-श्रमण के नेतृत्व मे श्रमण-सघ मिला। द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के कारण बहुत सारे बहुश्रुत मुनि काल-कवलित हो चुके थे। अन्य मुनियो की सख्या भी कम हो गई थी। श्रुत की अवस्था चिन्तनीय थी। दुर्भिक्ष-जनित कठिनाइयो के कारण प्रासुक भिक्षाजीवी साधुवो की स्थिति बडी विचारणीय थी। क्रमश श्रुत की विस्मृति हो रही थी।

देवर्द्धिगणी ने अवशिष्ट बहुश्रुत मुनियो तथा श्रमण सघ को एकत्रित किया। उन्हें जो श्रुत कठस्थ था, वह उनसे सुना और लिपिबद्ध कर लिया। आगमो के आलापक न्यूनाधिक और छिन्न-भिन्न मिले। उन्होने उन सबका अपनी मति से सकलन और सपादन कर पुस्तकारूढ कर लिया। इसके पश्चात् फिर कोई सर्वमान्य वाचना नहीं हुई। वीर-निर्वाण की दसवी शताब्दी के बाद पूर्वज्ञान की परम्परा विच्छिन्न हो गई।

आगम का मौलिक रूप

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष (ई० १५६) के पश्चात् आगमो का मौलिक स्वरूप लुप्त हो गया।

श्वेताम्बर-मान्यता है कि आगम-साहित्य का मौलिक स्वरूप बडे परि-माण मे लुप्त हो गया किन्तु पूर्ण नही, अब भी वह शेष है। अगो और उपागो की जो तीन बार सकलना हुई, उसमे मौलिक रूप अवश्य ही बदला है। उत्तरवर्ती घटनाओ और विचारणाओ का समावेश भी हुआ है। स्थानाग मे सात निह्नवो और नवगणो का उल्लेख इसका स्पष्ट प्रमाण है। प्रश्न-व्याकरण का जो विषय-वर्णन है, वह वर्तमान रूप मे उपलब्ध नही है। इस स्थिति के उपरान्त भी अगो का अधिकाश भाग मौलिक है। भाषा और रचना-शैली की दृष्टि से वह प्राचीन है। आयारो रचना-शैली की दृष्टि से शेष सब अगो से भिन्न है। आज के भाषाशास्त्री उसे ढाई हजार वर्ष प्राचीन बतलाते हैं। सूत्रकृताग, स्थानाग और भगवती भी प्राचीन हैं। इसमे कोई सदेह नही, आगम का मूल आज भी सुरक्षित है।

आगम-लोप के पश्चात् दिगम्बर-परम्परा मे जो साहित्य रचा गया, उसमे सर्वोपरि महत्त्व षट्-खण्डागम और कषाय-प्राभृत का है।

पूर्वों और अगो के बचे-खुचे अशो के लुप्त होने का प्रसग आया, तब आचार्य धरसेन (विक्रम की दूसरी शताब्दी) ने भूतबलि और पुष्पदन्त नामक दो साधुओ को श्रुताभ्यास कराया। इन दोनो ने षट्खण्डागम की रचना की। लगभग इसी समय मे आचार्य गुणधर हुए। उन्होने कषाय-प्राभृत रचा। ये पूर्वों के शेषाश हैं। इसलिए इन्हे पूर्वों से उद्धृत माना जाता है। इन पर कई प्राचीन टीकाए लिखी गई हैं। वे उपलब्ध नही हैं। जो टीका वर्तमान मे उपलब्ध है, वह आचार्य वीरसेन की है। इन्होने विक्रम सवत् ८७३ मे षट्खण्डागम की ७२,००० श्लोक-प्रमाण धवला टीका लिखी एव कषाय-पाहुड पर २०,००० श्लोक-प्रमाण टीका लिखी। वह पूर्ण न हो सकी, बीच मे ही उनका स्वर्गवास हो गया। उसे उन्ही के शिष्य जिनसेनाचार्य ने पूर्ण किया। उसकी पूर्ति विक्रम सम्वत् ८९४ मे हुई। उसका शेष भाग ४०,००० श्लोक-प्रमाण और लिखा गया। दोनो को मिलाकर इसका प्रमाण ६०,००० श्लोक होता है। इसका नाम जय-धवला है। यह प्राकृत और सस्कृत के सक्राति-काल की रचना है। इसलिए इसमे दोनो भाषाओ का मिश्रण है।

षट्-खण्ड का अन्तिम भाग महाबध है। इसके रचियता आचार्य भूतबलि है। यह ४१,००० श्लोक-प्रमाण है। इन तीनो ग्रन्थो मे कर्म का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन है।

लेखन और लेख-सामग्री

जैन-साहित्य के अनुसार लिपि का प्रारम्भ प्रागैतिहासिक है। प्रज्ञापना मे १८ लिपियो का उल्लेख मिलता है। भगवान् ऋषभनाथ ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपिया सिखाई, ऐसा उल्लेख विशेषावश्वकभाष्यवृत्ति, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि मे मिलता है। जैन-सूत्र वर्णित ७२ कलाओ मे लेख-कला का पहला स्थान है। भगवान् ऋषभनाथ ने ७२ कलाओ का उपदेश किया तथा असि, मषि और कृषि—ये तीन प्रकार के व्यापार चलाए। इनमे आये हुए लेख-कला और मषि शब्द लिखने की परम्परा को कर्म-युग के आरम्भ तक ले जाते हैं। नन्दी-सूत्र मे तीन प्रकार का अक्षर-श्रुत बतलाया है। इसमे पहला सज्ञाक्षर है। इसका अर्थ होता है—अक्षर की आकृति—लिपि।

प्रागैतिहासिक काल मे लिखने की सामग्री कैसी थी, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। राजप्रश्नीयसूत्र मे पुस्तक रत्न का वर्णन करते हुए कम्बिका (ruler), मोरा, गाठ, लिप्यासन (मषिपात्र), छदन (ढक्कन), साकली, मषि और लेखनी—लेख-सामग्री के इन उपकरणो की चर्चा की गई

है। प्रज्ञापना मे 'पोत्थारा' शब्द आता है जिसका अर्थ होता है—लिपिकार—पुस्तक-विज्ञान-आर्य। इसे शिल्पार्य मे गिना गया है। इसी सूत्र मे बताया गया है कि अर्ध-मागधी भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करने वाले भाषार्य होते है। भगवती सूत्र के आरम्भ मे ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है, उसकी पृष्ठभूमि मे भी लिखने का इतिहास है। भाव-लिपि के पूर्व वैसे ही द्रव्य-लिपि रहती है, जैसे भाव-श्रुत के पूर्व द्रव्य-श्रुत होता है। द्रव्य-श्रुत श्रूयमाण शब्द और पठ्यमान शब्द—दोनो प्रकार का होता है। इससे सिद्ध है कि द्रव्य-लिपि द्रव्य-श्रुत से अतिरिक्त नही, उसी का एक अश है। पाच प्रकार की पुस्तके बतलाई गई हैं—१ गण्डी, २ कच्छवी, ३० मुष्टि, ४ सपुट फलक, ५ सृपाटिका। हरिभद्रसूरि ने भी दशवैकालिक टीका मे प्राचीन आचार्यों की मान्यता का उल्लेख करते हुए इन्ही पुस्तको का उल्लेख किया है। निशीथचूर्णि मे भी इनका उल्लेख है। अनुयोगद्वार का पोत्थकम्म (पुस्तक-कर्म) शब्द भी लिपि की प्राचीनता का एक प्रबल प्रमाण है। टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ ताड-पत्र अथवा सपुटक-पत्र-सचय और कर्म का अर्थ उसमे वर्तिका आदि से लिखना किया है। इसी सूत्र मे आए हुए पोत्थकार (पुस्तक-कार) शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'पुस्तक के द्वारा जीविका चलाने वाला' किया है। जीवाभिगम के पोत्थार (पुस्तककार) शब्द का यही अर्थ होता है। भगवान् महावीर की पाठशाला मे पढने-लिखने की घटना भी तात्कालिक लेखन-प्रथा का एक प्रमाण है। वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी मे आक्रान्ता सम्राट् सिकन्दर के सेनापति निआर्क्स ने लिखा है—'भारतवासी लोग कागज बनाते थे।' ईस्वी के दूसरे शतक मे ताड-पत्र और चौथे मे भोज-पत्र लिखने के व्यवहार मे लाए जाते थे। वर्तमान मे उपलब्ध लिखित ग्रन्थो मे पाचवीं शताब्दी ई० मे लिखे हुए पत्र मिलते हैं। इन तथ्यो के आधार पर हम जान सकते हैं कि भारत मे लिखने की प्रथा प्राचीनतम है। किन्तु समय-समय पर इसके लिए किन-किन साधनो का उपयोग होता था, इसका दो हजार वर्ष पुराना रूप जानना अति कठिन है। मोटे तौर पर हमे यह मानना होगा कि भारतीय वाङ्मय का भाग्य लम्बे समय तक कण्ठस्थ-परम्परा मे ही सुरक्षित रहा है। जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनो परम्पराओ के शिष्य उत्तराधिकार के रूप मे अपने-अपने आचार्यों द्वारा ज्ञान का अक्षय-कोष पाते थे।

आगम के भेद-प्रभेद

आगम-पुरुष की कल्पना हुई, तब अग-प्रविष्ट को उसके अग-स्थानीय और बारह सूत्रो को उपाग-स्थानीय माना गया। पुरुष के जैसे दो पैर, दो जघाए, दो उरु, दो गात्रार्ध, दो बाहु, ग्रीवा और सिर—ये बारह अग होते हैं, वैसे ही श्रुतपुरुष के आचार आदि बारह अग होते हैं। इसलिए ये अग-प्रविष्ट

कहलाते हैं ।

कान, नाक, आंख, जंघा, हाथ और पैर—ये उपांग है । श्रुतपुरुष के भी औपपातिक आदि बारह उपांग हैं ।

बारह अंगों और उनके उपांगो की व्यवस्था इस प्रकार है

अङ्ग	उपांग
आचार	औपपातिक
सूत्रकृत्	राजप्रश्नीय
स्थान	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	सूर्यप्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
उपासकदशा	चन्द्रप्रज्ञप्ति
अन्तकृद्दशा	कल्पिका
अनुत्तरोपपातिकदशा	कल्पावतंसिका
प्रश्नव्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्पचूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णिदशा

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन- ये दो मूल सूत्र माने जाते हैं । नन्दी और अनुयोगद्वार---ये दो चूलिका सूत्र हैं । व्यवहार, बृहत्कल्प, निशीथ और दशाश्रुतस्कन्ध—ये चार छेद सूत्र है ।

इस प्रकार अंग-बाह्य-श्रुत की समय-समय पर विभिन्न रूपों में योजना हुई है ।

आगमों का वर्तमान संस्करण देवर्द्धिगणी का है । अंगों के कर्ता गणधर है । अंग-बाह्य-श्रुत के कर्ता स्थविर हैं । उन सबका संकलन और संपादन करने वाले देवर्द्धिगणी है । इसलिए वे आगमों के वर्तमान-रूप के कर्ता भी माने जाते है ।

आगम का व्याख्यात्मक साहित्य

आगम के व्याख्यात्मक साहित्य का प्रारम्भ निर्युक्ति से होता है और वह 'स्तबक' और 'जोडो' तक चलता है ।

निर्युक्तियां और निर्युक्तिकार—द्वितीय भद्रबाहु ने दस निर्युक्तियां लिखी । इनका रचनाकाल वीर-निर्वाण की पांचवी-छठी शताब्दी है । इनकी भाषा प्राकृत है । इनमे संक्षिप्त शैली के आधार पर अनेक विषय और पारिभाषिक शब्द प्रतिपादित है । ये भाष्य और चूर्णियो के लिए आधारभूत है । ये पद्यबद्ध व्याख्याएं है ।

भाष्य और भाष्यकार —आगमा और निर्युक्तियो के आशय को स्पष्ट करने के लिए भाष्य लिखे गए। अब तक दस भाष्य उपलब्ध हैं।

चूर्णिया और चूर्णिकार :—चूर्णियां गद्यात्मक हैं। इनकी भाषा प्राकृत या सस्कृत-मिश्रित प्राकृत है। आगम ग्रन्थो पर १५ चूर्णिया मिलती हैं।

टीकाए और टीकाकार —आगमो के सस्कृत-टीकाकारो ने अनेक आगमो पर टीकाए लिखी।

आगम-साहित्य की समृद्धि के साथ-साथ न्यायशास्त्र के साहित्य का भी विकास हुआ। वैदिक और बौद्ध न्यायशास्त्रियो ने अपने-अपने तत्त्वो को तर्क की कसौटी पर कसकर जनता के सम्मुख रखने का यत्न किया, तब जैन न्याय-शास्त्री भी इस ओर मुडे। विक्रम की पाचवी शताब्दी मे न्याय का जो नया स्रोत बहा, वह बारहवी मे बहुत व्यापक हो गया।

अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे न्यायशास्त्रियो की गति कुछ शिथिल हो गई। आगम के व्याख्याकारो की परम्परा आगे भी चली। गुजराती-राजस्थानी-मिश्रित भाषा मे आगमो पर स्तबक लिखे गए। आगम के सैकडो दुरूह स्थलो पर कुछ प्रकीर्ण व्याख्याए लिखी गईं और कुछ आगमो पर पद्यात्मक व्याख्या रची गई।

इस प्रकार जैन-साहित्य आगम, आगम-व्याख्या-साहित्य और न्याय साहित्य से बहुत समृद्ध है।

परवर्ती प्राकृत साहित्य

विक्रम की दूसरी शती मे आचार्य कुन्दकुन्द हुए। उन्होने अध्यात्मवाद का एक नया स्रोत प्रवाहित किया। उनका झुकाव निश्चय-नय की ओर अधिक था। प्रवचनसार, समयसार और पचास्तिकाय—ये उनकी प्रमुख रचनाए है। इनमे आत्मानुभूति की वाणी आज भी उनके अन्तर्-दर्शन की साक्षी है।

विक्रम की दसवी शताब्दी मे आचार्य नेमिचन्द्र चक्रवर्ती हुए। उन्होने गोम्मटसार और लब्धिसार-क्षपणसार—इन दो ग्रन्थो की रचना की। ये बहुत ही महत्त्वपूर्ण माने जाते है। ये प्राकृत-शौरसेनी भाषा की रचनाएं हैं।

श्वेताम्बर आचार्यों ने मध्ययुग मे जैन-महाराष्ट्री मे लिखा। विक्रम की तीसरी शती मे शिवशर्म सूरि ने कम्मपयडी, उमास्वाति ने जम्बूद्वीप समास लिखा। विक्रम की छठी शताब्दी मे सघदास क्षमाश्रमण ने वसुदेवहिण्डी नामक एक कथा ग्रन्थ लिखा, इसका दूसरा खण्ड धर्मसेनगणी ने लिखा। इसमें वासुदेव के पर्यटन के साथ-साथ अनेक लोक-कथाओ, चरित्रो, विविध वस्त्रो, उत्सवो और विनोद-साधनो का वर्णन किया है। जर्मन विद्वान् आल्सडोर्फ ने इसे बृहत्कथा के समकक्ष माना है।

विक्रम की सातवीं शताब्दी मे जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हुए। विशेषावश्यक भाष्य इनकी प्रसिद्ध कृति है। यह जैनागमों की चर्चाओं का एक महान् कोष है। विशेषणवती, बृहत्-संग्रहणी और बृहत्-क्षेत्रसमास भी इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

हरिभद्रसूरि विक्रम की आठवी शती के विद्वान् आचार्य हैं। 'समराइच्च-कहा' इनका प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ है। संस्कृत-युग मे भी प्राकृत-भाषा मे रचना का क्रम चलता रहा है।

मध्यकाल मे निमित्त, गणित, ज्योतिष, सामुद्रिक-शास्त्र, आयुर्वेद, मन्त्रविद्या, स्वप्न-विद्या, शिल्प-शास्त्र, व्याकरण, छन्द, कोश आदि विषयक अनेक ग्रन्थ लिखे गये है।

संस्कृत साहित्य

संस्कृत और प्राकृत —ये दोनो श्रेष्ठ भाषाए है और ऋषियो की भाषाए है। इस तरह आगम-प्रणेताओ ने संस्कृत-प्राकृत की समकक्षता स्वीकार करके संस्कृत का अध्ययन करने के लिए जैनो का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

संस्कृत भाषा तार्किको के तीखे तर्क-बाणो के लिए तूणीर बन चुकी थी। इसलिए इस भाषा का अध्ययन करने वालो के लिए अपने विचारो की सुरक्षा खतरे मे थी। अत सभी दार्शनिक संस्कृत भाषा को अपनाने के लिए तेजी से पहल करने लगे।

जैनाचार्य भी इस दौड म पीछे नही रहे। वे समय की गति को पहचानने वाले थे, इसलिए उनकी प्रतिभा इस ओर चमकी और स्वय इस ओर मुडे। उन्होने पहले ही चरण मे प्राकृत भाषा की तरह संस्कृत भाषा पर भी अधिकार जमा लिया।

प्रावेशिक-साहित्य

ई० पूर्व पाचवी शताब्दी मे जैन धर्म का अस्तित्व दक्षिण भारत मे था। ई० पूर्व तीसरी शताब्दी मे भद्रबाहु बारह हजार मुनियो के साथ दक्षिण भारत मे गए। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ थे। उनके वहा जाने से धर्म बहु प्रभावी हो गया।

दिगम्बर-आचार्यो का प्रमुख विहार-क्षेत्र दक्षिण बन गया। दक्षिण की भाषाओ मे उन्होने विपुल साहित्य रचा।

कन्नड और तमिल साहित्य कन्नड भाषा मे कवि 'पोन्न' का शातिपुराण, 'पप' का आदिपुराण और भारत आज भी बेजोड माना जाता है। 'रत्न' का गदा-युद्ध भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ईसा की दसवी शती से सोलहवी शती तक जैन महर्षियो ने काव्य, व्याकरण, शब्दकोश, ज्योतिष, वैद्यक आदि

विविध विषयो पर अनेक ग्रन्थ लिखे और कर्णाटक सस्कृति को पर्याप्त समृद्ध बनाया। दक्षिण भारत की पाच द्राविड-भाषाओ मे से कन्नड एक प्रमुख भाषा है। उसमे जैन-साहित्य और साहित्यकार आज भी अमर हैं।

तमिल भी दक्षिण की प्रसिद्ध भाषा है। इसका जैन-साहित्य भी बहुत समृद्ध है। इसके पाच महाकाव्यो मे से तीन महाकाव्य चिन्तामणि, सिलप्प-डिकारम् और वलैतापति—जैन कवियो द्वारा रचित है। 'नन्नोल' तमिल का विश्रुत व्याकरण है। कुरल और नालदियार जैसे महान् ग्रन्थ भी जैन महर्षियो की कृतिया है।

गुजराती साहित्य . उत्तर भारत श्वेताम्बर-आचार्यों का विहार-क्षेत्र रहा। उत्तर भारत की भाषाओ मे दिगम्बर-साहित्य प्रचुर है, पर श्वेताम्बर-साहित्य की अपेक्षा वह कम है।

आचार्य हेमचन्द्र के समय से गुजरात जैन-साहित्य और सस्कृति से प्रभावित रहा है। आनन्दघनजी, यशोविजयजी आदि अनेक योगियो और महर्षियो ने इस भाषा मे अनेक रचनाए प्रस्तुत की।

राजस्थानी साहित्य राजस्थानी मे जैन-साहित्य विशाल मात्रा मे है। इस सहस्राब्दी मे राजस्थान जैन मुनियो का प्रमुख विहार-स्थल रहा है। यति, सविग्न, स्थानकवासी और तेरापथी—सभी ने राजस्थानी मे लिखा है। रास और चरितो की सख्या प्रचुर है। पूज्य जयमलजी का प्रदेशी राजा का चरित्र बहुत ही रोचक है। कवि समयसुन्दरजी की रचनाओ का सग्रह अगरचन्दजी नाहटा ने अभी प्रकाशित किया है। फुटकर 'ढालो' का सकलन किया जाए, तो इतिहास को नई दिशाए मिल सकती है।

राजस्थानी भाषाओ का स्रोत प्राकृत और अपभ्रश है। काल-परिवर्तन के साथ-साथ दूसरी भाषाओ का सम्मिश्रण हुआ है।

राजस्थानी साहित्य मे जैन-शैली के लेखक जैन-साधु और यति अथवा उनसे सम्बन्ध रखने वाले लोग है। इनमे प्राचीनता की झलक मिलती है। अनेक प्राचीन शब्द और मुहावरे इसमे आगे तक चले आये हैं।

जैनो का सबध गुजरात के साथ विशेष रहा है। अत राजस्थानी जैन-शैली मे गुजरात का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है।

तेरापथ के आचार्य भिक्षु ने राजस्थानी साहित्य मे एक नया स्रोत बहाया। अध्यात्म, अनुशासन, ब्रह्मचर्य, धार्मिक-समीक्षा, रूपक, लोक-कथा और अपनी अनुभूतियो से उसे व्यापकता की ओर ले चले। उन्होने गद्य भी बहुत लिखा। उनकी सारी रचनाओ का परिमाण ३८,००० श्लोक के लगभग है। मारवाडी के ठेठ शब्दो मे लिखना और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना उनकी अपनी विशेषता है। उनकी वाणी का स्रोत क्राति और शान्ति—दोनो धाराओ मे बहा है।

नव पदार्थ, विनीत-अविनीत, व्रताव्रत, अनुकंपा, शील की नववाड़ आदि उनकी प्रमुख रचनाए है।

तेरापथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य राजस्थानी भाषा के महाकवि थे। उन्होने अपने जीवन मे लगभग साढ़े तीन लाख श्लोक-प्रमाण गद्य-पद्य लिखे। उनकी कृतियो मे—भगवती की जोड, उत्तराध्ययन की जोड, भिक्खु दृष्टान्त, आराधना, चौबीसी आदि उल्लेखनीय हैं। एक ही कृति भगवती की जोड, जो भगवती सूत्र का पद्यानुवाद है, ६०,००० श्लोक-प्रमाण है। यह राजस्थानी भाषा का विशालतम ग्रथ है।

उनकी लेखनी मे प्रतिभा का चमत्कार था। वे साहित्य और अध्यात्म के क्षेत्र मे अनिरुद्ध गति से चले। उनकी सफलता का स्वत प्रमाण उनकी अमर कृतिया है। उनका तत्त्व-ज्ञान प्रौढ था। श्रद्धा, तर्क और व्युत्पत्ति की त्रिवेणी मे आज भी उनका हृदय बोल रहा है। जिन-वाणी पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। विचार-भेद की दुनिया के लिए वे तार्किक थे। साहित्य, सगीत, कला, सस्कृति—ये उनके व्युत्पत्ति-क्षेत्र थे। उनका सर्वतोमुखी व्यक्तित्व उनके युग-पुरुष होने की साक्षी भर रहा है।

हिन्दी साहित्य

विक्रम की दसवी शताब्दी से जैन विद्वान् अपभ्रंश की ओर झुके। तेरहवी शती मे आचार्य हेमचद्र ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण सिद्ध-हेमशब्दानुशासन मे इसका भी व्याकरण लिखा। उसमे उदाहरण-स्थलो मे अनेक उत्कृष्ट कोटि के दोहे उद्धृत किए हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनो परम्पराओ के मनीषी इसी भाषा मे पुराण, महापुराण, स्तोत्र आदि लिखते ही चले गए। महाकवि स्वयम्भू ने पद्मचरित लिखा। चतुर्मुखदेव, कवि रइधू, महाकवि पुष्पदत के पुराण अपभ्रंश मे हैं। योगीन्द्र का योगसागर और परमात्मप्रकाश सत-साहित्य के प्रतीक-ग्रथ है।

अनेक जैन आचार्य, मुनि और बहुश्रुत मनीषी नए-नए साहित्य का सृजन कर हिन्दी साहित्य भडार को भर रहे हैं। तेरापथ के आचार्यश्री तुलसी तथा अनेक मुनियो ने इस दिशा मे अभूतपूर्व योगदान किया है। जैन आगमो को हिन्दी मे व्याख्यायित करने का उनका सकल्प क्रियान्वित हो रहा है और साथ-साथ सामयिक विषयो पर शताधिक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। आज भी मनीषी मुनि इस ओर गतिशील हैं। जैन ध्यान-योग की विलुप्त परम्परा का सधान करने वाले अनेक ग्रन्थ हिन्दी मे प्रकाशस्तम्भ बन चुके है।

अभ्यास

१ आगम-साहित्य का सक्षिप्त परिचय देते हुए बताए कि इसे लिपिबद्ध कब, क्यो और किसके द्वारा किया गया ?

२ आगम के व्याख्यात्मक साहित्य का परिचय दे।

३ प्राकृत के अतिरिक्त जैन साहित्य किन-किन भाषाओ मे उपलब्ध है ?

खण्ड ३

संस्कृति

: १

जैन संस्कृति : मूल आधार

त्याग और तप

जैन सस्कृति व्रात्यो की सस्कृति है। व्रात्य शब्द का मूल व्रत है। उसका अर्थ है—सयम और सवर। वह आत्मा के सान्निध्य और बाह्य जगत् के प्रति अनासक्ति का सूचक है। व्रत का उपजीवी तत्त्व तप है। उसके उद्भव का मूल जीवन का समर्पण है।

जैन परम्परा तप को अहिंसा, समन्वय, मैत्री और क्षमा के रूप में मान्य करती है। भगवान् महावीर ने अज्ञानपूर्ण तप का उतना ही विरोध किया है, जितना कि ज्ञानपूर्ण तप का समर्थन। अहिंसा के पालन मे बाधा न आए, उतना तप सब साधको के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्ही के लिए है—जिसमे आत्मबल या दैहिक विराग तीव्रतम हो। निर्ग्रन्थ शब्द अपरिग्रह और जैन शब्द कषाय-विजय का प्रतीक है। इस प्रकार जैन-सस्कृति आध्यात्मिकता, त्याग, सहिष्णुता, अहिंसा, समन्वय, मैत्री, क्षमा, अपरिग्रह और आत्म-विजय की धाराओ का प्रतिनिधित्व करती हुई विभिन्न युगो मे विभिन्न नामो द्वारा अभिव्यक्त हुई है।

एक शब्द मे जैन-सस्कृति त्याग-मूलक है। जैन-विचारधारा की बहुमूल्य देन सयम है।

दुःख-सुख को ही जीवन का ह्रास और विकास मत समझो। सयम जीवन का विकास है और असयम ह्रास। असयमी थोडो को व्यावहारिक लाभ पहुचा सकता है, किन्तु वह छलना, क्रूरता और शोषण को नही त्याग सकता।

सयमी थोडो का व्यावहारिक हित न साध सके, फिर भी वह सबके प्रति निश्छल, दयालु और शोषण-मुक्त रहता है। मनुष्य-जीवन उच्च सस्कारी बने, इसके लिए उच्च वृत्तिया चाहिए, जैसे

१ आर्जव या ऋजुभाव, जिससे विश्वास बढे।
२ मार्दव या दयालुता, जिससे मैत्री बढे।
३ लाघव या नम्रता, जिससे सहृदयता बढे।
४ क्षमा या सहिष्णुता, जिससे धैर्य बढे।
५ शौच या पवित्रता, जिससे एकता बढे।

६ सत्य या प्रामाणिकता, जिससे निर्भयता बढे ।

७ माध्यस्थ्य या आग्रहहीनता, जिससे सत्य-स्वीकार की शक्ति बढ़े ।

किन्तु इन सबको सयम की अपेक्षा है । 'एक ही साधै सब सधै'—सयम की साधना हो, तो सब सध जाते है, नही तो नही । जैन विचारधारा इस तथ्य को पूणता का मध्य-बिन्दु मानकर चलती है । अहिंसा इसी की उपज है, जो 'जैन विचरणा' की सर्वोपरि देन मानी जाती है ।

अहिंसा और मुक्ति—श्रमण-सस्कृति की ये दो ऐसी आलोक-रेखाए हैं, जिनसे जीवन के वास्तविक मूल्यो को देखने का अवसर मिलता है ।

जब जीवन का धर्म अहिसा या कष्ट-सहिष्णुता और साध्य-मुक्ति या स्वातत्र्य बन जाता है, तब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति रोके नही रुकती ।

अहिंसा का विकास सयम के आधार पर हुआ है । अत अहिंसा का उपदेश करुणा की भावना से उत्पन्न न होकर ससार से पवित्र रहने की भावना पर आधृत है । कार्य के आचरण मे नही, अधिकतर पूण बनने के आचरण से सबधित है ।

यह सच है कि अहिंसा के उपदेश मे सभी जीवो के समान स्वभाव को मान लिया गया है परन्तु इसका अविर्भाव करुणा से नही हुआ है । भारतीय सन्यास मे अकम का साधारण सिद्धात ही इसका कारण है ।

सामान्य धारणा यह है कि जैन-सस्कृति निराशावाद या पलायनवाद की प्रतीक है । किन्तु यह चिन्तन पूण नही है । जैन-सस्कृति का मूल तत्त्ववाद है । कल्पनावाद मे कोरी आशा होती है । तत्त्ववाद मे आशा और निराशा का यथार्थ अकन होता है ।

परिग्रह के लिए सामाजिक प्राणी कामनाए करते हैं । जैन उपासको का कामना-सूत्र है

१ कब मैं अल्प-मूल्य एव बहु-मूल्य परिग्रह का प्रत्याख्यान करूगा ।

२ कब मैं मुण्ड हो, गृहस्थपन छोड, साधुव्रत स्वीकार करूगा ।

३ कब मैं अपश्चिम-मारणान्तिक-सलेखना यानी अन्तिम अनशन मे शरीर को झोसकर—जुटाकर और भूमि पर गिरी हुई वृक्ष की डाली की तरह अडोल रखकर मृत्यु की अभिलाषा न करता हुआ विचरूगा ।

जैनाचार्य धार्मिक विचार मे बहुत ही उदार रहे है । उन्होने अपने अनुयायियो को केवल धार्मिक नेतृत्व दिया । उन्हें परिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था मे कभी नही बाधा । समाज-व्यवस्था को समाजशास्त्रियो के लिए सुरक्षित छोड दिया । धार्मिक विचारो के एकत्व की दृष्टि से जैन-समाज है, किंतु सामाजिक बधनो की दृष्टि से जैन-समाज का कोई अस्तित्व नही है ।

जैन-सस्कृति का रूप सदा व्यापक रहा है । उसका द्वार सबके लिए

खुला रहा है। उस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असाप्रदायिकता और जातीयता का अभाव है। व्यवहार-दृष्टिकोण मे जैनो के सम्प्रदाय हैं। पर उन्होने धर्म को सम्प्रदाय के साथ नहीं बांधा। वे जैन-सम्प्रदायो को नही, जैनत्व को महत्त्व देते हैं। जैनत्व का अर्थ है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र की आराधना।

कभी-कभी एक विचार प्रस्फुटित होता है—जैन-धर्म के अहिंसा सिद्धात ने भारत को कायर बना दिया, पर यह सत्य से बहुत दूर है। अहिंसक कभी-कायर नही होता। यह कायरता और उसके परिणामस्वरूप परतन्त्रता हिंसा के उत्कर्ष से, आपसी वैमनस्य से आयी और तब आयी, जब जैन धर्म के प्रभाव से भारतीय मानस दूर हो रहा था।

भगवान् महावीर ने समाज के जो नैतिक मूल्य स्थिर किए, उनमें दो बाते सामाजिक-राजनैतिक दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण थी

१ अनाक्रमण—सकल्पी हिंसा का त्याग।

२ इच्छा परिमाण—परिग्रह का सीमाकरण।

यह लोकतत्र या समाजवाद का प्रधान सूत्र है। वाराणसी सस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री आदित्यनाथ झा ने इस तथ्य को इन शब्दो मे अभिव्यक्त किया है—"भारतीय जीवन मे प्रज्ञा और चारित्र का समन्वय जैन और बौद्धो की विशेष देन है। जैन-दर्शन के अनुसार सत्य-मार्ग परम्परा का अन्धानुकरण नही है, प्रत्युत तर्क और उपपत्तियो से सम्मत तथा बौद्धिक रूप से सतुलित दृष्टिकोण ही सत्य-मार्ग है। इस दृष्टिकोण की प्राप्ति तब सभव है, जब मिथ्या विश्वास पूर्णत दूर हो जाए। इस बौद्धिक आधार-शिला पर ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के बल से सम्यक् चारित्र को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

"जैन-धर्म का आचारशास्त्र भी जनतत्रवादी भावनाओ से अनुप्राणित है। जन्मत सभी व्यक्ति समान हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और रुचि के अनुसार गृहस्थ या मुनि हो सकता है।

"अपरिग्रह सबधी जैन धारणा भी विशेषत उल्लेखनीय है। आज इस बात पर अधिकाधिक बल देने की आवश्यकता है, जैसा कि प्राचीन काल के जैन विचारको ने किया था। 'परिमित परिग्रह'—उनका आदर्श वाक्य था। जैन विचारको के अनुसार परिमित परिग्रह का सिद्धात प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य रूप से आचरणीय था। सम्भवत भारतीय आकाश मे समाजवादी समाज के विचारको का यह प्रथम उद्घोष था।"

प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति के विकास की क्षमता, आत्मिक समानता, क्षमा, मैत्री, विचारो का अनाग्रह आदि के बीज जैन-धर्म ने ही बोये थे। महात्मा गाधी का निमित्त पा, आज वे केवल भारत के ही नहीं, विश्व

की राजनीति के क्षेत्र मे पल्लवित हो रहे हैं ।

कला

जैन-परम्परा मे कला शब्द बहुत ही व्यापक-अर्थ मे व्यवहृत हुआ है । भगवान् ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल मे पुरुषो के लिए बहत्तर और स्त्रियो के लिए चौसठ कलाओ का निरूपण किया । टीकाकारो ने कला का अर्थ वस्तु-परिज्ञान किया है । इसमे लेख गणित, चित्र, नृत्य, गायन, युद्ध, काव्य, वेशभूषा, स्थापत्य, पाक मनोरजन आदि अनेक परिज्ञानो का समावेश किया गया है ।

धर्म भी एक कला है । यह जीवन की सबसे बडी कला है । जीवन के सारस्य की अनुभूति करने वाले तपस्वियो ने कहा है—'जो व्यक्ति सब कलाओ मे प्रवर धर्म-कला को नही जानता, वह बहत्तर कलाओ मे कुशल होते हुए भी अकुशल है ।' जैन-धर्म का आत्मपक्ष धर्म-कला के उन्नयन मे ही सलग्न रहा । बहिरग-पक्ष सामाजिक होता है । समाज विचार के साथ-साथ ललित कला का भी विस्तार हुआ ।

चित्रकला

जैन-चित्रकला का श्री गणेश तत्त्व-प्रकाशन से होता है । गुरु अपने शिष्यो को विश्व-व्यवस्था के तत्त्व 'स्थापना' के द्वारा समझाते है । स्थापना तदाकार और अतदाकार दोनो प्रकार की होती है । तदाकार स्थापना के दो प्रयोजन है—तत्त्व-प्रकाशन और स्मृति । तत्त्व-प्रकाशन-हेतुक स्थापना के आधार पर चित्रकला और स्मृति-हेतुक स्थापना के आधार पर मूर्तिकला का विकास हुआ । ताडपत्र और पत्तो पर ग्रथ लिखे गए और उनमे चित्र किये गए । विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी मे हजारो ऐसी प्रतिया लिखी गई, जो कलात्मक चित्राकृतियो के कारण अमूल्य हैं ।

ताडपत्रीय या पत्रीय प्रतियो के पुट्ठो, चातुर्मासिक प्रार्थनाओ, कल्याण-मदिर, भक्तामर आदि स्तोत्रो के चित्रो को देखे बिना मध्यकालीन चित्रकला का इतिहास अधूरा ही रहता है ।

योगी मारा गिरिगुहा [रामगढ की पहाडी, सरगुजा] और सितन्न-वासल [पद्दुकोटै राज्य] के भित्ति-चित्र अत्यन्त प्राचीन और सुन्दर है ।

चित्रकला की विशेष जानकारी के लिए **'जैन चित्र कल्पद्रुम'** देखना चाहिए ।

लिपि-कला

अक्षर-विन्यास भी एक सुकुमार कला है । जैन साधुओ ने इसे बहुत ही विकसित किया । वे सौन्दर्य और सूक्ष्मता—दोनो दृष्टियो से इसे उन्नति के शिखर तक ले गए ।

पन्द्रह सौ वर्ष पहले लिखने का कार्य प्रारम्भ हुआ और वह अब तक विकास पाता रहा है। लेखक-कला मे यतियो का कौशल विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है।

तेरापथ के साधुओ ने भी इस कला मे चमत्कार प्रदर्शित किया है। सूक्ष्म लिपि मे ये अग्रणी हैं। कई मुनियो ने ग्यारह इच लम्बे और पाच इच चौड़े पन्ने मे लगभग अस्सी हजार अक्षर लिखे हैं। ऐसे पत्र आज तक अपूर्व माने जाते रहे हैं।

जैन स्तूप

भारतीय स्थापत्य-भवन निर्माण एव मूर्ति कला क्षेत्र मे जैन परम्पराए अति प्राचीन है। मथुरा के पास स्थित ककाली टीले का उत्खनन करके पुराविदो ने एक अति प्राचीन स्तूप के भग्नावशेष निकाले हैं, जो डॉ० फूहरर् के शब्दो मे भारत मे बनी प्राचीनतम इमारत है।

गोलाकार तल के गोल चबूतरे पर जैन पद्धति से ढोल नुमा इमारत बनी है, जिसमे अर्द्धगोलाकार प्रदक्षिणा-पथ, आडी पटरिया और चारो दिशाओ मे तोरणद्वार बने है। वही मिले एक पेनल पर स्तूप की आकृति बनी है और पेनल पर कोट्टियगण, थानिय कुल और वैर शाखा के उल्लेख के साथ सवत् ९५ का लेख लिखा है।

स्तूप की खुदाई से सैकडो मूर्ति, शिलालेख और कलात्मक उपकरण मिले है।

मूर्तिकला और स्थापत्य-कला

सबसे प्राचीन जैन-मूर्ति पटना के लोहनीपुर स्थान से प्राप्त हुई है। यह मूर्ति मौर्यकाल की मानी जाती है और पटना म्यूजियम मे रखी हुई है। इसकी चमकदार पॉलिश अभी तक भी ज्यो की त्यो बनी है। मथुरा, लखनऊ, प्रयाग आदि के म्यूजियमो मे भी अनेक जैन-मूर्तिया मौजूद हैं। इनमे से कुछ गुप्त-कालीन हैं। मथुरा मे चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर की एक मूर्ति मिली है जो कुमारगुप्त के समय मे तैयार की गई थी। वास्तव मे मथुरा मे जैन-मूर्तिकला की दृष्टि से भी बहुत काम हुआ है।

खण्डगिरि और उदयगिरि मे ई० पू० १८८-३० तक की शुगकालीन मूर्ति-शिल्प के अद्भुत चातुर्य के दर्शन होते है। वहा पर इस काल की कटी हुई सौ के लगभग जैन गुफाए हैं, जिनमे मूर्ति-शिल्प भी हैं। दणिक्ष भारत के अलगामले नामक स्थान मे खुदाई मे जैन-मूर्तिया उपलब्ध हुई हैं, उनका समय ई० पू० ३००-२०० के लगभग बताया जाता है। उन मूर्तियो की सौम्याकृति द्राविडकला मे अनुपम मानी जाती है। श्रवण बेलगोला की प्रसिद्ध जैन-मूर्ति तो ससार की अद्भुत वस्तुओ मे से है। यह गोमटेश्वर बाहुबली की

सतावन फुट ऊची मूर्ति एक ही पत्थर मे उत्कीर्ण है। इसकी स्थापना राजमल्ल नरेश के प्रधानमन्त्री तथा सेनापति चामुण्डराय ने ई० सन् ९८३ मे की थी। यह अपने अनुपम सौन्दर्य और अद्भुत कान्ति से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यह विश्व को जैन-मूर्तिकला की अनुपम देन है।

मध्य भारत (बडवानी) मे भगवान् ऋषभदेव की ८४ फुट ऊची मूर्ति एशिया की सबसे बडी मूर्ति मानी जाती है।

जैन मूर्तिकला का विकास मथुरा-कला से हुआ।

जैन स्थापत्य-कला के सर्वाधिक प्राचीन अवशेष उदयगिरि, खण्डगिरि एव जूनागढ की गुफाओ मे मिलते हैं।

उत्तरवर्ती स्थापत्य की दृष्टि से चित्तौड का 'कीर्ति-स्तम्भ', आबू के मन्दिर एव रणकपुर के जैन मन्दिरो के स्तम्भ भारतीय शैली के रक्षक रहे हैं।[1]

पर्व और त्यौहार

जैनो के मुख्य पर्व चार हैं—

१ अक्षय तृतीया
२ पर्युषण और दस लक्षण
३ महावीर-जयन्ती
४ दीपावली

अक्षय तृतीया पर्व का सम्बन्ध आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ से है। उन्होने वैशाख सुदी तृतीया के दिन बारह महीनो की तपस्या का इक्षु-रस से पारणा किया। इसलिए वह इक्षु तृतीया या अक्षय तृतीया कहलाता है।

पर्युषण पर्व आराधना का पर्व है। भाद्र बदी १२ या १३ से भाद्र सुदी ४ या ५ तक यह पर्व मनाया जाता है। इसमे तपस्या, स्वाध्याय, ध्यान आदि आत्मशोधक प्रवृत्तियो की आराधना की जाती है। इसका अन्तिम दिन सम्वत्सरी कहलाता है। वर्ष भर की भूलो के लिए क्षमा लेना और क्षमा देना इसकी विशेषता है। यह पर्व मैत्री और उज्ज्वलता का सदेशवाहक है।

दिगम्बर-परम्परा मे भाद्र शुक्ला पचमी से चतुर्दशी तक दस लक्षण पर्व मनाया जाता है। इसमे प्रतिदिन क्षमा आदि दस धर्मों मे से एक-एक धर्म की आराधना की जाती है, इसे दस लक्षण पर्व कहा जाता है। दसलक्षण पर्व का समापन चतुर्दशी के दिन होता है जिसे "अनन्त चतुर्दशी" कहा जाता है।

महावीर जयन्ती चैत्र शुक्ला १३ को भगवान् महावीर के जन्म-दिवस

---

१ आबू आदि के विषय मे विस्तृत चर्चा "जैनो के कुछ विशिष्ट स्थल" के अन्तर्गत आगे की गई है।

के उपलक्ष मे मनाई जाती है।

दीपावली का सम्बन्ध भगवान् महावीर के निर्वाण से है। प्राचीनतम जैन ग्रथो मे यह बात स्पष्ट शब्दो मे कही गई है कि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि तथा अमावस्या के प्रभात के बीच सन्धि-वेला मे भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था तथा इस अवसर पर देवों तथा इद्रो ने दीपमालिका सजाई थी।

आचार्य जिनसेन ने हरिवशपुराण मे स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है कि दीपावली का महोत्सव भगवान् महावीर के निर्वाण की स्मृति मे मनाया जाता है। दीपावली की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे यही प्राचीनतम प्रमाण है।

अभ्यास

१ जैन सस्कृति के मूल आधार को स्पष्ट करें।

२ जैन कलाओ पर विस्तार से प्रकाश डालें।

: २ :

जैन धर्म का प्रसार

जैन धर्म का प्रभुत्व

भगवान् महावीर की जन्मभूमि, तपोभूमि और विहारभूमि बिहार था। इसलिए महावीर-कालीन जैन-धर्म पहले बिहार मे पल्लवित हुआ। कालक्रम से वह बगाल, उडीसा, उत्तर भारत, दक्षिण भारत, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रात और राजपूताना मे फैला। विक्रम की सहस्राब्दी के पश्चात् शैव, लिंगायत, वैष्णव आदि वैदिक सम्प्रदायो के प्रबल विरोध के कारण जैन-धर्म का प्रभाव सीमित हो गया। अनुयायियो की अल्प सख्या होने पर भी जैन-धर्म का सैद्धांतिक प्रभाव भारतीय चेतना पर व्याप्त रहा। बीच-बीच मे प्रभावशाली जैनाचार्य उसे उद्‌बुद्ध करते रहे। विक्रम की बारहवी शताब्दी मे गुजरात का वातावरण जैन-धर्म से प्रभावित था।

गूर्जर-नरेश जयसिंह और कुमारपाल ने जैन-धर्म को बहुत ही प्रश्रय दिया और कुमारपाल का जीवन जैन-आचार का प्रतीक बन गया था। सम्राट् अकबर भी हीरविजयसूरि से प्रभावित थे। अमेरिकी दार्शनिक विल ड्यूरेन्ट ने लिखा है--"अकबर ने जैनो के कहने पर शिकार छोड दिया था और कुछ नियत तिथियो पर पशु-हत्याए रोक दी थी। जैन-धर्म के प्रभाव से ही अकबर ने अपने द्वारा प्रचारित दीन-इलाही नामक सम्प्रदाय मे मास-भक्षण के निषेध का नियम रखा था।"

जैन मत्री, दण्डनायक और अधिकारियो के जीवन-वृत्त बहुत ही विश्रुत है। वे विधर्मी राजाओ के लिए भी विश्वासपात्र रहे हैं। उनकी प्रामाणिकता और कर्त्तव्यनिष्ठा की व्यापक प्रतिष्ठा थी। जैनत्व का अकन पदार्थों से नही, किन्तु चारित्रिक मूल्यो से ही हो सकता है।

भगवान् महावीर के युग मे जैन धर्म भारत के विभिन्न भागो मे फैला। सम्राट् अशोक के पौत्र सप्रति ने जैन-धर्म का सदेश भारत से बाहर भी पहुचाया। उस समय जैन-मुनियो का विहार-क्षेत्र भी विस्तृत हुआ। श्री विश्वम्भरनाथ पाडे ने अहिंसक-परम्परा की चर्चा करते हुए लिखा है—"ईस्वी सन् की पहली शताब्दी मे और उसके बाद के हजार वर्षों तक जैन-धर्म मध्यपूर्व के देशो मे किसी-न-किसी रूप मे यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म को प्रभावित करता रहा है।" प्रसिद्ध जर्मन इतिहास-लेखक वान

क्रेमर के अनुसार मध्य-पूर्व मे प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश है। इतिहास लेखक जी० एफ० मूर लिखता है कि 'हजरत ईसा के जन्म की शताब्दी से पूर्व ईराक, स्याम और फिलस्तीन मे जैन-मुनि और बौद्ध भिक्षु सैकडो की सख्या मे फैले हुए थे।' 'सियाहत नाम ए नासिर' का लेखक लिखता है कि ईस्लाम धर्म के कलन्दरी तबके पर जैन-धर्म का काफी प्रभाव पडा था। कलन्दर चार नियमो का पालन करते थे—साधुता, शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता। वे अहिंसा पर अखण्ड विश्वास रखते थे।

जैन-धर्म का प्रसार अहिंसा, शान्ति, मैत्री और सयम का प्रसार था। इसलिए उस युग को भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा जाता है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार पी० सी० रायचौधरी के अनुसार—'यह धम धीरे-धीरे फैला, जिस प्रकार ईसाई-धर्म का प्रचार यूरोप मे धीरे-धीरे हुआ। श्रेणिक, कुणिक, चद्रगुप्त, सप्रति, खारवेल तथा अन्य राजाओ ने जैन-धर्म को अपनाया। वे शताब्द भारत के हिन्दूशासन के वैभवपूण युग थे, जिन युगो मे जैन-धर्म-सा महान् धर्म प्रचारित हुआ।"

भगवान् महावीर के युग मे भारत मे गणतत्र और राजतत्र दोनो प्रकार की शासन-प्रणालिया प्रचलित थी। अनेक राजे महावीर के भक्त थे। अनेक राजे जैन परम्परा मे दीक्षित हुए। श्रेणिक, कूणिक, उदायि आदि राजाओ के पश्चात् नन्द राजाओ ने जैन धम को सरक्षण दिया। नन्दो के उत्तराधिकारी राजा जैन धम के प्रश्रय दाता रहे है। चद्रगुप्त मौर्य दृढ जैन था। वह आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण गया और उसन दक्षिण भारत मे कर्नाटक प्रदेश की 'चन्द्रगिरि' पहाडी पर समाधिपूर्ण मरण प्राप्त किया।

सम्राट् अशोक का पुत्र कुणाल जैन धर्मावलम्बी था। वह उज्जयिनी प्रदेश का राज्यपाल था। महाराज अशोक का पुत्र कुणाल अधा' हो गया था। उसके पुत्र का नाम था सम्प्रति। सम्प्रति ने अपने पराक्रम से दक्षिणापथ, सौराष्ट्र आध्र तथा द्राविड देशो पर विजय प्राप्त की थी। उसने अपने अधीनस्थ राजाओ को जैन धर्म की विशेषताआ से परिचित कराया और जैन मुनियो के विहार की देख-रेख करने का निर्देश दिया। जैन-मुनियो का विहार-क्षेत्र विस्तृत हो गया। सप्रति के प्रयास से ही जैन मुनि आध्र, द्रविड, महाराष्ट्र आदि सीमा-स्थित प्रदेशो मे जाने-आन लगे। उसने ई० पू० २३२ से १६० तक लगभग ४२ वर्ष तक राज्य किया। आचार्य सुहस्ती उसके धर्म-गुरु थे। लगभग ६० वर्ष की आयु मे उसकी मृत्यु हुई। जैन धर्म के उद्धारक के रूप मे महाराज सप्रति का नाम प्रसिद्ध है। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अशोक ने जो काम किया, उससे अधिक सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए किया।

सम्राट् सम्प्रति को 'परम-आर्हत्' कहा गया है। उन्होने अनार्य-देशो

में श्रमणो का विहार करवाया था। भगवान् महावीर के काल मे विहार के लिए जो आर्य-क्षेत्र की सीमा थी, वह सप्रति के काल मे बहुत विस्तृत हो गई थी।

सम्राट् सप्रति को भारत के तीन खण्डो का अधिपति कहा गया है। जयचद्र विद्यालकार ने लिखा है—'सप्रति को उज्जैन मे जैन आचार्य सुहस्ती ने अपने धर्म की दीक्षा दी। उसके बाद सम्प्रति ने जैन-धर्म के लिए वही काम किया जो अशोक ने बौद्ध धर्म के लिए किया था। चाहे चद्रगुप्त के और चाहे सप्रति के समय मे जैन-धर्म की बुनियाद तामिल भारत के नए राज्यो मे भी जा जमी, इसमे सदेह नही। उत्तर-पश्चिम के अनार्य देशो मे भी सम्प्रति ने जैन-प्रचारक भेजे और वहा जैन-साधुओ के लिए अनेक विहार स्थापित किए। अशोक और सम्प्रति दोनो के कार्य से आर्य सस्कृति एक विश्व-शक्ति बन गई और आर्यावर्त का प्रभाव भारत वर्ष की सीमाओ के बाहर तक पहुच गया। अशोक की तरह उसके पुत्र ने भी अनेक इमारते बनवाई। राजपूताना की कई जैन-इमारते उसके समय की कही जाती है।" कुछ विद्वानो का अभिमत है कि जो शिलालेख अशोक के नाम से प्रसिद्ध हैं, उनमे से कुछ सम्राट् सप्रति ने लिखवाए थे। सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद श्री सूर्यनारायण व्यास ने भी यह प्रमाणित किया है कि सम्राट् अशोक के नाम के लेख सम्राट् सप्रति के हैं।

उडीसा का राजा खारवेल भी कट्टर जैन धर्मावलम्बी था। उसका जन्म लगभग ई० पू० १९० मे हुआ। पन्द्रह वर्ष की आयु म उन्हे युवराज-पद प्राप्त हुआ। २५ वर्ष की आयु मे उनका राज्याभिषेक हुआ। उन्होने लगभग १३ वर्ष तक राज्य किया।

वे कलिग (उडीसा) के समर्थ शासक थे। इनका वश 'चेति' था। उसने पराक्रम से अनेक देशो को जीतकर अपने राज्य मे मिलाया, राज्य-प्राप्ति के तेरहवें वर्ष मे श्रावक व्रत स्वीकार किए। उन्होने केवल तेरह वर्ष तक राज्य किया, किन्तु कलिग का प्रभाव सारे भारत पर व्यापक हो गया। शेष जीवन इन्होने धर्माराधना मे बिताया।

इनका इतिहास-प्रसिद्ध हाथीगुम्फा शिलालेख उडीसा प्रदेश के पूरी जिले मे स्थित भुवनेश्वर से तीन मील दूरी पर उदयगिरि पर्वत पर बने हुए हाथीगुम्फा मदिर के मुख एव छत पर उत्कीर्ण है। इसकी तिथि ई० पू० १५२ मानी जाती है। इस शिलालेख का प्रारम्भ अर्हतो और सिद्धो की वदना से होता है।

उसमे यह भी लिखा गया कि ई० पू० १५३ मे कुमारी पर्वत पर उन्होने जैन मुनियो और श्रावको का महा सम्मेलन किया और उसमे द्वादशागी श्रुत के उद्धार के लिए प्रयत्न किया। खारवेल के पश्चात् भी उडीसा मे

लगभग सात शताब्दियो तक जैन धर्म का प्रभुत्व रहा ।

इस प्रकार एक सहस्राब्दी तक उत्तर एव दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानो पर जैन मतावलम्बी राजे, मत्री, कोटपाल, कोषाध्यक्ष आदि थे। गुजरात, सौराष्ट्र आदि प्रदेशो मे उसके पश्चात् भी जैन धर्म का प्रभुत्व बना रहा।

जैन-धर्म भारत के विविध अञ्चलो में

बिहार

भगवान् महावीर के समय मे उनका धर्म प्रजा के अतिरिक्त अनेक राजाओ द्वारा स्वीकृत था । वज्जियो के शक्तिशाली गणतन्त्र के प्रमुख राजा चेटक भगवान् महावीर के श्रावक थे । वे पहले से ही जैन थे । वे भगवान् पार्श्व की परम्परा को मान्य करते थे । वज्जी गणतन्त्र की राजधानी 'वैशाली' थी । वहा जैन-धर्म बहुत प्रभावशाली था ।

मगध मे भी जैन-धर्म प्रभावशाली था । मगध सम्राट् श्रेणिक की रानी चेल्लणा चेटक की पुत्री थी । यह श्रेणिक को निर्ग्रंथ धर्म का अनुयायी बनाने का सतत प्रयत्न करती थी और अन्त मे उसका प्रयत्न सफल हो गया । श्रेणिक का पुत्र कूणिक भी जैन था । जैन-आगमो मे महावीर और कूणिक के अनेक प्रसग हैं ।

मगध-शासक शिशुनाग-वश के बाद नंद-वश का राज्य वर्तमान बम्बई के सुदूर दक्षिण गोदावरी तक फैला हुआ था । उस समय मगध और कलिंग मे जैन-धर्म का प्रभुत्व था ही, परन्तु अन्यान्य प्रदेशो मे भी उसका प्रभुत्व बढ रहा था ।

नद-वश की समाप्ति हुई और मगध की साम्राज्यश्री मौर्य-वश के हाथ मे आई । उसका पहला सम्राट् चन्द्रगुप्त था । उसने उत्तर-भारत मे जैन-धर्म का बहुत विस्तार किया । पूर्व और पश्चिम भी उससे काफी प्रभावित हुए । सम्राट् चन्द्रगुप्त अपने अन्तिम जीवन मे मुनि बने और श्रुतकेवली भद्र-बाहु के साथ दक्षिण मे गए थे । चन्द्रगुप्त के पुत्र बिंदुसार और उनके पुत्र अशोकश्री [सम्राट् अशोक] हुए । अशोक के उत्तराधिकारी उनके पौत्र सम्प्रति थे ।

बंगाल

राजनीतिक दृष्टि से प्राचीन-काल मे बगाल का भाग्य मगध के साथ जुडा हुआ था । नदो और मौर्यों ने गगा की उस निचली घाटी पर अपना अधिकार बनाए रखा । कुषाणो के समय मे बगाल उनके शासन से बाहर रहा, परन्तु गुप्तो ने उस पर अपना अधिकार फिर स्थापित किया । गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् बगाल मे छोटे-छोटे अनेक राज्य उठ खडे हुए ।

भगवान् महावीर वज्रभूमि (वीरभोम) मे गए थे। उस समय वह अनार्य-प्रदेश कहलाता था। उससे पूर्व बगाल मे भगवान् पार्श्व का ही धर्म प्रचलित था।

भगवान् महावीर के सातवें पट्टधर श्री श्रुतकेवली भद्रबाहु पौण्ड्र-वर्धन (उत्तरी बगाल) के प्रमुख नगर कोट्टपुर के सोमशर्मा पुरोहित के पुत्र थे।

उनके शिष्य स्थविर गोदास से गोदास-गण का प्रवर्तन हुआ। उसकी चार शाखाए थी—तामलित्तिया' कोडिवरिसिया, पुण्डबद्धणिया (पोडवद्धणिया), दासीखब्बडिया।

तामलित्तिया का सम्बन्ध बगाल की मुख्य राजधानी ताम्रलिप्ती से है। कोडिवरिसिया का सम्बन्ध राढ की राजधानी कोटि-वर्ष से है। पोडबद्धणिया का सम्बन्ध पौंड्र—उत्तरी बगाल से है। दासीखब्बडिया का सम्बन्ध खरवट से है। इन चारो बगाली शाखाओ से बगाल मे जैन-धर्म के सार्वजनिक प्रसार की सम्यक् जानकारी मिलती है।

उडीसा

ई० पूर्व दूसरी शताब्दी मे उडीसा मे जैन-धर्म बहुत प्रभावशाली था। सम्राट् खारवेल का उदयगिरि पर्वत पर हाथीगुफा का शिलालेख इसका स्वयभू प्रमाण है। लेख का प्रारम्भ—'नमो अरहताण, नमो सव-सिधान'—इस वाक्य से होता है।

उत्तर-प्रदेश

भगवान् पार्श्व वाराणसी के थे। काशी और कौशल—ये दोनो राज्य उनके धर्मोपदेश से बहुत प्रभावित थे। वाराणसी का अलक्ष्य राजा भी भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हुआ था। उत्तराध्ययन मे प्रव्रजित होने वाले राजाओ की सूची मे काशीराज के प्रव्रजित होने का उल्लेख है।

उत्तर भारत म भी जैन धर्म का प्रभुत्व बना रहा। कभी वह कम हो जाता और कभी बढ जाता। कुषाण सम्राटो के शासनकाल (ई० ७५-२५०) तक, विशेषकर मथुरा जनपद मे जैन-धर्म उन्नत और प्रभावशाली रहा। तीसरी शताब्दी के लगभग जब कुषाणो की पराजय हुई, तब जैन-धर्म का प्रभाव भी हट गया, किन्तु आगन्तुक भद्रक, अर्जुनायन आदि युद्धोपजीवी गणराज्य जैनो के प्रति सहिष्णु बने रहे। जैन मुनियो के विहरण मे कोई बाधा नही आई।

गुप्तकाल का प्रारम्भ लगभग ई० ३२० माना जाता है। गुप्त-नरेश यद्यपि जैन नही थे, फिर भी वे जैन-धर्म के प्रति-सहिष्णु थे। उनका वर्चस्व छठी शताब्दी के मध्य तक रहा।

कन्नौज का प्रतापी सम्राट् हर्षवर्धन (ई ६०६-६४७) का विशेष झुकाव जैन-धर्म की ओर नहीं था, फिर भी वह जैन विद्वानो का समर्थक और प्रतिष्ठापक था।

राजस्थान

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् मरुस्थल (वर्तमान राजस्थान) मे जैन-धर्म का प्रभाव बढ गया था।

आचार्य रत्नप्रभसूरि वीर-निर्वाण की पहली शताब्दी मे उपकेश या ओसिया मे आए थे। उन्होने वहा ओसिया के सवालाख नागरिको को जैन-धर्म मे दीक्षित किया और उन्हे एक जैन-जाति (ओसवाल) के रूप मे परिवर्तित कर दिया। यह घटना वीर-निर्वाण के ७० वर्ष बाद की है। अजमेर के निकट बडली (ग्राम) मे वीर-निर्वाण सवत् ८४ का एक शिलालेख उपलब्ध हुआ है, उससे भी यहा जैन धर्म के व्यापक प्रसार का पता लगता है।

पंजाब (हरियाणा) और सिन्धु-सौवीर

भगवान् महावीर ने साधुओ के विहार के लिए चारो दिशाओ की सीमा निर्धारित की, उसमे पश्चिमी सीमा 'स्थूणा' (कुरुक्षेत्र) है। इससे जान पडता है कि पजाब का स्थूणा तक का भाग जैन-धर्म से प्रभावित था। साढे पच्चीस आर्य-देशो की सूची में भी कुरु का नाम है।

सिंधु-सौवीर दीर्घकाल से श्रमण-सस्कृति से प्रभावित था। भगवान् महावीर महाराज उद्रायण को दीक्षित करने वहा पधारे थे।

मध्य-प्रदेश

ग्यारहवी और बारहवी शताब्दी के लगभग बुन्देलखण्ड मे जैन-धर्म बहुत प्रभावशाली था। आज भी वहा उसके अनेक चिह्न मिलते हैं।

राष्ट्रकूट-नरेश जैन-धर्म के अनुयायी थे। उनका कलचूरि-नरेशो से गहरा सम्बन्ध था। कलचूरि की राजधानी त्रिपुरा और रत्नपुर मे आज भी अनेक प्राचीन जैन-मूर्तिया और खण्डहर प्राप्त हैं।

चन्देल राज्य के प्रधान नगर खजुराहो मे मिले लेख तथा प्रतिमाओ के अध्ययन से जैन-मत के प्रचार का ज्ञान होता है। प्रतिमाओ के पादासनो पर खुदे लेख यह प्रमाणित करते हैं कि राजाओ के अतिरिक्त साधारण जनता भी जैन-मत मे विश्वास रखती थी। मालवा अनेक शताब्दियों तक जैन-धर्म का प्रमुख-क्षेत्र था। व्यवहार-भाष्य मे बताया गया है कि अन्यतीर्थिको के साथ वाद-विवाद मालव आदि क्षेत्रो मे करना चाहिए। इससे जाना जाता है कि अवन्तीपति चण्डप्रद्योत तथा विशेषत सम्राट् सम्प्रति से लेकर भाष्य-रचना-काल तक वहा जैन-धर्म प्रभावशाली रहा है।

सौराष्ट्र-गुजरात

सौराष्ट्र जैन-धर्म का प्रमुख केन्द्र था। भगवान् अरिष्टनेमि से वहा जैन परपरा चल रही थी। सम्राट् सम्प्रति के राज्यकाल मे वहा जैन-धर्म को अधिक बल मिला था। सूत्रकृताग चूर्णि मे सौराष्ट्र-वासी श्रावक का उल्लेख मगधवासी श्रावक की तुलना मे किया गया है। जैन-साहित्य मे 'सौराष्ट्र' का प्राचीन नाम 'सुराष्ट्र' मिलता है। विक्रम की दूसरी शताब्दी मे दिगम्बर आचार्य धरसेन सौराष्ट्र के गिरिनगर की चन्द्रगुफा मे निवास करते थे। उन्होने षट्खण्डागम के रचयिता भूतबलि और पुष्पदन्त को श्रुताभ्यास करवाया।

सौराष्ट्र के दूसरे नगर वल्लभी मे भी श्वेताम्बर-जैनो की दो आगम-वाचनाए हुई थीं। ईसा की चौथी शताब्दी मे जब आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व मे मथुरा मे आगम-वाचना हो रही थी, उस समय आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व मे वह वल्लभी मे हो रही थी।

ईसा की पाचवी शताब्दी मे फिर वहीं आगम-वाचना के लिए एक परिषद् आयोजित हुई। उसका नेतृत्व देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने किया।

गुजरात के चालुक्य, राष्ट्रकूट, चावडा, सोलकी आदि राजवशी भी जैन-धर्म के अनुयायी या समर्थक थे।

बंबई-महाराष्ट्र

सम्राट् सम्प्रति से पूर्व जैनो की दृष्टि मे महाराष्ट्र अनार्य-देश की गणना मे था। उसके राज्यकाल मे जैन साधु वहा विहार करने लगे। उत्तरवर्ती-काल मे वह जैनो का प्रमुख विहार-क्षेत्र बन गया था। जैन-आगमो की भाषा महाराष्ट्री-प्राकृत से बहुत प्रभावित है। कुछ विद्वानो ने प्राकृत-भाषा के रूप का 'जैन-महाराष्ट्री-प्राकृत' ऐसा नाम रखा है।

ईसा की आठवीं-नौवी शताब्दी मे विदर्भ पर चालुक्य राजाओ का शासन था। दसवीं शताब्दी मे वहा राष्ट्रकूट राजाओ का शासन था। ये दोनो राजवश जैन धर्म के पोषक थे। उनके शासन-काल में वहा जैन-धर्म खूब फला-फूला।

नर्मदा तट

नर्मदा-तट पर जैन-धर्म के अस्तित्व के उल्लेख पुराणो मे मिलते हैं। वैदिक आर्यों से पराजित होकर जैन-धर्म के उपासक लोग नर्मदा के तट पर रहने लगे। कुछ काल बाद वे उत्तर भारत मे फैल गए थे। हैहय-वश की उत्पत्ति नर्मदा-तट पर स्थित माहिष्मती के राजा कार्तवीर्य से मानी जाती है। भगवान् महावीर का श्रमणोपासक चेटक हैहय-वंश का ही था।

दक्षिण भारत

दक्षिण भारत मे जैन-धर्म का प्रभाव भगवान् पार्श्व और महावीर से पहले ही हो चुका था। जिस समय द्वारका का दहन हुआ था, उस समय भगवान् अरिष्टनेमि पल्हव देश मे थे। वह दक्षिणापथ का ही एक राज्य था। उत्तर-भारत मे जब दुर्भिक्ष हुआ, भद्रबाहु दक्षिण मे गए। यह कोई आकस्मिक सयोग नही, किन्तु दक्षिण भारत मे जैन-धर्म के सम्पर्क का सूचक है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि ईसा की पहली शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत मे जैन-धर्म सबसे अधिक शक्तिशाली धर्म था। पाड्य, गग, राष्ट्रकूट, कलचूरी और होयसल वश के अनेक राजा जैन थे। पश्चिमी चालुक्य वश के शासक जैन-धर्म के सरक्षक के रूप मे विख्यात थे। राष्ट्रकूट वश के राजा भी जैन-धर्म को पल्लवित करने तथा उसको संरक्षण देने मे अग्रणी रहे हैं।

तमिल देश के चोलवशीय शासक यद्यपि जैन नही थे, फिर भी उन्होने जैन-धर्म को पर्याप्त सहयोग देकर उसका सरक्षण किया।

कलचूरि वश के सस्थापक त्रिभुवनमल्ल विज्जल [११५६-११६७] के सभी दान-पत्रो मे जैन-तीर्थंकर का चित्र अकित मिलता है। वह स्वय जैन था।

मैसूर के होयसल वश के राजा जैन थे। विजयनगर के राजाओ की जैन-धर्म के प्रति सहिष्णुता रही है। उन्होने अनेक स्थानो पर जैन मन्दिर बनवाए, मूर्तिया स्थापित की और जैन मुनियो को सरक्षण दिया।

१२ वी शती के अन्त से १८ वी के अन्त तक मुसलमानो के आक्रमण के कारण सभी धर्म-परपराओ को प्रहार सहने पडे। जैन धर्म भी उससे अछूता नही रहा। फिर भी उत्तर भारत और दक्षिण भारत के अनेक अचलों में जैन-धर्म के शासक, जैन-धर्म के सरक्षक या जैन-धर्म के पोषक राजा राज्य करते रहे और यह धर्म जनमानस को अहिंसा, सत्य आदि शाश्वत तत्त्वों की ओर आकृष्ट करता रहा।

विदेशों में जैन-धर्म

जैन-साहित्य के अनुसार भगवान् ऋषभ, पार्श्व और महावीर ने अनार्य देशो में विहार किया था। सूत्रकृताग के एक श्लोक से अनार्य का अर्थ 'भाषा-भेद' भी फलित होता है। इस अर्थ की छाया में हम कह सकते हैं कि चार तीर्थंकरो ने उन देशो मे भी विहार किया, जिनकी भाषा उनके मुख्य विहार-क्षेत्र की भाषा से भिन्न थी।

भगवान् ऋषभ ने बहली [बैक्ट्रिया, बलख], अंडबइल्ला [अटक प्रदेश], यवन [यूनान], सुवर्णभूमि [सुमात्रा], पण्हव आदि देशो मे विहार

किया। पण्हव का सम्बन्ध प्राचीन पार्थिया [वर्तमान ईरान का एक भाग] से है।

भगवान् अरिष्टनेमि दक्षिणापथ के मलय देश मे गए थे। जब द्वारका-दहन हुआ था, तब अरिष्टनेमि पल्हव नामक अनार्य देश मे थे।

भगवान् पार्श्वनाथ ने कुरु, कौशल, काशी, सुम्ह, अवन्ती, पुण्ड्र, मालव, अग, बग, कलिंग, पाचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्णाटक, कोकण, लाट, द्राविड, काश्मीर, कच्छ, शाक, पल्लव, वत्स, आभीर आदि देशो मे विहार किया था। दक्षिण मे कर्णाटक, कोकण, पल्लव, द्राविड आदि उस समय अनार्य माने जाते थे। शाक भी अनार्य प्रदेश है। इसकी पहिचान शाक्यदेश या शाक्य-द्वीप से हो सकती है। शाक्य भूमि नेपाल की उपत्यका मे है। वहा भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे। भगवान् बुद्ध का चाचा स्वयं भगवान् पार्श्व का श्रावक था। शाक्य-प्रदेश मे भगवान् का विहार हुआ हो, यह बहुत सम्भव है। भारत और शाक्य-प्रदेश का बहुत प्राचीन-काल से सबन्ध रहा है।

भगवान् महावीर पूर्व मे बगाल की ओर वज्रभूमि, सुम्हभूमि, दृढभूमि आदि अनेक अनार्य-प्रदेशो मे गए थे।

उत्तर-पश्चिम सीमाप्रात एव अफगानिस्तान मे विपुल सख्या मे जैन श्रमण विहार करते थे।

जैन श्रावक समुद्र पार जाते थे। उनकी समुद्र-यात्रा और विदेश-व्यापार के अनेक प्रमाण मिलते हैं। लका मे जैन श्रावक थे, इसका उल्लेख सिंहली साहित्य मे भी मिलता है। महावश के अनुसार ई० पू० ४३० मे जब अनुराधापुर बसा, तब जैन श्रावक वहा विद्यमान थे। वहा अनुराधापुर के राजा पाडुकाभय ने ज्योतिय निग्गठ के लिए घर बनवाया। उसी स्थान पर गिरि नामक निग्गठ रहते थे। राजा पाडुकाभय ने कुम्भण्ड निग्गठ के लिए भी एक देवालय बनवाया था।

जैन श्रमण भी सुदूर देशो तक विहार करते थे। ई० पू० २५ मे पाड्य राजा ने अगस्टस् सीजर के दरबार मे दूत भेजे थे। उनके साथ श्रमण भी यूनान गए थे।

ईसा से पूर्व ईराक, शाम और फिलिस्तीन मे जैन-मुनि और बौद्ध-भिक्षु सैकडो की सख्या मे चारो ओर फैले हुए थे। पश्चिमी एशिया, मिश्र, यूनान और इथोपिया के पहाडो और जगलो मे उन दिनो अगणित भारतीय साधु रहते थे, जो अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। ये साधु वस्त्रो तक का परित्याग किए हुए थे।

यूनानी लेखक मिस्र, एबीसीनिया, इथोपिया मे दिगम्बर मुनियो का अस्तित्व बताते हैं।

आर्द्र देश का राजकुमार आर्द्र भगवान् महावीर के सघ मे प्रव्रजित हुआ था। अरबिस्तान के दक्षिण मे 'एडन' बन्दर वाले प्रदेश को 'आर्द्र-देश' कहा जाता था। कुछ विद्वान् इटली के एड्रियाटिक समुद्र के किनारे वाले प्रदेश को आर्द्र-देश मानते हैं।

इब्न-अन नजीम के अनुसार अरबो के शासन-काल मे यहिया-इब्न-खालिद-बरमकी ने खलीफा के दरबार और भारत के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध स्थापित किया। उसने बडे अध्यवसाय और आदर के साथ भारत के हिन्दू, बौद्ध और जैन विद्वानो को आमत्रित किया।

इस प्रकार मध्य एशिया मे जैन-धर्म या श्रमण-सस्कृति का काफी प्रभाव रहा था। उससे वहा के धर्म प्रभावित हुए थे। वानक्रेमर के अनुसार मध्य-पूर्व मे प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय 'श्रमण' शब्द का अपभ्रश है।

श्री विश्वम्भरनाथ पाडे ने लिखा है—"इन साधुओ के त्याग का प्रभाव यहूदी धर्मावलम्बियो पर विशेष रूप से पडा। इन आदर्शों का पालन करने वालो की, यहूदियो मे एक खास जमात बन गई, जो 'ऐस्सनी' कहलाती थी। इन लोगो ने यहूदी-धर्म के कर्मकाण्डो का पालन त्याग दिया। ये बस्ती से दूर जगलो मे या पहाडो पर कुटी बनाकर रहते थे। जैन-मुनियो की तरह अहिंसा को अपना खास धर्म मानते थे। मास खाने से उन्हे बेहद परहेज था। वे कठोर और सयमी जीवन व्यतीत करते थे। पैसा या धन को छूने तक से इन्कार करते थे। रोगियो और दुर्बलो की सहायता को दिनचर्या का आवश्यक अग मानते थे। प्रेम और सेवा को पूजा-पाठ से बढकर मानते थे। पशु-बलि का तीव्र विरोध करते थे। शारीरिक परिश्रम से ही जीवन-यापन करते थे। अपरिग्रह के सिद्धात पर विश्वास करते थे। समस्त सपत्ति को समाज की सपत्ति समझते थे। मिश्र मे इन्ही तपस्वियो को 'थेरापूते' कहा जाता था। 'थेरापूते' का अर्थ 'मौनी-अपरिग्रही' है।"

कालकाचार्य सुवर्णभूमि [सुमात्रा] मे गए थे। उनके प्रशिष्य श्रमण सागर भी अपने गण सहित वहा गए थे।

क्रौचद्वीप, सिहलद्वीप (लका) और हसद्वीप मे भगवान् सुमतिनाथ की पादुकाए थी। पारकर देश और कासहृद मे भगवान् [illegible]देव की प्रतिमा थी।

इस सक्षिप्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुच सकते हैं कि जैन-धर्म का प्रसार हिन्दुस्तान के बाहर देशो मे भी हुआ था।

जैनो के कुछ विशिष्ट तीर्थ-स्थल

१. आबू

दक्षिणी राजस्थान के सिरोही जिले के अन्तर्गत आबू की रमणीय

पहाडिया हैं। इसका प्राचीन नाम अर्बुद है।

आबू जैन मन्दिरो के लिए प्रख्यात है। उनमे दो प्रमुख हैं। भगवान् ऋषभ का मन्दिर सोलकी-नरेश के मन्त्री विमलशाह ने ईसवी सन् १०३२ मे बनवाया। भगवान् नेमि के मन्दिर के निर्माता है वस्तुपाल और तेजपाल। ये दोनो सगे भाई थे। इनके पास अपार सम्पत्ति थी। इन्होने पत्थर को उत्कीर्ण करने वाले कारीगरो को, पत्थर निकलने वाले टुकडो के बराबर चादी देकर उनका उत्साह बढाया। कारीगर पत्थर मे जीवन उडेलने मे तत्पर हुए और आज भी यह मन्दिर अपनी उत्कीर्ण-कला का उत्कृष्ट नमूना है। माना जाता है कि इसमे करोडो रुपये खर्च हुए। इसका निर्माण ईस्वी सन् १२३२ मे हुआ।

२ सम्मेद शिखर (पारसनाथ)

यह बिहार के हजारीबाग जिले का महत्त्वपूण स्थान है। इसकी पहचान वर्तमान पारसनाथ हिल से की जाती है। यह पहाडी ईसरी स्टेशन से दो मील दूर है। यहा बीस तीर्थंकर सलेखनापूर्वक समाधि-मरण कर निर्वाण को प्राप्त हुए थे। इसे समाधिगिरि, समिदगिरि भी कहा जाता है।

३ शत्रुजय

सौराष्ट्र मे पालीताना स्टेशन से दो मील दूरी पर एक पवत-शृखला है। वह शत्रुजय के नाम मे प्रसिद्ध है। इस पहाडी पर भगवान् ऋषभ का भव्य मन्दिर है। जैन तीर्थों मे यह आदि तीर्थ माना जाता है। इसका दूसरा नाम पुण्डरीक है। प्रतिवर्ष अक्षय तृतीया के दिन यहा 'बरसी तप' का पारणा करने के लिए हजारा तपस्वी उपासक-उपासिकाए और अन्य हजारा यात्री आते है।

पहाड पर चढने के लिए भव्य सोपान-मार्ग है। नगर बडी-बडी धर्मशालाओ से भरा पडा है। यहा सैकडो जैन साधु-साध्विया हैं। महाराज कुमारपाल ने लाखो रुपये खर्च कर यहा के मन्दिरो का जीर्णोद्धार करवाया था। यहा से अनेक मुनि निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। थावच्चापुत्त का यहीं निर्वाण हुआ था।

४ श्रवणबेलगोला

जैनो का यह प्रसिद्ध तीर्थ कर्णाटक प्रात के हासन जिले मे है। यह चन्द्रगिरि और विध्यगिरि, इन दो पर्वतो की तलहटी मे एक सरोवर पर स्थित है। यह मैसूर नगर से ६२ मील की दूरी पर है। इसे गोम्मट तीर्थ कहा जाता है। यहा गोमटेश्वर बाहुबली की ५७ फुट [पाच सौ धनुष्य] ऊची मूर्ति है। इसकी स्थापना राजमल्ल नरेश के प्रधानमन्त्री तथा सेनापति चामुण्डराय ने कराई थी। विद्वानो ने स्थापना की तिथि २३ मार्च, सन् १०२८

निश्चित की है। यह नयनाभिराम मूर्ति एक ही पत्थर मे उत्कीर्ण है। यह विश्व का आठवा आश्चर्य माना जा सकता है। बारह वर्षों मे एक बार इसका मस्तकाभिषेक होता है।

चामुण्डराय का घरेलू नाम 'गोम्मट' था। सम्भव है इसलिए उनके द्वारा निर्मित और स्थापित मूर्ति को भी 'गोम्मटेश्वर' कहा गया। सिद्धात-चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने चामुण्डराय का उल्लेख 'गोम्मटराय' के नाम से किया है और पचसग्रह ग्रन्थ का नाम 'गोम्मटसार' रखा। श्रवणबेलगोल मे लगभग ५०० शिलालेख हैं। श्रवणबेलगोल तीन शब्दो से बना है। श्रवण का अर्थ है—जैन मुनि, बेल का अर्थ है—श्वेत और गोल का अर्थ है—सरोवर। श्रवणबेलगोल अर्थात् जैन मुनियो का धवल सरोवर।

५. राणकपुर

अरावली पर्वत-शृखलाओ के मध्य राणकपुर (रणकपुर) नाम का गाव है। यह राजस्थान के पाली जिले के अन्तर्गत है। यह फालना स्टेशन से लगभग २२ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है।

माना जाता है कि नदीपुर गाव मे जिनेश्वर उपासक धरणाशाह को एक रात्रि मे स्वप्न आया। उसमे उन्होने 'नलिनी गुल्म' विमान देखा। उस विमान की आकृति से प्रभावित होकर उन्होने उसी आकृति का जिनालय बनवाने की प्रतिज्ञा ली। दूर-दूर से शिल्पी आमन्त्रित किए गए। प्रारम्भिक रेखाचित्र बने। इनमे म मुडारा गाव के देपाक नामक शिल्पी का रेखाचित्र पसन्द किया गया और उसी के अनुसार विक्रम सवत् १४६५ मे जिनालय की नीव डाली और १४९८ मे वह मन्दिर तैयार हो गया। इसमे लगभग एक करोड रुपया व्यय हुआ। यह मन्दिर अपनी सानी का बेजोड मन्दिर है। इसमे २४ रगमडप १८४ भूगृह, ८५ शिखर और १४४४ स्तम्भ हैं। आदिनाथ की मूर्ति की स्थापना इस प्रकार की गई है कि व्यक्ति मन्दिर मे किसी भी स्थान पर, किसी भी कोण मे खडा रहे, उसे प्रतिमा के दर्शन होते हैं। इसका प्रस्तर-शिल्प बहुत ही अनोखा और हृदयग्राही है।

इस मन्दिर के निर्माता धरणाशाह के सम्बन्ध मे एक किवदन्ती प्रचलित है कि एक दिन धरणाशाह मदिर का निर्माण देखने गए। एक दीपक जल रहा था। उसके तैल मे एक मक्खी गिर गई। धरणाशाह ने तैल से सनी मक्खी को निकाल कर अपनी जूती पर रख ली, जिससे कि मक्खी के शरीर पर लगा तैल जूती पर जाए, व्यर्थ न चला जाए। शिल्पियो ने यह देखा। वे आश्चर्यचकित रह गए। उनका मन सदेह से भर गया कि ऐसा कजूस व्यक्ति इतना बडा जिनालय कैसे बनवा सकेगा? परीक्षा करने के लिए उन्होने एक दिन धरणाशाह से कहा—नीवो मे सर्वधातुओ का प्रयोग करना

होगा क्योंकि इतना विशाल जिन-भवन पत्थर की नींव पर टिक नहीं पायेगा। शिल्पियों की बात सुनकर धरणाशाह ने विपुल मात्रा में 'सर्वधातु' एकत्रित कर उन्हें विस्मित कर दिया। धरणाशाह यह मानता था कि व्यर्थ एक पैसे भी खर्च न हो और आवश्यक खर्च में तनिक भी कमी न हो।

६ राजगृह (राजगिरि)

बिहारशरीफ से दक्षिण की ओर १३-१४ मील की दूरी पर स्थित राजगृह प्राचीन राजगिरि है। इसे गिरिव्रज भी कहा जाता है, क्योंकि यह पांच पहाड़ियों से घिरा हुआ है। इन पांच पहाड़ियों के नाम ये है—विपुल, रत्न, उदय, स्वर्ण और वैभार। इनमें विपुल और वैभार पर्वत का बहुत महत्त्व है। अनेक मुनियों ने विपुलाचल पर तपस्या कर मोक्ष प्राप्त किया था। आज भी वहा अनेक गुफाए है। यह पांच पहाड़ियों में सबसे ऊंची पहाड़ी है।

वैभार पर्वत के नीचे गरम पानी का एक कुंड है। इसका वर्णन जैन आगम भगवती में भी आया है। आज भी वहा गरम पानी का स्रोत विद्यमान है। वह चर्मरोग-निवारण का उपाय बताया जाता है। हजारों लोग वहा नहाते है।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध ने राजगृह में अनेक चातुर्मास बिताए थे। महावीर प्रायः वहा के गुणशील चैत्य में ठहरते थे। वर्तमान में नवादा स्टेशन से लगभग तीन मील की दूरी पर स्थित 'गुणावा' को प्राचीन गुणशील माना जाता है।

७ ऋषभदेवजी

राजस्थान के दक्षिणी अंचल में धुलेव नाम का कस्बा है। यह उदयपुर से ६४ किलोमीटर दूर उपत्यकाओं से घिरा हुआ है। यहां 'कोयल' नाम की नदी बहती है। यहीं ऋषभदेव का विशाल मन्दिर है। यह एक किलोमीटर के घेरे में स्थित पक्के पाषाण का मन्दिर है। माना जाता है कि पहले यहा ईंटों का बना हुआ मन्दिर था। वह टूट गया। फिर १४ वीं–१५ वीं शताब्दी में यह पाषाणमय मन्दिर बना। इस मन्दिर के गर्भगृह में भगवान् ऋषभदेव की पद्मासन में स्थित श्यामवर्णीय भव्य प्रतिमा है। इसकी ऊंचाई साढ़े तीन फुट की है। इस मूर्ति पर केसर अधिक चढ़ाई जाती है, इसलिए इसे 'केसरियाजी' या 'केसरियानाथजी' भी कहते हैं। यह प्रतिमा बहुत ही चामत्कारिक है। इसलिए जैन, अजैन, भील तथा अन्य जाति के लोग यहा हजारों की संख्या में आते है और मनौती मनाते हैं। भील लोग इस मूर्ति को 'कालाजी' कहकर पुकारते है और उनके मन में इसके प्रति इतनी श्रद्धा और विश्वास है कि 'कालाजी की आण' को वे सर्वोपरि मानते हैं।

जैन-धर्म : विकास और ह्रास

विश्व की प्रत्येक प्रवृत्ति को उतार-चढाव का सामना करना पडा है। कोई भी प्रवृत्ति केवल उन्नति और अवनति के बिन्दु पर अवस्थित नहीं रहती।

जैन धर्म के विकास के मुख्य हेतु हैं

१ मध्यम मार्ग—जैन आचार्यों ने गृहस्थ के लिए अणुव्रतों का विधान कर उसकी सामाजिक अपेक्षाओ का द्वार बन्द नही किया।

२ समन्वय—जैन धर्म के भिन्न-भिन्न विचारो का सापेक्ष दृष्टि से समन्वय होने के कारण वह विभिन्न विचारधारा के लोगो को अपनी ओर आकृष्ट कर सका।

३ समाहार—जैन धर्म मे जातिवाद की तात्त्विकता मान्य नही थी, इसलिए सभी जाति के लोग उसे अपनाते रहे।

४ परिवर्तन की क्षमता—जैन आचार्यों ने सामाजिक परम्परा को शाश्वत का रूप नही दिया। इसलिए जैन समाज मे देश और काल के अनुसार परिवर्तन का अवकाश रहा। यह जनता के आकर्षण का सबल हेतु रहा।

५ सैद्धान्तिक सहिष्णुता—दूसरो धर्मों मे सिद्धातो को सहने की क्षमता के कारण जैन धर्म दूसरो की सहानुभूति अर्जित करता रहा।

६ जन-भाषा का प्रयोग।

७ अहिंसा का व्यवहार मे प्रयोग।

८ प्रामाणिकता—जैन गृहस्थ अहिंसा-पालन के साथ-साथ कर्त्तव्य के प्रति बहुत जागरूक थे। वे देश के विकास और रक्षा के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर देते थे।

दक्षिण के जैन समाज ने जीविका [अन्नदान], शिक्षा [ज्ञानदान], चिकित्सा [औषधदान] और अहिंसा [अभयदान] के माध्यम से जैन-धर्म को जन-धर्म का रूप दे दिया था।

९ सशक्त और कुशल आचार्यों का नेतृत्व।

विक्रम की नवीं-दसवी शताब्दी मे इन स्थितियो मे परिवर्तन आने लगा। फलत जैन-धर्म का विकास अवरुद्ध हो गया।

ह्रास के मुख्य हेतु ये हैं —

१ आतरिक पवित्रता और शक्ति की कमी, बाह्य कर्मकाडो की प्रचुरता।

२ व्यक्तिवादी मनोवृत्ति—दूसरो की हानि से मुझे क्या ? मैं दूसरों के लिए क्यो कर्म बांधू ? इस प्रकार के ऐकातिक निवृत्तिवादी चितन के

परस्परता के बन्धन मे शिथिलता ला दी ।

दक्षिण भारत मे जैन-धर्म के ह्रास के मुख्य तीन कारण है —

१ जैन जागृति करने वाले प्रभावशाली आचार्यों के कार्यकाल मे बहुत बड़ा व्यवधान ।

२ ऐसे नेतृत्व का अभाव जो राजनीति और धर्मनीति को साथ-साथ लेकर चल सके ।

३ अन्य धर्मों के बढते हुए प्रभाव की उपेक्षा और अपने आपको एकातत आध्यात्मिक बनाए रखने की प्रवृत्ति ।

दक्षिण के मुख्य दो प्रातो मे ह्रास के अन्यान्य कारण भी रहे हैं

१. तमिलनाडु मे ह्रास के कारण

१ शैव नयनार और वैष्णव आल्वारो का उदय ।

२ उनके द्वारा जातिवाद का बहिष्कार कर अपने धर्म-सघ मे नीची जाति वालो का प्रवेश ।

३ राजधर्म को प्रभावित कर राजाओ को अपने मत के प्रति आकृष्ट करना ।

४ जैन स्तुतियो का अनुकरण कर शैव स्तुतियो का निर्माण करना ।

२. कर्नाटक मे ह्रास के कारण

१ राष्ट्रकूट और गगवशीय राजाओ का अन्त ।

२ वीर शैवमत के उदयकाल मे जैन आचार्यों की उपेक्षा और उनके प्रभाव को रोक पाने की अक्षमता ।

३ बसवेश्वर द्वारा प्ररूपित 'लिगायत' धर्म के बढते चरण को रोक न पाना ।

४ अनेक राजाओ का शैव-मत मे दीक्षित हो जाना ।

विकास और ह्रास कालचक्र के अनिवार्य नियम है । इस विषय मे कोई भी वस्तु केवल विकास या ह्रास की रेखा पर अवस्थित नही रहती । आरोह के बाद अवरोह और अवरोह के बाद आरोह चलता रहता है । जैन धर्म के अनुयायी-समाज की सख्या मे ह्रास हुआ है । किन्तु भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित शाश्वत सत्यो का ह्रास नही हुआ है । उनके सापक्षता, सह-अस्तित्व, अहिसा, मानवीय एकता, नि शस्त्रीकरण, स्वतत्रता और अपरिग्रह के सिद्धात विश्वमानस मे निरन्तर विकसित होते जा रहे है ।

अभ्यास

१ जैन धर्म का प्रसार देश-विदेशो मे कहा-कहा हुआ तथा उसमे किन-किन व्यक्तियो का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा ?

२ निम्नलिखित स्थलो का जैन तीर्थ-क्षेत्र की दृष्टि से परिचय दें . आबू, राणकपुर, श्रवणबेलगोला, राजगृह।

३ जैन धर्म के विकास और ह्रास के मुख्य कारणो को विस्तार से समझाए।

ι

: ३ :

चिन्तन के विकास में जैन आचार्यों का योग

श्रद्धावाद-हेतुवाद

चिंतन की तुलना सरिता के उस प्रवाह से की जा सकती है जिसका उद्गम छोटा होता है और गतिशील होने के साथ-साथ वह विशालकाय होता चला जाता है। भारतीय मानस श्रद्धा-प्रधान रहा है। उसमे तर्क-बीज की अपेक्षा श्रद्धा-बीज अधिक अकुरित हुए हैं। इसीलिए यहा मौलिक चिंतक अपेक्षाकृत कम हुए हैं। धर्म के क्षेत्र मे कुछ महान् साधक, अवतार या तीर्थंकर हुए हैं। वे हिमालय की भाति अत्यन्त महान् थे। उनकी महानता तक मौलिक चिंतक भी नही पहुच पाते थे। फलत उनके प्रति चिंतकों का श्रद्धावनत होना स्वाभाविक था। साधारण जन तो श्रद्धावनत था ही किंतु साधारण जन की श्रद्धा और चिंतक की श्रद्धा मे एक अन्तर था। साधारण जन अपने श्रद्धेय की हर वाणी को श्रद्धा से स्वीकार करता था। चिंतक अपने श्रद्धेय की महान् आध्यात्मिक उपलब्धि के प्रति श्रद्धावनत होने पर भी उनके प्रत्येक वचन को श्रद्धा से स्वीकार करने का आग्रह नही करता था। आचार्य सिद्धसेन (लगभग विक्रम की चतुर्थ शताब्दी) जैन परम्परा म मौलिक चिन्तक हुए है। उनकी ज्ञान-गरिमा अगाध थी। वे भगवान् महावीर के प्रति अत्यन्त श्रद्धा-प्रणत थे, किन्तु साथ-साथ अपने स्वतन्त्र चिन्तन का भी प्रयोग करते थ। उन्होने अनेक तथ्यो पर अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त किया। उस समय के श्रद्धावादी आचार्यों और मुनियो ने उनके सामने तर्क उपस्थित किया—'जो तथ्य आगम-ग्रन्थो मे प्रतिपादित हैं, उनके प्रतिकूल किसी भी सिद्धान्त की स्थापना कैसे की जा सकती है?' आचार्य सिद्धसेन ने इस तर्क का सीधा खण्डन भी नही किया और उनके मत का समर्थन भी नही किया। उन्होने स्याद्वाद की शैली से एक नया चिन्तन प्रस्तुत किया। उन्होने बताया कि महावीर न दो प्रकार के तत्त्वो का प्रतिपादन किया है—हेतुगम्य, अहेतुगम्य।

अहेतुगम्य तत्त्व चिंतन और तर्क की सीमा से परे होते हैं। उन्हे समझने के लिए तर्क का उपयोग नही हो सकता। वे श्रद्धा के विषय है। हम अतीन्द्रिय-तत्त्व और अतीन्द्रिय-ज्ञान को स्वीकार करते है। तर्क इन्द्रिय ज्ञान की परिधि मे होता है। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—'भते! जैसे हम श्वास लेते हैं, वैसे ही क्या पृथ्वीकाय के जीव भी श्वास लेते हैं?'

भगवान् ने इसका स्वीकारात्मक उत्तर दिया। इन्द्रिय के द्वारा यह गम्य नहीं है, इसलिए यह तर्क का विषय भी नही है। किन्तु महावीर ने क्या ऐसे तत्त्वो का प्रतिपादन नही किया, जो इद्रियगम्य हैं और जिनकी व्याख्या तर्क के द्वारा की जा सकती है? आचार्य सिद्धसेन ने यह चिन्तन प्रस्तुत किया कि जो व्यक्ति अहेतुगम्य तत्त्वो का आगम-प्रामाण्य के द्वारा और हेतुगम्य तत्त्वों का तर्क-प्रामाण्य के द्वारा प्रतिपादन करता है, वह आगम के हृदय को यथार्थ समझता है और उनका यथार्थ प्रतिपादन करता है। जो व्यक्ति हेतुगम्य और अहेतुगम्य दोनो तत्त्वो को केवल आगम-प्रामाण्य से समझने का प्रयत्न और प्रतिपादन करता है, उसने आगम के यथार्थ को नही समझा और उनके प्रतिपादन की यथार्थ पद्धति भी उसे प्राप्त नही है।

इस विचार का बीज-वपन निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने किया था। उनका युग तर्कशास्त्र के विकास का प्रारम्भिक युग था। इसलिए उन्होने आगम और दृष्टान्त—इन दो शब्दो का प्रयोग किया था—आगमगम्य तत्त्व आगम के द्वारा और दृष्टान्तगम्य तत्त्व दृष्टान्त के द्वारा जानने चाहिए। आचार्य सिद्धसेन तकशास्त्र के विकासकर्त्ताओ मे अग्रणी थे। इसलिए उन्होने दृष्टान्त के स्थान पर हेतुवाद का प्रयोग किया है।

आचार्य सिद्धसेन ने स्वतत्र चिंतन और हेतुवाद का जो मूल्याकन किया, वह सबको मान्य नही हुआ। फलत जैन परम्परा मे दो धाराए निर्मित हो गईं—सिद्धातवादी और तर्कवादी।

सिद्धान्तवादी आगमिक प्रतिपादन को शब्दश और अक्षरश स्वीकार करते थे। तर्कवादी आगम के हेतुगम्य तत्त्वो की तार्किक समीक्षा भी करते थे और उनके साथ नया चिंतन भी जोडते थे। सिद्धान्तवादियो ने अपनी सारी शक्ति आगमिक वचनो के समर्थन मे लगाई, जबकि तार्किक विद्वानो की शक्ति अपने समसामयिक दार्शनिको के तर्कों को समझने और उनकी जैन-पद्धति से मीमासा करने मे लगी। उन्होने दूसरे दर्शनो से कुछ लिया और उन्हे कुछ देने का प्रयत्न भी किया। यह समाचार की वृत्ति सत्य को अनेकात दृष्टि से देखने पर ही प्राप्त हो सकती थी। आचार्य सिद्धसेन ने सत्य को व्यापक दृष्टि से देखा तभी उन्हे यह दिखाई दिया कि विश्व के किसी भी दर्शन मे जो सुप्रतिपादित है, वह महावीर के वचन का ही बिन्दु है। वे महावीर को एक व्यक्ति के रूप मे नही देखते हैं। उनके लिए महावीर एक आत्मा है। आत्मा ही परम सत्य है। जहा कही भी सत्य के कण दिखाई देते हैं, वे सब आत्मा की ज्योति के ही स्फुलिंग हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने आचार्य सिद्धसेन के अभिमत को सहज भाषा मे प्रस्तुत किया है—"जिस किसी समय में, जिस किसी रूप मे और जिस किसी नाम से, आप प्रकट हो, यदि आप वीतराग हैं, तो आप मेरे लिए एक ही हैं। मैं वीतराग के प्रति प्रणत हू, देश, काल तथा

नाम और रूप के प्रति प्रणत नही हू।"

जैन धर्म यथार्थवादी है। पौराणिक काल मे अपने इष्टदेव का अति-शयोक्तिपूर्ण वर्णन करने की होड-सी लगी थी। फलत जितने भी महापुरुष हुए, उनका मानवीय रूप दैवी चमत्कारो से आवृत हो गया। यह स्थिति यथार्थ-वाद के अनुकूल नही थी। आचार्य समन्तभद्र ने इस पर तीव्र प्रहार किया। उन्होने इन चमत्कारो को महानता का मानदण्ड मानने से अपनी असहमति प्रकट की। उन्होने महावीर को चमत्कारो के आवरण से निकालकर यथार्थ-वाद के आलोक मे देखने का प्रयत्न किया। उनका प्रसिद्ध श्लोक है—

देवागमनभोयान-चामरादिविभूतय ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥

"भगवन्! देवताओ का आना, आकाश-विहार, छत्र-चामर आदि विभूतिया ऐन्द्रजालिक व्यक्तियो के भी हो सकती है। आपके पास देवता आते थे। आप छत्र, चामर आदि अनेक यौगिक विभूतियो से सम्पन्न थे। आप इसलिए महान् नही। आप इसलिए महान् हैं कि आपने सत्य को अनावृत किया था।"

आचार्य हेमचन्द्र ने भी चिन्तन की इसी धारा को विकसित किया। उन्होने कहा—"आपके चरण-कमल मे इन्द्र लोटते थे, इस बात का दूसरे दार्शनिक खण्डन कर सकते हैं या अपने इष्टदेव को भी इद्रपूजित कह सकते हैं, किन्तु आपने जो यथार्थवाद का निरूपण किया, उसका वे निराकरण कैसे करेंगे।

यथार्थवाद मे सत्य का स्वीकार श्रद्धा से नही होता। न व्यक्ति के प्रति श्रद्धा और न सिद्धात के प्रति श्रद्धा। दोनो की परीक्षा की जाती है। आचार्य हरिभद्र ने इस सत्य को निरपेक्ष शब्दो म अभिव्यक्त किया है। वे कहते हैं—'महावीर के प्रति मेरा कोई पक्षपात नही है और कपिल आदि दार्शनिको के प्रति मेरा कोई द्वेष नही है। मैं इस विचार का व्यक्ति हू कि जिसका विचार युक्तियुक्त हो, उनका अनुगमन करना चाहिए। आचार्य हेम-चन्द्र ने इस वास्तविकता को बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे उजागर किया है। उन्होने लिखा है—"भगवन्! श्रद्धा से आपके प्रति हमारा पक्षपात नही है। अन्य दार्शनिको के प्रति द्वेष के कारण हमारी अरुचि नही है। हमने आप्तत्व की परीक्षा की है। उस परीक्षा मे आप खरे उतरते है, इसलिए हमने आपका अनुगमन किया है।"

प्राचीनता और नवीनता

पुरानी और नयी पीढी का सघर्ष बहुत पुराना है। पुराने व्यक्ति और पुरानी कृति को मान्यता प्राप्त होती है। नये व्यक्ति और नये कृति को

मान्यता प्राप्त करनी होती है। मनुष्य स्वभाव से इतना उदार नही है कि वह सहज ही किसी को मान्यता दे दे। नयी पीढ़ी मे मान्यता प्राप्त करने की छटपटाहट होती है और पुरानी पीढ़ी का अपना अह होता है, अपना मानदण्ड होता है, इसलिए वह नयी पीढ़ी को नये मानदण्डो के आधार पर मान्यता देने मे सकुचाती है। यह सघर्ष साहित्य, आयुर्वेद और धर्म—सभी क्षेत्रो में रहा है।

महाकवि कालिदास को अपने काव्य और नाटक के प्रति पुराने विद्वानो द्वारा उपेक्षापूर्ण व्यवहार किये जाने पर यह कहने के लिए बाध्य होना पडा—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्य नवमित्यवद्यम्।
सन्त. परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धि.॥

"पुराना होने मात्र से कोई काव्य प्रकृष्ट नही होता और नया होने मात्रा से कोई काव्य निकृष्ट नहीं होता। साधुचेता पुरुष परीक्षा के बाद ही किसी काव्य को प्रकृष्ट या निकृष्ट बतलाते है और जो मूढ होता है, वह बिना सोचे-समझे पुराणता का गीत गाता रहता है।"

आचार्य वाग्भट्ट ने अष्टागहृदय का निर्माण किया। आयुर्वेद के धुरधर आचार्यों ने उसे मान्य नही किया। वाग्भट्ट को भी पुरानी पीढ़ी के तिरस्कार का पात्र बनना पडा। उसी मन स्थिति मे उन्होने यह लिखा—"वायु की शाति के लिए तैल, पित्त की शाति के लिए घी और श्लेष्म की शाति के लिए मधु पथ्य है। यह बात चाहे ब्रह्मा कहे या ब्रह्मा का पुत्र, इसमे वक्ता का क्या अन्तर आएगा? वक्ता के कारण द्रव्य की शक्ति मे कोई अन्तर नही आता, इसलिए आप मात्सर्य को छोड मध्यस्थ दृष्टि का अवलबन लें।'

प्राचीनता और नवीनता के प्रश्न पर महाकवि कालिदास और वाग्भट्ट का चिन्तन बहुत महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इस विषय मे आचार्य सिद्धसेन की लेखनी ने जो चमत्कार दिखाया है, वह प्राचीन भारतीय साहित्य मे दुर्लभ है। उनका चिन्तन है कि कोई व्यक्ति नया नही है और कोई पुराना नहीं है। जिसे हम पुराना मानते हैं, एक दिन वह भी नया था और जिसे हम नया मानते हैं, वह भी एक दिन पुराना हो जाएगा। आज जो जीवित है, वह मरने के बाद नयी पीढ़ी के लिए पुरानो की सूची मे आ जाता है। पुराणता अवस्थित नहीं है, इसलिए पुरातन व्यक्ति की कही हुई बात पर भी बिना परीक्षा किए कौन विश्वास करेगा?

आचार्य सिद्धसेन ने भगवान् महावीर की अभय की भावना को आत्मसात् कर लिया था। वे सत्य के प्रकाशन में सकुचाते नहीं थे। मुक्त-समीक्षा और प्राचीनता की युक्तिसगत आलोचना के कारण उनका विरोध बढ़ रहा था। वे इस स्थिति से परिचित थे, किन्तु स्वतत्रचेता व्यक्ति इस प्रकार की स्थिति से घबराता नही। उनका अभय स्वर इस भाषा मे प्रस्फुटित हुआ—

"पुराने पुरुषो ने जो व्यवस्था निश्चित की है, क्या वह चिन्तन करने पर उसी रूप मे सिद्ध होगी ? नही भी हो सकती है । उस स्थिति मे मृत पुरखो की जमी हुई प्रतिष्ठा के कारण उस असिद्ध व्यवस्था का समर्थन करने के लिए मेरा जन्म नही हुआ है । इस व्यवहार से यदि मेरे विद्वेषी बढते हैं, तो भले ही बढें ।

"व्यवस्थाए या मर्यादाए अनेक प्रकार की है और वे परस्पर विरोधी भी है । उनका शीघ्र ही निर्णय कैसे किया जा सकता है ? फिर भी 'यह मर्यादा है, यह नही है,' इस प्रकार का एकपक्षीय निर्णय करना पुरातन के प्रेम से जड बने हुए व्यक्ति के लिए ही उचित हो सकता है, किसी परीक्षक के लिए नही ।

"पुरातन प्रेम के कारण आलसी बना हुआ व्यक्ति जैसे-जैसे यथाथ का निश्चय नही कर पाता, वैसे-वैसे वह निश्चय किए हुए व्यक्ति की भाति प्रसन्न होता है । वह कहता है, हमारे पूवज ज्ञानी थे । उन्होने जो कुछ कहा, वह मिथ्या कैसे हो सकता है ? मैं मन्दमति हू, उसका आशय नही समझ सकता, यह मेरी अल्पता है । किन्तु गुरुजनो की कही हुई बात अन्यथा नही हो सकती । ऐसा निश्चय करने वाला व्यक्ति आत्म-नाश की ओर दौडता है ।

'शास्त्रकार हमारे जैसे ही मनुष्य थे । उन्होने मनुष्यो के लिए ही मनुष्यो के व्यवहार और आचार निश्चित किए है । जो लोग परीक्षा करने मे आलसी है, वे ही यह कह सकते है कि उनकी थाह नही पायी जा सकती, उनका पार नही पाया जा सकता । किन्तु परीक्षक व्यक्ति उन्हे अगाध मानकर कैसे स्वीकार करेगा ? वह परीक्षापूवक ही उन्हें स्वीकार कर सकता है ।

"एक शास्त्र असम्बद्ध और अस्त-व्यस्त रचा हुआ होता है, फिर भी वह पुरातन पुरुषो के द्वारा रचित है, यह कहकर उसकी प्रशसा करते हैं । आज का बना हुआ शास्त्र सम्बद्ध और सगत है, फिर भी नवीन होने के कारण उसे नही पढते । यह मात्र स्मृति का मोह है, परीक्षा का विवेक नही है ।"

अल्पवया शिशु की बात युक्तिसगत हो सकती है और पुराने पुरुषो की कही हुई बात दोषपूर्ण हो सकती है, इसलिए हमे परीक्षक बनना चाहिए । नवीनता की उपक्षा और प्राचीनता का मोह हमारे लिए उचित नही है—यह विक्रम की पाचवी शती का चिन्तन आज के वैज्ञानिक युग मे और अधिक मूल्यवान् बन गया है ।

काल हेतुक अवरोध और उनके फलित

भारतीय चिन्तन का यह व्यापक रूप रहा है कि पुरातन काल सतयुग

था, वर्तमान युग कलिकाल है। इसमें प्रकृष्टता निकृष्टता की ओर चली जाती है। इस चिन्तन के आधार पर भारतीय जनता का विश्वास दृढ हो गया है कि प्राचीन काल मे जो अच्छाइया, क्षमताए और विशेषताएं थीं, वे इस कलिकाल मे समाप्त हो चुकी हैं और रही-सही समाप्त होती जा रही हैं—इस चिन्तनधारा ने एक विचित्र प्रकार की हीन भावना उत्पन्न कर दी। लगभग पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व कुछ जैन मुनि यह मानने लगे थे कि वर्तमान मे धर्म नही है, व्रत नही है और चरित्र विच्छिन्न हो गया है। वर्तमान मे जो जैन शासन चल रहा है वह ज्ञान और दर्शन के आधार पर चल रहा है। किन्तु आज कोई साधु नहीं है। चिन्तन की इस धारा ने विकास का द्वार अवरुद्ध कर दिया। मुनिजन यह मानकर चलने लगे कि इस दुषमाकाल मे विशिष्ट साधना और विशिष्ट उपलब्धि नही हो सकती। इस धारणा का प्रभाव भी हुआ। साधना के पथ मे अभिनव उन्मेष लाने की मनोवृत्ति शिथिल हो गई। जब यह मान लिया जाता है कि आज विशिष्टता की उपलब्धि नही हो सकती, फिर उसके लिए प्रयत्न करने की स्फुरणा भी नहीं रहती। कुछ मनीषी मुनियो का ध्यान इस हीनभावना की मनोवृत्ति और उसके फलितो पर गया। उन्होने इसका प्रतिवाद किया। भाष्यकार सघदासगणी ने कहा—"जो मुनि यह कहते हैं कि वर्तमान मे साधुत्व नहीं है, उन्हें श्रमण-सघ से बहिष्कृत कर देना चाहिए।" आचार्य रामसेन ने इसका सशक्त समर्थन किया कि वर्तमान में ध्यान हो सकता है, उसका विच्छेद नही हुआ है।

कुछ विच्छित्तियो के बारे मे किसी आचार्य ने कुछ नही कहा। यह बहुत ही विमर्शनीय है। विच्छेदो की चर्चा श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ के आचार्यों ने की है। तुलनात्मक दृष्टि से श्वेताम्बर आचार्यों ने अधिक की है। दिगम्बर-परम्परा मे ध्यान, कायोत्सर्ग और प्रतिमा के अभ्यास की परम्परा दीर्घकाल तक चली। दिगम्बर आचार्यों ने योग-विषयक ग्रन्थ रचे। श्वेताम्बर परम्परा मे ध्यान का अभ्यास सुदूर अतीत मे ही कम हो गया था। श्वेताम्बर आचार्यों मे जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, आचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय यशोविजयजी आदि कुछेक विद्वान् ही योग ग्रन्थो के निर्माता हुए हैं। आचार्यश्री तुलसी ने योग पर 'मनोनुशासनम्' नाम का ग्रन्थ लिखा। उसके निर्माण की अवधि में उन्होने कहा—"यौगिक उपलब्धियो के विच्छेद की बात साधक के मन मे पहले से ही न बिठाई जाती, तो आज तक जैन परम्परा मे योग का अधिक विकास हुआ होता।"

साधना करने वाले सब व्यक्तियो का अध्यवसाय समान नही होता। उनकी क्षमता भी समान नही होती। गति मे तारतम्य होता है, किन्तु लक्ष्य समान होता है। कौन कितना आगे बढ सके, यह उस पर निर्भर है। पहले

ही हम उसे अवरोध-पट्ट दिखा दें कि इससे आगे नही जा सकते, तो उसके चरण प्रारम्भ मे ही ठिठक जाते है। आचार्य हेमचन्द्र ने कलिकाल के निमित्त से निर्मित किए गए अवरोधो को तोडने के लिए महत्त्वपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया। उन्होने लिखा कि—"सुषमाकाल मे साधक लम्बी तपस्या के बाद फल प्राप्त करते थे। यह कलिकाल ही ऐसा है, जिसमे साधक अल्पकालीन तपस्या से ही फल प्राप्त कर लेता है। फिर कलिकाल क्या बुरा है? हमे कृतयुग से क्या प्रयोजन?

"लोग कहते है कि कलिकाल मे लोग बहुत उच्छृखल और दुष्ट होते है। क्या कृतयुग मे ऐसे लोग नही थे? यह सच है कि उस युग मे भी ऐसे लोग थे। फिर हम कलिकाल पर व्यर्थ ही क्यो कुपित होते है?"

अध्यात्म का उन्मेष

भगवान् महावीर का दर्शन आत्मा का दर्शन है। उसके आदि, मध्य और अत मे सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है। उसकी गहराइयो मे जाने का प्रयत्न अध्यात्म है। इस बिन्दु को दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द (विक्रम की प्रथम शताब्दी) ने सर्वाधिक विकसित किया। वे जैन परम्परा मे अध्यात्म के मुख्य प्रवक्ता थे। भगवान् महावीर ने मोक्ष के चार मार्ग बतलाए—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। इनकी व्याख्या अनेको आचार्यो ने की। वे सब व्याख्याए व्यवहारनय पर आश्रित है। व्यवहारनय स्थूल और बुद्धिगम्य दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। निश्चयनय का दृष्टिकोण सूक्ष्म और आत्मगम्य है। अध्यात्म का प्रवक्ता निश्चयनय का आलम्बन लेकर चलता है। आचार्य कुन्दकुन्द की अनेक व्याख्याए और स्थापनाए निश्चयनय पर अवलम्बित है। उन्होने निश्चयनय के आधार पर कहा—"आत्मा को जानना ही सम्यक् ज्ञान है, उसे देखना ही सम्यक् दर्शन है और उसमे रमण करना ही सम्यक् चारित्र है।"

उन्होने व्यवहारनय का अस्वीकार नही किया और सामाजिक जीवन मे उसका अस्वीकार किया भी नही जा सकता। तत्त्व के गहन पर्यायो तक हर आदमी नही पहुच सकता। उसकी पहुच तत्त्व के कुछेक स्थूल पर्यायो तक होती है। उसे वास्तविक सत्य तक ले जाने के लिए स्थूल सत्य का आलम्बन लेना आवश्यक होता है।

व्यवहार की भूमिका पर जीने वाले धार्मिक लोग स्वर्ग के प्रलोभन और नर्क के भय से ही धर्म की बात सोचते है। उनकी दृष्टि पुण्य और पाप तक पहुचती है। परमार्थदर्शी की दृष्टि (निश्चयनय) मे आत्मा ही सब कुछ है। आचार्य कुन्दकुन्द का तर्क है कि "अशुभ और शुभ दोनो ही कर्म जीव को बाधते है, मुमुक्षु व्यक्ति के लिए दोनो ही वाछनीय नही है।"

विक्रम की सातवीं शताब्दी मे भी जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने पुण्य और पाप को इसी कोण से देखा। उन्होने सुख-दुख की मीमांसा करते हुए लिखा—"पुण्य का फल दुख है क्योकि वह कर्म का उदय ही है। जैसे कर्म का उदय होने के कारण पाप का फल दुख होता है।"

विक्रम की उन्नीसवी शताब्दी मे आचाय भिक्षु ने पुण्य और पाप की निश्चयनय से मीमासा की। उन्होने लिखा--पुण्य वाछनीय नहीं है। उसकी इच्छा करने से भी पाप का बध होता है।

जैसे-जैसे न्यायशास्त्र या तर्कशास्त्र का विकास होता गया, वैसे-वैसे साम्प्रदायिक अभिनिवेश और वाद-विवाद बढता गया। जैन आचार्यों के सामने लोकैपणा और लोकसग्रह का प्रश्न गौण था, अहिंसा का प्रश्न मुख्य। वे तर्क के क्षेत्र मे प्रवेश करके भी अहिंसा को नहीं छोड सकते थे। उन्होने तर्क पर अध्यात्म के अकुश को रखना सदा पसद किया। आचार्य सिद्धसेन महान् तार्किक थे। उन्होने जैन परम्परा को तार्किक दृष्टि से समृद्ध किया था। फिर भी विवाद और वितण्डा उन्हे काम्य नही थे। अहिंसा या अध्यात्म के सिद्धान्त मे विश्वास करने वाला इसी भाषा मे सोचेगा और बोलेगा। उन्होने अपने समय की स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है—'श्रेय किसी दूसरी दिशा मे है और हमारे धुरधर वादी (तर्क के आधार पर वाद-विवाद करने वाले) किसी दूसरी दिशा मे जा रहे है। किसी भी मुनि ने वाक्-युद्ध को शिव (मोक्ष) का उपाय नही बतलाया है।" सिद्धसेन, समतभद्र, अकलक आदि आचार्यों ने अनेकात के बीज को विकसित किया वैसे ही हरिभद्रसूरि ने समाधि-योग का बीज विकसित किया। महर्षि पतजलि के योगदर्शन की प्रसिद्धि के बाद प्रत्येक दर्शन की साधना-पद्धति योग के नाम से प्रसिद्ध हो गई। जैन धर्म की साधना-पद्धति का नाम मोक्षमार्ग था। हरिभद्रसूरि ने मोक्षमार्ग को योग के रूप मे प्रस्तुत किया। इस विषय मे योगविंशिका, योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं। उन्होने योग की परिभाषा इस प्रकार की—धर्म का समग्र प्रवाह मोक्ष के साथ योग कराती है, इसलिए वह योग है।' इसमे महर्षि पतजलि की 'योगश्चित्त-वृत्ति-निरोध', गीता की 'समत्व योग उच्यते', 'योग कर्मसु कौशलम्' इन सब परिभाषाओ की समन्विति है।

आत्मा का अनुभव उन व्यक्तियो को होता है, जो ध्यान की गहराई मे उतरते हैं। ऐसे व्यक्ति बहुत कम होते हैं। साधारण जन अनुगमन करते हैं। अनुगमन करने वालो मे न अपना अनुभव होता है और न किसी सत्य का साक्षात्कार। इसलिए वे अपनी अनभूति से नही चलते। वे दूसरो की अनुभूति को मानकर चलते हैं। धर्म के क्षेत्र मे ऐसे लोगो की [illegible] होती है, तब अध्यात्म की ज्योति वाद-विवाद की राख मे [illegible] ती है। जैन

आचार्यों ने समन्वय की धारा को प्रवाहित कर अध्यात्म की ज्योति को प्रज्व-लित रखने का महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया है। अनेकान्त की दृष्टि और स्याद्-वाद की भाषा उन्हें प्राप्त थी। उन्होने उसका उपयोग कर जनता को बताया कि अध्यात्म सबका एक है। यह दिखाई देनेवाला भेद निरूपण का है। जितने निरूपण के प्रकार हैं, उतने ही नय (दृष्टिकोण) हैं। नय सापेक्ष (relative) होते हैं। आप एक नय को दूसरे नय से निरपेक्ष कर देखते हैं, तब दोनो नयो मे विरोध प्रतिभासित होता है। दो नयो को समन्वित कर देखते हैं, तब वे दोनो एक-दूसरे के पूरक रूप मे दिखाई देते हैं।

सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलक, हरिभद्रसूरि, देवनदी, हेमचद्र, यशो-विजयजी आदि मनीषियो ने सब दर्शनो का समन्वय कर अध्यात्म का निर्वि-वाद दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होने जैन-शास्त्रो मे चर्चित विषयो की सांख्य, बौद्ध आदि दर्शनो से तुलना की और उनमे चर्चित विषयो की जैन दर्शन से तुलना की। जैन आचार्यों ने अनेकान्तवादी होने के कारण दूसरे दर्शनो के दृष्टिकोण को मुक्त भाव से अपनाया। इससे उनके दर्शन की आधारहीनता प्रकट नही होती, उनकी समन्वय-भावना ही प्रकट होती है।

हरिभद्रसूरि ने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' मे परस्पर-विरोधी प्रतिभासित होने वाले दार्शनिक तत्त्वो का अद्भुत समन्वय किया है। उनका वह ग्रन्थ समन्वय ग्रन्थो मे अद्वितीय है। उनका निश्चित सिद्धान्त था कि अध्यात्मचेता विद्वान् के लिए कोई भी सिद्धात अपना या पराया नही होता। जो सिद्धात प्रत्यक्ष और अनुमान से अबाधित होता है, वही उसका अपना सिद्धात होता है। यह दृष्टिकोण अध्यात्म के क्षेत्र मे एक महत्त्वपूर्ण उन्मेष है।

व्यवहार जगत नाम और रूप से आक्रान्त होता है। अध्यात्म मे गुण की ही प्रतिष्ठा होती है। आचार्य हेमचन्द्र ने सोमनाथ के मदिर मे शिवलिंग के समक्ष चिन्तन की मुक्तधारा प्रवाहित की। उससे उनके प्रतिस्पर्धी भी नतमस्तक हो गए। उन्होने कहा —

"भवबीजाङ्कुर जनना, रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णु वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥"

'भवबीज के अकुर को पैदा करने वाले राग और द्वेष जिसके क्षीण हो चुके हैं, उस वीतराग आत्मा को मैं नमस्कार करता हू, फिर उसका नाम ब्रह्मा, विष्णु, महादेव या जिन कुछ भी हो।''

वीतरागता और अनेकान्त, ये दोनो अध्यात्म के प्रकाश-स्तम्भ हैं। वीतरागता आत्मा का शुद्ध रूप है। उसकी अनुभूति का क्षण ही आत्मो-पलब्धि का क्षण है। अनेकान्त सत्य के साक्षात्कार का सशक्त माध्यम है।

पौराणिक काल मे धर्म की धारणाएं बदल गई। उसका मुख्य रूप पारलौकिक हो गया। वह वर्तमान से कटकर भविष्य से जुड गया। जन-

मानस में यह धारणा स्थिर हो गई कि धर्म से परलोक सुधरता है, स्वर्ग मिलता है, मोक्ष मिलता है। इस धारणा ने जनता को धर्म की वार्तमानिक उपलब्धियो से वचित कर भविष्य के सुनहले स्वप्नो के जगत् मे प्रतिष्ठित कर दिया।

भगवान् महावीर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था—'धर्म का फल वतमान काल मे ही होता है। जिस क्षण मे उसका आचरण किया जाता है, उसी क्षण मे कर्म का निरोध या क्षय होता है। धर्म का मुख्य फल यही है।' पुण्यवादी धारा के प्रवाह मे यह व्याख्या अगम्य हो रही थी तब उमास्वाति ने एक चिन्तन प्रस्तुत किया—"स्वर्ग के सुख परोक्ष हैं, अत उनके बारे मे तुम्हे विचिकित्सा हो सकती है। मोक्ष का सुख उनसे भी अधिक परोक्ष है अत उसके विषय मे भी तुम सदिग्ध हो सकते हो। किन्तु धर्म से प्राप्त होने वाला शांति का सुख प्रत्यक्ष है। इसे प्राप्त करने मे तुम स्वतत्र हो। यह अर्थ-व्यय से प्राप्त नही होता, किन्तु आत्मानुभूति मे प्रवेश करने से प्राप्त होता है।"

आज यह प्रश्न पूछा जाता है कि इतने धर्मों के होने पर भी मनुष्य इतना अशान्त क्यो? इतना क्रूर क्यो? इतना अनैतिक क्यो? उपासना-प्रधान धर्म के पास इन प्रश्नो का कोई उत्तर नही है। सयम प्रधान धर्म इन प्रश्नो का उत्तर दे सकता है। आचार्य हेमचद्र ने धर्म की इसी स्थिति पर चिन्तन किया और उन्होने अनुभव की भाषा मे लिखा—हे भगवन! तुम्हारी पूजा करने की अपेक्षा तुम्हारी आदेशो का पालन करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। तुम्हारे आदेशो का पालन करने वाला सत्य को प्राप्त होता है और उनका पालन नही करने वाला भटक जाता है।' प्रश्न उपस्थित हुआ, वीतराग का आदेश क्या है? आचार्य ने उत्तर दिया—'उनका आदेश है सवर—मन का सवरण, वाणी का सवरण, काया का सवरण और श्वास का सवरण।'

साधन-शुद्धि

आध्यात्मिक जगत् का साध्य है—आत्मा की पवित्रता और उसका साधन भी वही है। साध्य और साधन की एकता के विचार को आचार्य भिक्षु ने जो सैद्धांतिक रूप दिया, वह उनसे पहले नही मिलता। शुद्ध साध्य के लिए साधन भी शुद्ध होने चाहिए, इस विचार को उनकी भाषा मे जो अभिव्यक्ति मिली वह उनसे पहले नही मिली।

आचार्य भिक्षु ने दो शताब्दी पूर्व कहा था—शुद्ध साध्य का साधन अशुद्ध नही हो सकता और शुद्ध साधन का साध्य अशुद्ध नही हो सकता। मोक्ष साध्य है और उसका साधन है सयम। वह सयम के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।"

साम्यवादी विचारधारा यह है—लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधन की शुद्धि का विचार आवश्यक नही है। लक्ष्य यदि अच्छा है तो उसकी पूर्ति के लिए बुरे साधनो का प्रयोग भी आवश्यक हो तो वह करना चाहिए। एक बार थोडा अनिष्ट होता है और आगे इष्ट अधिक होता है। गाधीवादी विचार यह है कि जितना महत्त्व लक्ष्य का है उतना ही साधन का। लक्ष्य की पूर्ति येनकेन-प्रकारेण नही, किन्तु उचित साधनो के द्वारा ही करनी चाहिए।

आचार्य भिक्षु के समय मे भी साधन-शुद्धि के विचार को महत्त्व न देने वाली मान्यता थी। उसके अनुयायी कहते थे—प्रयोजनवश धर्म के लिए भी हिंसा का अवलम्बन लिया जा सकता है। एक बार थोडी हिंसा होती है, किन्तु आगे उससे बहुत धर्म होता है।

आचार्य भिक्षु ने इसे मान्यता नही दी। उन्होने कहा—बाद मे धर्म या पाप होगा, इससे वर्तमान अच्छा या बुरा नही बनता। कार्य की कसौटी वर्तमान ही है।

यह साध्य और साधन की संगति है। इनकी विसंगति तब होती है जब या तो साध्य अनैतिक होता है या साधन।

हृदय-परिवर्तन

शक्ति के प्रयोग या बाह्य प्रभाव से रहित मानस मे जो आत्मौपम्य (सभी प्राणियो को आत्मा के समान समझने का दृष्टिकोण) का भाव जागता है, वह हृदय-परिवर्तन है। शक्ति और प्रभाव से दबकर जो हिंसा से बच जाता है, वह हिंसा का प्रयोग नही करता किन्तु उसमे हृदय की पवित्रता नही है, इसलिए उसे हृदय-परिवर्तन नही कहा जा सकता।

अहिंसा का आचरण वही कर सकता है जिसका हृदय बदल जाए। अहिंसा का आचरण किया जा सकता है किन्तु कराया नही जा सकता। अहिंसक वही हो सकता है जो अपने को बाहरी वातावरण से सर्वथा अप्रभावित रख सके।

आक्रमण के प्रति आक्रमण और शक्ति-प्रयोग के प्रति शक्ति-प्रयोग कर हम हिंसा के प्रयोगात्मक रूप को टालने मे सफल हो सकें, यह सम्भव है, वैसा कर हम हृदय को पवित्र कर सकें या करा सकें, यह सम्भव नही है। आचार्य भिक्षु ने कहा—शक्ति के प्रयोग से जीवन की सुरक्षा की जा सकती है, पर वह अहिंसा नही है। अहिंसा का अंकन जीवन या मरण से नही होता, उसकी अभिव्यक्ति हृदय की पवित्रता मे होनी है।

नैतिकता

भगवान् महावीर ने गृहस्थ के लिए जो आचार-संहिता निर्धारित की,

उसमें नैतिकता का मुख्य स्थान है। गृहस्थ सामाजिक प्राणी है। वह समाज मे जीता है। उसका व्यवहार समाज को प्रभावित करता है। अध्यात्म वैयक्तिक है। उसका व्यवहार मे पड़ने वाला प्रतिबिम्ब वैयक्तिक नही होता, वह सामाजिक हो जाता है। धार्मिक व्यक्ति अपने अन्त करण मे अध्यात्मिक रहे और व्यवहार मे पूरा अधार्मिक, यह द्वैध अध्यात्म का लक्षण नही है। अध्यात्म आन्तरिक वस्तु है। उसे हम नही देख सकते। उसका दर्शन व्यवहार के माध्यम से होता है। जिस व्यक्ति का व्यवहार शुद्ध, निश्छल और करुणापूर्वक होता है, वह व्यक्ति आध्यात्मिक है। उसका व्यवहार अध्यात्म को बाह्य जगत् मे प्रतिबिम्बित कर देता है। किन्तु जैसे-जैसे धर्म के क्षेत्र मे वहिर्मुखी भाव बढ़ता गया, वैसे-वैसे धार्मिक का व्यक्तित्व विरूप बनता गया—एक रूप उपासना के समय का और दूसरा रूप सामाजिक व्यवहार के समय का। एक ही व्यक्ति उपासना के समय वीतराग की प्रतिमूर्ति बन जाता है और दुकान या कार्यालय मे क्रूर बन जाता है। आचार्यश्री तुलसी ने धर्म के क्षेत्र मे पनप रही इस द्विरूपता पर चिन्तन कर धर्मक्रांति की आवाज उठाई। उसकी क्रियान्विति के लिए अणुव्रत का कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उसकी पृष्ठभूमि मे उनका चिन्तन शाश्वत होने के साथ-साथ बहुत ही युगीन है। अनैतिक का मूल हेतु वैषम्य है। साम्य की स्थिति का निर्माण किए बिना नैतिकता को विकसित नही किया जा सकता।

सर्वधर्म-समभाव और शास्त्रज्ञ

उपाध्याय यशोविजयजी ने शास्त्रज्ञ की पहचान के लिए तीन मानदण्ड प्रस्तुत किए—अनेकान्त, मध्यस्थभाव और उपशम—कषाय की शाति। उन्होने कहा—'जो व्यक्ति मोक्ष को दृष्टि मे रखते हुए अनेकान्त चक्षु से सब दर्शनो की तुल्यता को देखता है, वही शास्त्रज्ञ है।'

जिसमे राग-द्वेष के उपशमन की साधना नही होती, वह मध्यस्थ या तटस्थ नही हो सकता। मध्यस्थ भाव की प्राप्ति किए बिना कोई भी शास्त्रज्ञ नही हो सकता। उपाध्यायजी की भाषा मे मध्यस्थ भाव ही शास्त्र का अर्थ है। वह मध्यस्थ भाव से ही सही रूप मे जाना जाता है।

शास्त्रज्ञ लोग धर्मवाद के स्थान पर विवाद को महत्त्व दे रहे थे। उनको लक्ष्य कर कहा गया—

> 'शमार्थं सर्वशास्त्राणि, विहितानि मनीषिभि ।
> स एव सर्वशास्त्रज्ञ', यस्य शांत सदा मन ॥

'मनीषियो ने शास्त्रो का निर्माण शान्ति के लिए किया। सब शास्त्रो को जानने वाला वही है, जिसका मन शान्त है।'

सारांश यह है—धर्म के नाम पर अशान्ति को उभारने वाला

शास्त्रज्ञ नही हो सकता। जो स्वय अशान्त है, वह भी शास्त्रज्ञ नहीं हो सकता।

अभ्यास

१ "श्रद्धावाद—हेतुवाद" की दृष्टि से आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने जो नया चिन्तन दिया, उसे अपने शब्दो मे प्रस्तुत करे।

२ "प्राचीनता और नवीनता का सघर्ष सभी क्षेत्रो मे चलता है" इसे प्रकट करते हुए किन्ही दो विचारक आचार्यों के विचारो के आधार पर उस सघर्ष का समाधान प्रस्तुत करें।

३ "कलियुग मे सब कुछ बुरा ही होगा"—इस विचार को किसने चुनौती दी ?

४ अध्यात्म के मुख्य उन्मेष कौन-कौन से हैं ?

५ "धम का फल वर्तमान काल मे ही होता है"—इस चिन्तन को किन आचार्यों ने किस प्रकार पुष्ट किया ?

६ "सर्वधर्म-समभाव रखने पर ही व्यक्ति सही अर्थ मे शास्त्रज्ञ हो सकता है"—इसे सिद्ध करें।

परिशिष्ट

पारिभाषिक शब्द-कोष

अचरम — देखें "चरम"।

अचित्त महास्कन्ध — केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) जीव द्वारा विशेष परिस्थिति मे एक स्वाभाविक क्रिया की जाती है जिसे "केवली समुद्घात" कहते हैं, इस दौरान उनके आत्म-प्रदेश समूचे लोक मे व्याप्त होते हैं। उस समय आत्मा से छूटे हुए पुद्गलो का जो एक स्कन्ध समूचे लोक मे व्याप्त हो जाता है, वह अचित्त महास्कन्ध कहलाता है।

अधर्म-द्रव्य (अधर्मास्तिकाय) — धर्मास्तिकाय की तरह स्थिति (अगति) का लोक-व्यापी अनिवार्य माध्यम। छह मूलभूत द्रव्यो मे एक है। देखें, धर्म-द्रव्य।

अध्यवसाय — आत्मा के वे 'परिणाम' जो सूक्ष्म स्तर पर चेतना और कर्म के सयुक्त प्रभाव को प्रकट करते हैं। अध्यवसाय "चित्त" के पूर्व का स्तर है।

अनन्तकाय — एक शरीर मे अनन्त जीव रहते हैं, उन्हें अनन्तकाय कहते हैं। जमीकद (प्याज, लहसून आदि), फफुदी, काई, सेवाल आदि अनन्तकाय हैं।

अनुमान (प्रमाण) — साधन (हेतु) से साध्य का जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहा जाता है। अनुमान तर्क का कार्य है।

अनवस्था दोष — अप्रामाणिक नए-नए धर्मों की ऐसी कल्पनाए करना जिनका कहीं अन्त न आए। जैसे—जीव की गति के लिए गतिमान् वायु की, उसकी गति के लिए किसी दूसरे गतिमान् पदार्थ की, उसके लिए फिर तीसरे गतिमान् पदार्थ की कल्पना करना। इस प्रकार चलते चलें, आखिर हाथ कुछ न लगे—निर्णय कुछ भी न हो, वह अनवस्था है।

अन्तर मुहूर्त — २ समय से लेकर ४८ मिनट मे एक समय कम तक का सारा काल-मान अन्तरमुहूर्त कहलाता है।

अन्वय सम्बन्ध — जिसके होने पर अन्य का होना होता है, उनका सम्बन्ध अन्वयी सम्बन्ध कहलाता है। जिसके न हाने पर, अन्य का न होना होता है, वह व्यतिरेकी सम्बन्ध कहलाता है।

अपर्यवसित — पर्यवसान का अर्थ है अन्त। जिसका अन्त न हो, वह अपर्यवसित कहलाता है। जिसका अन्त हो, वह सपर्यवसित कहलाता है।

अपवर्तन — उद्वर्तना से विपरीत अवस्था (देखें उद्वर्तना)। बधे हुए कर्मों की स्थिति और रस को अपवर्तन मे पुरुषार्थ (प्रयत्न) द्वारा कम (मद) किया जाता है।

अपोह — जिसके द्वारा सशय के कारणभूत विकल्प का निराकरण किया जाता है, वह अपोह है। अपोह मे गहन चिन्तन अपेक्षित होता है।

अभव्य जीव — जैन दर्शन के अनुसार ससार मे दो प्रकार के जीव हैं—मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता रखने वाले और न रखने वाले। पहले प्रकार के भव्य और दूसरे प्रकार के अभव्य जीव कहलाते हैं।

अभिनिवेश — मिथ्या आग्रह।

अभेदोपचार — किन्ही दो (वस्तु, पर्याय आदि) मे किसी अपेक्षा-विशेष से एकत्व का अध्यारोप करना अभेदोपचार कहलाता है। "अभेद" का अर्थ है—एकत्व और "उपचार" का अर्थ है—अध्यारोप करना।

अर्पितानर्पित — "अमुक अपेक्षा से होना" अर्पित है, "अमुक अपेक्षा से न होना" अनर्पित है। स्याद्वाद मे अपेक्षा दृष्टि के आधार पर वस्तु-धर्म की विवक्षा की जाती है। यह "अर्पितानर्पित" पद्धति है।

अवग्रह — देखें, ईहा।

अवधिज्ञान (अवधिज्ञानी) — इन्द्रियो की सहायता के बिना सीधे चेतना द्वारा दूर-स्थित मूर्त पदार्थों को जान लेना अवधिज्ञान है और अवधिज्ञान-प्राप्त व्यक्ति अवधिज्ञानी कहलाता है।

अविद्या	वेदांत दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। यह बोध विद्या है। इससे विपरीत बोध अविद्या है।
अविनाभावी	विशेष प्रकार का संबंध—जिसके बिना जिसकी सिद्धि न हो उसे अविनाभावी संबंध कहते हैं, जैसे—जहां-जहां धुआं है, वहां-वहां अग्नि अवश्य है। अथवा जहां-जहां वर्षा है, वहां-वहां मेघ अवश्य है।
अविभागी	जिसके विभाग न हो सके, वह अंश अविभागी (indivisible) कहलाता है। प्रदेश, परमाणु और समय अविभागी हैं।
असंख्यात	जैन गणित के अनुसार संख्याएं तीन प्रकार की हैं—संख्यात, असंख्यात और अनन्त। असंख्यात अनन्त से कम और संख्यात से अधिक है।
असंयममय	जिस प्रवृत्ति में हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि का प्रयोग हो, वह 'असंयम-मय" कहलाती है।
असात वेदनीय	जिस कर्म के उदय से दुःख, पीड़ा, वेदना आदि का संवेदन हो, वह कर्म असात वेदनीय कर्म कहलाता है।
अस्तिकाय	जो द्रव्य अनेक सूक्ष्म विभागों (प्रदेशों) का है और जो आकाश (space) में विस्तार (extension) बनाए रखता है, अस्तिकाय है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से अस्ति का अर्थ है—प्रदेश और काय का अर्थ है—समूह।
अस्तित्व	होना, विद्यमानता (existence)।
अस्तित्व-विषयक	वस्तु के मूल अस्तित्व के विषय में (ontological)।
अस्ति-धर्म	धर्म यानी गुण या स्वभाव। जो "अस्तित्व"—सूचक गुण है वह अस्ति-धर्म है। देखें, नास्ति-धर्म। अग्नि में "उष्णता" अस्ति-धर्म है।
अहेतुगम्य	जिस पदार्थ को किसी हेतु यानी तर्क के द्वारा नहीं जाना जा सकता।
आत्मवाद	जो आत्मा (चैतन्य-लक्षण-युक्त) के स्वतंत्र त्रैकालिक अस्तित्व का स्वीकार करे, वह सिद्धांत।

आगम	जैन धर्म के मूल शास्त्र आगम कहलाते हैं। आगमो मे भगवान् महावीर की वाणी को उनके प्रमुख ज्ञानी शिष्यो (गणधरो) द्वारा गुम्फित किया जाता है।
आप्त	जो यथार्थ ज्ञान के धारक हैं और यथार्थ प्रतिपादन करते हैं, वे आप्त कहलाते हैं। जैन दर्शन "वीतराग" को ही आप्त मानता है।
आलय विज्ञान	चेतना सन्तति। बौद्ध दर्शन के अनुसार चेतना की जो सन्तति यानी शृखला है, वह आलय-विज्ञान कहलाता है।
आवलिका	यह काल-सूचक एक अति सूक्ष्म नाप है। ४८ मिनट मे १,६७,७७,२१६ आवलिकाए होती हैं।
आवश्यक कर्म	श्रावक व साधु को अपने व्रत की रक्षा के लिए नित्य छह क्रिया करनी आवश्यक है। जो इन्द्रिय के वश्य (अधीन) नहीं है उसे आवश्यक कहते हैं। ऐसे सयमी के रात व दिन मे करने योग्य कार्यों का नाम आवश्यक है।
आस्तिक	सामान्यतया ईश्वर मे विश्वास रखने वाला व्यक्ति आस्तिक कहलाता है, पर व्यापक दृष्टि से चिन्तन करने पर आत्मा, परमात्मा, परलोक, धर्म, पुण्य पाप आदि लोकोत्तर तत्त्वो मे विश्वास रखने वाला आस्तिक है।
आस्रव	कर्म ग्रहण करने वाले आत्मा के "परिणाम" आस्रव कहलाते हैं। ये चेतना की वे अवस्थाए हैं जो कर्म-बधन के लिए जिम्मेदार हैं। इन्हें "आस्रव-द्वार" भी कहा जाता है क्योकि ये कर्म के प्रवेश के लिए खुले द्वार हैं। देखें "परिणाम"।
आस्रव-चतुष्टय	मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद और कषाय—ये चार आस्रव-चतुष्टय कहलाते हैं।
ईहा	इन्द्रिय और वस्तु का सबध होते ही "सत्ता" (है) का बोध होना 'अवग्रह' है। अवग्रह द्वारा जाने हुए पदार्थ के स्वरूप का निश्चय करने के लिए विमर्श करने वाले ज्ञानक्रम का नाम ईहा है।

उत्पाद — चेतन व अचेतन दोनो ही द्रव्य अपनी जाति को कभी नही छोडते। फिर भी अन्तरग और बहिरग निमित्त से प्रति-समय अपने आपमे जो नवीन अवस्था की प्राप्ति होती है उसे उत्पाद कहते हैं। देखें, व्यय।

उदय — कर्म जब भोगे जाते हैं, तब उनकी अवस्था को 'उदय' कहते हैं।

उदीरणा — कर्म की एक अवस्था जिससे निर्धारित समय से पूर्व कर्मों को उदय मे लाया जाता है। उदीरणा मे अपवर्तना होना जरूरी है। उदीरणा पुरुषार्थ या अन्य निमित्त से भी हो सकती है। उदीरणा की प्रक्रिया से जीव विशेष पुरुषार्थ द्वारा निर्धारित समय से पूर्व उनसे मुक्त हो सकता है।

उद्वर्तना — कर्म की अवस्था जिसमे कर्म की स्थिति और अनुभाग मे वृद्धि होती है। अर्थात् जिससे बधे हुए कर्मों का काल-मान बढ जाता है और रस (विपाक) तीव्र बन जाता है, वैसा प्रयत्न उद्वर्तना की अवस्था के लिए जिम्मेवार है।

उपादान कारण (Material Cause) — जो कारण स्वय कार्य रूप मे परिणत हो जाता है, वह उपादान कारण कहलाता है। जैसे घडे का उपादान कारण मिट्टी है।

उपादेय — ग्रहण करने योग्य, हितकर। देखें, हेय।

उपनिषद् — वैदिक परम्परा के मौलिक ग्रन्थ, जो वेदो के बाद ऋषियो द्वारा रचे गए।

ऊर्ध्व-प्रचय और तिर्यक्-प्रचय — वस्तु मे दो प्रकार के धर्म हैं—क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती या सहवर्ती। क्रमवर्ती को ऊर्ध्व प्रचय और अक्रमवर्ती को तिर्यक प्रचय कहते हैं। ऊर्ध्व प्रचय "काल" की अपेक्षा से है, तिर्यक्-प्रचय क्षेत्र (आकाश) की अपेक्षा से है।

ओघ-संज्ञा — अनुकरण की प्रवृत्ति अथवा अव्यक्त चेतना या सामान्य उपयोग, जैसे—लताए वृक्ष पर चढती हैं। यह वृक्षारोहण का ज्ञान ओघ-सज्ञा है।

करण-वीर्य — वीर्य का अर्थ है—आत्म-शक्ति। लब्धि-वीर्य को काम मे लेकर आत्मा उपयुक्त पुद्गलो (शरीर आदि) के सयोग से जो सामर्थ्य पैदा

करता है, उसे करण-वीर्य या क्रियात्मक-शक्ति कहा जाता है। करण-वीर्य मे जीव और पुद्गल की मिली-जुली शक्ति है। देखें, लब्धि-वीर्य।

कर्मवाद — जो आत्मा द्वारा किए गए शुभ-अशुभ कर्मों के फलस्वरूप आत्मा के साथ बधने वाले कर्म नामक पुद्गल विशेष का वास्तविक अस्तित्व स्वीकार करे, वह सिद्धात।

कषाय — क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय हैं। जीव मे कषाय के 'परिणाम' मोह-कर्म के उदय के कारण निरन्तर बने रहते हैं। कषाय 'आस्रव' है।

काय-गुप्ति — शरीर की क्रियाओ का सयम करना काय-गुप्ति है। जैसे—चलना, हिलना-डूलना आदि का निरोध कर स्थिर रहना।

केवलज्ञान, केवली — सम्पूर्ण निरावरण ज्ञान यानी सर्वज्ञता "केवल-ज्ञान" है और केवल-ज्ञान प्राप्त व्यक्ति केवली कहलाते हैं।

क्रियावाद — जो मोक्ष के लिए प्ररूपित साधना-पद्धति मे विश्वास करे, वह सिद्धात। प्राचीन युग मे क्रिया-वाद आस्तिकवाद का ही पर्यायवाची था।

क्षयोपशम — चार घात्य कर्मों के विपाक-उदय के अभाव को क्षयोपशम कहते हैं। क्षयोपशम मे प्रदेशोदय होता है, विपाकोदय का अभाव होता है या मन्द विपाकोदय ही होता है। जो कर्म उदय-आवलिका मे प्रविष्ट हो चुके हैं उनका क्षय होता है और जो उदय मे नही आए हैं उनका विपाक-उदय न होना अर्थात् उपशम होना। यह उपशम क्षय के द्वारा उपलक्षित है, अतएव क्षयोपशम कहलाता है।

क्षीणदोषयति — जो मुनि राग-द्वेष आदि दोषो को क्षीण कर चुके हैं यानी वीतराग बन चुके हैं, वे वैदिक परम्परा मे क्षीणदोषयति कहलाते हैं।

गति — जीव ससार मे विभिन्न पर्यायो (अवस्थाओ) मे जन्म ग्रहण करता रहता है। कभी वह मनुष्य बनता है, कभी पशु आदि। इन अवस्थाओ को

मुख्य रूप से चार प्रकार मे बांटा गया है, जिसे 'गति' कहते हैं। मृत्यु के बाद प्रत्येक जीव मनुष्य, देव, नारक या तिर्यंच (पशु, पक्षी, कीट-पतग या स्थावर जीव आदि)—इन चार गतियो मे से किसी एक गति मे जाता है और जन्म लेता है।

गवेषणा — जिस ज्ञान के द्वारा अपने अपूर्व अस्तित्व की खोज की जाती है। वह गवेषणा है। गहराई से छान-बीन करना गवेषणा है।

गुण — द्रव्य के सहभावी धर्म को गुण कहते हैं। गुण सदा द्रव्य के पास रहता है।

गुणस्थान — देखें, भूमिकाए।

घात्य-कर्म — जो कर्म आत्मा के मूल स्वभाव ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा और चारित्र तथा शक्ति को हानि पहुचाते हैं, वे घात्यकर्म कहलाते है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय - ये चार घात्य कर्म हैं। शेष चार अघात्य है।

चरम — अन्तिम या उत्कृष्ट। जो चरम नही है, वह अचरम है।

जल्प — प्रमाण और तर्क के द्वारा स्वपक्ष का स्थापन और परपक्ष का खण्डन होने पर और सिद्धान्त के अनुकूल होने पर भी यदि छल, जाति और निग्रह-स्थान का प्रयोग किया जाय, तो वह जल्प कहा जाता है।

जीवच्छरीर — सजीव शरीर। जब तक आत्मा (जीव) शरीर मे है, तब तक वह जीवच्छरीर कहलाता है।

ज्ञेय — जानने योग्य या जिसे जानते हैं, वह वस्तु।

तज्जीव-तच्छरीरवाद — जो सिद्धात जीव और शरीर को एक मानता है, जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता।

तिर्यक्-प्रचय — देखें, ऊर्ध्व प्रचय।

तिर्यग् लोक — लोक तीन प्रकार का है—तिरछा, ऊचा और नीचा। तिर्यग् लोक (तिरछा लोक) अठारह सौ योजन ऊचा और असख्य द्वीप-समुद्र-परिणाम [illegible] है। असख्य द्वीप-समुद्र तिर्यक् समभूमि

	पर तिरछे अवस्थित हैं। अत उसको तिर्यग् लोक कहते हैं। यह पूरे लोक के मध्य मे है।
त्रस	ससारी जीव का एक प्रकार जो गमनागमन करने मे सक्षम है। हित की प्रवृत्ति एव अहित की निवृत्ति के निमित्त गमन करने वाले जीव त्रस कहलाते हैं।
त्रस-नाड़ी	पूरे लोक का मध्यवर्ती वह भाग जहा गमनशील प्राणी जन्म लेते हैं, उसे त्रस-नाडी कहते हैं। त्रस-नाडो चौदह रज्जू लम्बी होती है, पर उसकी गहराई और चौडाई केवल एक रज्जू है।
त्रिविध दुःख	योग दर्शन के अनुसार दु ख के तीन प्रकार हैं— १ आध्यात्मिक, २ आधिभौतिक, ३ आधि-दैविक।
दलिक	वे कर्म जो पुरुषार्थ-विशेष के द्वारा परिवर्तित हो सकते हैं।
देश	किसी भी वस्तु का बुद्धि द्वारा परिकल्पित एक विभाग या अश "देश" कहलाता है। देश वस्तु से सदा सलग्न होता है।
द्रव्य	विश्व के मौलिक पदार्थ (ultimate substances) जिन्हे अन्य पदार्थ मे बदला नही जा सकता। जैन दर्शन ने छह द्रव्य माने हैं— धर्म द्रव्य (गति-माध्यम), अधर्म द्रव्य (स्थिति-माध्यम), आकाश, काल, पुद्गल और जीव।
द्रव्य कर्म	आत्मा के साथ बधनेवाले कर्म-पुद्गल 'द्रव्य कर्म' कहलाते हैं। (देखें, भाव-कर्म)।
द्रव्य इन्द्रिय	देखे, भाव इन्द्रिय।
द्रव्यार्थिक नय	नय क अर्थ है दृष्टिकोण। जब वस्तु को केवल द्रव्य की दृष्टि से देखा जाता है, तब उस दृष्टि-कोण को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन हो, वह द्रव्यार्थिक है। पर्याय (अश) को गौण करके जो इस लोक मे द्रव्य (अशी) को ग्रहण करता है, वह द्रव्यार्थिक नय है। देखें, पर्यायार्थिक नय।
द्विप्रदेशी (द्वयणुक) स्कन्ध	जिस पुद्गल मे दो परमाणु होते हैं, वह द्विप्रदेशी या द्वयणुक स्कन्ध कहलाता है। इसो प्रकार

	त्रिप्रदेशी, चतु प्रदेशी आदि स्कन्ध होते हैं। देखें, स्कन्ध।
धर्म-दर्शन	धर्म का दर्शन (Philosophy of Religion) धर्म-दर्शन है। धर्म लोकोत्तर तत्त्व मे मान्यता की सूचक प्रणाली है।
धर्म-द्रव्य (धर्मास्तिकाय)	लोक-व्यापी गति का अनिवार्य माध्यम जो अभौतिक और अचेतन (अजीव) द्रव्य है। किसी भी प्रकार की गति मे यह अनिवार्यतया सहायक होता है। छह मूलभूत द्रव्यो मे से एक है।
ध्रौव्य	शाश्वत। अनादिकालीन पारिणामिक स्वभाव का न उत्पाद होता है और न व्यय किन्तु वह स्थिर रहता है। इसलिए उसे ध्रुव कहा जाता है। तथा इस ध्रुव का भाव या कर्म ध्रौव्य कहलाता है। जैसे मिट्टी के पिण्ड और घटादि अवस्थाओ मे मिट्टी का अन्वय बना रहता है। देखें, उत्पाद और व्यय।
नय	अनन्त धर्मात्मक होने से वस्तु जटिल है। उसका सम्पूर्ण ज्ञान, "प्रमाण" और अश "नय" कहलाता है। नय सात हैं—नैगम, सग्रह, ऋजुसूत्र, समभिरूढ़, निश्चय, व्यवहार, एवभूत।
नास्तिक	जो आस्तिक नही है, वह नास्तिक है। देखें—आस्तिक।
नास्ति-धर्म	धर्म यानी गुण या स्वभाव। जो "नास्तित्व" सूचक गुण है, वह नास्तिक-धर्म है। देखें, अस्ति-धर्म। अग्नि मे "शीतता" नास्ति-धर्म है।
निकाचित	वे कर्म जो किसी भी पुरुषार्थ के द्वारा परिवर्तित नही हो सकते। उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, आदि किसी भी "करण" का प्रयोग जिसमे सभव नही है।
निगोद	सूक्ष्म एकेन्द्रिय तथा अनन्तकाय वनस्पति के जीव निगोद कहलाते हैं। निगोद के जीव एक मुहूर्त (४८ मिनट मे) ६५५३६ भव (जन्म मृत्यु) कर लेते है। यह जीव की न्यूनतम विकसित अवस्था है।
निरोध	बौद्ध दर्शन मे प्रतिपादित आर्य सत्यो मे चौथा।

निर्जरा — कर्मों में आंशिक विच्छेद के कारण होने वाली आत्मा की निर्मल अवस्था। उपचार से निर्जरा में निमित्तभूत क्रिया—तपस्या को भी निर्जरा कहा जाता है।

परम अस्तित्ववादी — परम आस्तिक। आत्मा और मोक्ष की परम वास्तविकता को स्वीकार करने वाले।

परिणाम — परिणमन को परिणाम भी कहते हैं, जो जीव आदि द्रव्यों की सूक्ष्म अवस्थाएं हैं, जिनमें सूक्ष्म परिवर्तन घटित होता रहता है। जैसे जीव के विभिन्न परिणाम होते हैं—कर्म बंधन के, कर्म को रोकने आदि।

परिणमन — परिवर्तन। प्रत्येक द्रव्य में सतत चलने वाले परिवर्तन को परिणमन कहते हैं।

पर्याय — शाब्दिक अर्थ है—अवस्था का परिवर्तन। पूर्व आकार (अवस्था) के परित्याग और उत्तर आकार की उपलब्धि को पर्याय कहते हैं। पर्याय सदा बदलती रहती है। यह द्रव्य का बदलने वाला धर्म है। पर्याय द्रव्य और गुण—दोनों की होती है।

पर्यायार्थिक नय — जब वस्तु को केवल पर्याय की दृष्टि से देखा जाता है, तब उस दृष्टिकोण को पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। देखें, द्रव्यार्थिक नय।

पलायनवाद — संसार के कर्तव्यों से विमुख होकर भाग छूटना—संन्यासी बन जाना।

पुद्गल — जैन दर्शन में भौतिक तत्त्व (physical order of existence) के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द जिनमें समस्त जड़ पदार्थ (matter) और सभी प्रकार की जड़ ऊर्जाओं का समावेश हो जाता है।

पृथ्वीकायिक जीव — जैन दर्शन के अनुसार पृथ्वी यानी मिट्टी, खनिज पदार्थ आदि "जीव" होते हैं। इन जीवों को पृथ्वीकायिक जीव की संज्ञा दी गई है—पृथ्वी है काया जिसकी, वह पृथ्वीकायिक।

पौद्गलिक — पुद्गल का और पुद्गल से सम्बन्धित। देखें, पुद्गल।

प्रतिलेखन — जैन साधु प्रतिदिन अपने पास रखी हुई सभी वस्तुओ—वस्त्र, पात्र आदि का निरीक्षण करते हैं, इसे प्रतिलेखन कहते हैं। निरीक्षण का उद्देश्य है, वस्तुओ मे कोई जीव-जन्तु हो, तो उसे देखकर सावधानीपूर्वक हटाना।

प्रदेश — द्रव्य का निरंश अवयव। किसी भी द्रव्य का वह संलग्न सूक्ष्म अंश जिसे दो भागो मे विभाजित नही किया जा सकता। यह प्रत्येक द्रव्य की क्षेत्रीय इकाई है। भूमिति के बिन्दु ((point) के साथ इसकी तुलना की जा सकती है।

प्रदेश-उदय — कर्म जब उदय अवस्था को प्राप्त होते हैं, तो पहले प्रदेश-उदय होता है, फिर विपाक-उदय। प्रदेश-उदय मे कर्म का नाम मात्र उदय होता है। उसका फल तो विपाक उदय मे ही मिलता है। देखें उदय।

प्रमाण — यथार्थ ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है।

प्रमेय — प्रमाण के विषय को प्रमेय कहते हैं। यथार्थ ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। जो यथार्थ ज्ञान का विषय है वह प्रमेय है।

प्रागभाव (प्राग् + अभाव) — अभाव का एक भेद। कार्य का अपनी उत्पत्ति से पहले न होना उसका प्रागभाव है।

बन्ध — आत्मा के साथ बन्धे हुए कर्म जो उसे ससारावस्था मे बांधे रखते हैं।

भव — जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य, देव आदि जिस "गति" मे आत्मा रहती है वह एक "भव" कहलाता है।

भाव-इंद्रिय — नाक, कान आदि इन्द्रियो की बाहरी और भीतरी पौद्गलिक रचना (आकार-विशेष) द्रव्येन्द्रिय कहलाती है, इससे विपरीत आत्मा की जानने की योग्यता और प्रवृत्ति भावेन्द्रिय कहलाती है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न स्पर्श आदि विषयो को जानने की शक्ति तथा अर्थ को ग्रहण करने वाला आत्मा का व्यापार (प्रवृत्ति) भावेन्द्रिय के अन्तर्गत आते है।

भाव-कर्म — कर्म बंध मे हेतुभूत आत्मा की अवस्था भाव कर्म

	कहलाते हैं। भाव कर्म द्रव्य-कर्म के बधन का मूल कारण है। द्रव्य कर्म अजीव है, भाव कर्म जीव (आत्मा की ही अवस्था) है।
भाषा (चार प्रकार—सत्य असत्य, मिश्र, व्यवहार)	जीव जो वाणी बोलता है, वह चार प्रकारो मे से किसी एक प्रकार की हो सकती है— १ सत्य भाषा- सत्य (यथार्थ) बात बोलना। २ असत्य भाषा—असत्य (अयथार्थ) बात बोलना। ३ मिश्र भाषा —सत्य और असत्य का मिश्रित रूप मिश्र भाषा कहलाती है, जो कपट पूर्वक बोली जाती है। ४ व्यवहार भाषा —जो सत्य, असत्य न हो। जैसे—आदेश, उपदेश देना।
भूमिका (गुणस्थान)	आध्यात्मिक विकास के विभिन्न स्तर गुणस्थान कहलाते हैं। इन्हे अध्यात्म की भूमिकाए भी कहा जाता है। ये चौदह है। पहली चार भूमिकाए असयमी जीवो की, पाचवी सयतासयत की और छठी से चौदहवी तक सयत जीवो की होती है।
मन गुप्ति	राग, द्वेष आदि कलुष भावो से मन को हटा लेना मनोगुप्ति है। मानसिक चिन्तन, स्मृति, कल्पना आदि मे प्रवृत्त न होना।
मार्ग	बौद्ध दर्शन मे प्रतिपादित अष्टागिक साधना-पथ।
मार्गणा	जिन-प्रवचन दृष्ट जीव जिन भावो के द्वारा खोजे जाते हैं, उन्हे मार्गणा कहते हैं।
मीमांसा	"अवग्रह" के द्वारा गृहीत अर्थ विशेष रूप से जिसके द्वारा विचारा जाता है, उसे मीमासा कहते हैं। सामान्य भाषा मे इसका अर्थ है—गहराई से चिन्तन करना।
मोक्ष	सब कर्मों से मुक्त आत्मा की अवस्था मोक्ष है।
यथार्थज्ञान	जैसी वस्तु है, उसे उसी रूप मे जानना।
युक्ति	न्याय-सगत या तर्क-सगत विचार।
योजन	दूरी मापने का प्राचीन कालीन माप। सामान्यत १ योजन के ८ मील होते हैं। पर जो शाश्वत-कालीन क्षेत्र आदि हैं, उनके माप सामान्य से १००० गुने होते हैं। अत उस सन्दर्भ मे योजन ८०००

	मील होता है।
रज्जू	विशाल दूरी नापने का एक माप जो जैन विश्व-विज्ञान मे प्रयुक्त हुआ है। आधुनिक विज्ञान जो 'प्रकाश-वर्ष' का प्रयोग लम्बी दूरियो के मापने के लिए करता है, उसके साथ यह तुलनीय है। एक रज्जू के असख्यात योजन होते हैं।
रूपी	मूर्त। जिस पदार्थ मे वर्ण, गध, रस, स्पर्श हो, वह रूपी और न हो, वह अरूपी कहलाता है। पुद्गल द्रव्य रूपी है, शेष पाच द्रव्य अरूपी हैं।
लब्धि-वीर्य	वीर्य का अर्थ है—आत्म-शक्ति। अन्तराय कम के द्वारा इसका निरोध होता है। जब अन्तराय-कर्म का विलय (आशिक) किया जाता है, तब भीतर की शक्ति प्रकट हो सकती है। इस आत्म-शक्ति को लब्धि-वीर्य कहा जाता है। देखें, करण-वीर्य।
लेश्या	आत्मा के वे परिणाम जो विशेष प्रकार के रगीन पुद्गलो के प्रभाव से बनते हैं। लेश्या का शुभत्व और अशुभत्व रग पर आधारित है। कृष्ण (काला), नील और कापोत (कबूतरी) रग अशुभ लेश्या को उत्पन्न करते हैं, जबकि तेजस् (लाल), पद्म (पीला) और शुक्ल (सफेद) रग शुभ लेश्या को उत्पन्न करते हैं।
लोकवाद	जो लोक—सभी द्रव्यो के समूह रूप विश्व की वास्तविक सत्ता—को शाश्वत माने, वह सिद्धात।
लोक-सज्ञा	लौकिक कल्पनाए अथवा व्यक्त चेतना या विशेष उपयोग। अर्थात् विशेष अवबोध को लोक-सज्ञा कहते है, जिसका तात्पर्य है विभागात्मक ज्ञान-इन्द्रिय ज्ञान और मानस ज्ञान।
लोकायत मत	नास्तिक दर्शन की एक विचारधारा जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करती है।
वचन-गुप्ति	असत्य भाषण आदि से निवृत्त होना अथवा मौन धारण करना वचनगुप्ति है।
वस्तु-वृत्त	वस्तु के गुण-धर्म या स्वभाव, लक्षण आदि।
वाद	हार-जीत के अभिप्राय से की गई किसी विषय संबधी चर्चा वाद कहलाता है।
विजातीय सबंध	आत्मा और कर्म (पुद्गल) दो स्वतत्र द्रव्य हैं,

	दोनो विजातीय हैं। उनका संबध "विजातीय संबध" कहलाता है।
वितण्डा	स्वपक्ष की स्थापना किये बिना, केवल पर-पक्ष का खण्डन करना **वितण्डा** है।
विपाक-उदय	जब कर्म उदय मे आते हैं (अर्थात् भोगे जाते हैं), तब वे दो प्रकार से उदय मे आते है—पहले प्रदेश उदय अर्थात् सत्ता (अबाधा काल) की समाप्ति पर कर्मों का आत्म-प्रदेश मे भोगा जाना। उसके पश्चात् वे विपाक-उदय मे आते हैं, जिसमे वे अपना फल देते है। विशेष पुरुषार्थ के द्वारा विपाक-उदय न होने दिया जाय, तो बिना फल-भुक्ति भी आत्मा कर्म से मुक्त हो जाती है। क्षयोपशम मे यही प्रक्रिया होती है। देखें, **क्षयोपशम**।
वीतराग	जो राग और द्वेष –दोनो को समाप्त कर देते हैं, वे **वीतराग** कहलाते हैं।
वैभाविक दशा	जो अपना स्वभाव न हो, अन्य निमित्तो के कारण जो दशा घटित हो, वह वैभाविक दशा है। जैसे—आत्मा का स्वभाव है—कर्म-मुक्त दशा और जन्म-मृत्यु या ससार है वैभाविक दशा।
वैभाविक परिवर्तन (पर्याय)	जीव के निमित्त से पुद्गल मे और पुद्गल के निमित्त से जीव मे जो परिवर्तन होता है वह **वैभाविक परिवर्तन** कहलाता है।
व्यय	पूर्व अवस्था के त्याग को व्यय कहते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति होने पर पिण्ड रूप आकार का त्याग हो जाता है। देखें, **उत्पाद**।
व्युत्पत्तिमान	जिस शब्द की व्युत्पत्ति अर्थवान् हो, वह **व्युत्पत्ति-मान** शब्द है।
शरीर-नाम-कर्म	आठ कर्मों मे एक है नाम-कर्म, जिसके उदय से जीव शरीर-सबधी विभिन्न सामग्री प्राप्त करता है। नाम-कर्म का एक भेद है **'शरीर-नाम-कर्म'** जिससे शरीर प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, औदारिक शरीर नाम कर्म के उदय से **औदारिक शरीर**, वैक्रिय शरीर नाम कर्म के उदय से **वैक्रिय शरीर** आदि।

श्रमण	प्राचीन काल से भारत मे प्रचलित संस्कृति और परम्परा जो वेदो मे विश्वास नहीं रखती थी। ब्राह्मण या वैदिक संस्कृति और परम्परा इसकी विरोधी थी। जैन और बौद्ध धर्म श्रमणो की देन है।
श्रेय	अपना कल्याण या आत्म-कल्याण।
संक्रमण	पुरुषार्थ आदि के द्वारा बधे हुए कर्मों की प्रकृति समान जातीय प्रकृति मे रूपान्तरित की जाती है। उसे संक्रमण कहते हैं। जैसे—'असात-वेदनीय' कर्म को 'सात-वेदनीय' मे रूपान्तरित कर देना।
संघात	एकत्रीकरण, मिलन (association, fusion)।
संज्ञा	वृत्तिया (instincts) जो चेतना मे आन्तरिक स्तर पर सदैव विद्यमान रहती हैं।
सत् (Reality)	सत् अस्तित्व का सूचक है। उत्पाद व्यय व ध्रौव्य इन तीनो की युगपत् अवस्थिति सत् है। जो वास्तविक है, वह सत् है। जो अवास्तविक है, वह असत् है।
सन्तति	लम्बी शृंखला या प्रवाह रूप से चलने वाली परम्परा।
संवर	कर्म-पुद्गलो का निरोध करने वाली आत्मा की अवस्था।
संसार-मोक्ष	सासारिक दशा से मुक्त होने की स्थिति।
सपर्यवसित	देखें, अपर्यवसित।
सप्रदेशी	जिसके "प्रदेश" होते हैं, वे सप्रदेशी कहलाता है। देखे, प्रदेश।
समय	काल का सूक्ष्मतम अविभागी (अविभाज्य) अंश "समय" कहलाता है। असख्यात समयो की एक आवलिका होती है। देखें, आवलिका।
समय-क्षेत्र	मनुष्य-लोक। लोक के जिस हिस्से मे व्यावहारिक काल (दिन, रात आदि) होता है, वह क्षेत्र समय-क्षेत्र कहलाता है।
समुदाय	बौद्ध दर्शन मे प्रतिपादित आर्य-सत्यों मे दूसरा।
साधन	जिससे लक्ष्य प्राप्त किया जाता है।
साध्य	जिसे प्राप्त करना है, वह लक्ष्य।
स्कन्ध	परमाणुओ के एकीभाव को स्कन्ध कहते हैं। दो

	परमाणुओ के मिलन से बनने वाला स्कन्ध द्वि-प्रदेशी स्कन्ध कहलाता है। इसी प्रकार असख्यात प्रदेशी अनन्त प्रदेशी स्कध होते हैं।
स्थावर	ससारी जीवो का एक प्रकार जिसमें चलने-फिरने की क्षमता नही है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पतिकाय के एकेन्द्रिय जीव अपने स्थान पर स्थित रहने के कारण स्थावर कहलाते हैं।
स्थावर-नाड़ी	त्रस-नाडी के अतिरिक्त लोक का भाग स्थावर नाडी कहलाता है। देखें—त्रसनाड़ी।
स्थिति	जब कर्म बधते हैं तो उसी समय इनकी स्थिति (कालावधि) भी निर्धारित होती है, उसे "स्थिति" या स्थिति-बध कहा जाता है। जितनी स्थिति होती है, उतने समय तक वे कर्म जीव के साथ रहते हैं, बाद मे आत्मा से अलग हो जाते हैं।
स्यात्	इसका अर्थ है "किसी एक अपेक्षा से"। यह अव्यय है, जो स्याद्वाद मे प्रयुक्त होता है।
स्वयजात	अपने आपसे आविर्भूत, किसी अन्य के द्वारा बनाया हुआ नही।
स्वसवेदन प्रत्यक्ष	जो प्रत्यक्ष ज्ञान केवल आत्मानुभूति का ही विषय बन सकता है, वह स्वसवेदन प्रत्यक्ष है। उसे दूसरो को अनुभव नही कराया जा सकता।
हान	बौद्ध दर्शन मे प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द जिसका अर्थ है—मोक्ष।
हेतुगम्य	जो किसी हेतु या तर्क द्वारा जाना जा सकता है।
हेय	छोडने योग्य, अहितकर। देखें, उपादेय।